राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

विजय वर्मा
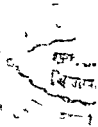
अभिव्यंजना, नयी दिल्ली

प्रकाशक अभिव्यंजना
109/48 पंजाबी बाग
नयी दिल्ली-110026

मूल्य रु० 60/-

प्रथम संस्करण 1985

कला हरिप्रकाश त्यागी

मुद्रक अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली 110032

---

SAROKARON KE RANG (Essays on life art and culture by Vijay Verma)
First Edition 1985
Price Rs 60/-

# आमुख

इस सग्रह की रचनाएँ जीवन और कला के साथ मेरे सरोकारो को प्रतिबिम्बित करती हैं। इनमे से अधिकाश या तो रेडियो से प्रसारित हुई थी या फिर सगीत और नाटक विषयक मेरे स्तम्भों के अन्तगत प्रकाशित हुई थी। इस कारण इनमे से कुछ का "डेटेड" लगना सम्भव है। विभिन्न स्वतन्त्र रचनाएँ होने के कारण कही कही किंचित दोहराव भी है।

मेरा मानना है कि कला मनुष्य के मनुष्यत्व से उपजती है और उस मनुष्यत्व को सहारा देती है। कला सुरुचि और सुगध से युक्त निष्णातता या लाघव है। जेबकट की हाथ की सफाई मे भी लाघव है, बस सुगध नही है। हाँ, कला की सुगध से तात्पय मनभावनी या ठकुर सुहाती मात्र से नही है। मण्टो की कहानियाँ भी कला कृतियाँ हैं। कला की उपयोगिता ठेठ नही, परोक्ष है।

पेशा कोई भी क्यो न हो, कला का ही क्यो न हो, मनुष्य को दायरे मे बाँधता है हालांकि दायरे का अनुशासन और दायरे मे की गई एकान्त साधना ही दूर तक ले जाते हैं और समाज के चलने के लिए जरूरी उद्यमो को जुटाते हैं। लेकिन यह उद्यम नितान्त मशीनी, उसको करने वाला नितान्त मानव निरपेक्ष और यह एकान्त साधना नीरस न हो जाय इसके लिए जिन्दगी के अन्यान्य पहलुओ और कला के रगो के साथ सरोकार जरूरी है।

ये छोटी-छोटी रचनाएँ मेरी ऐसी ही निजी कोशिश का नतीजा हैं। मुझे उम्मीद है ये समाज की चेतना और कला सम्बन्धी उसके सोच को प्रखर करने मे कुछ सहायक होगी।

# अनुक्रमणिका

खण्ड एक

# जीवन, समाज और धर्म

## हँसते-हँसते जीना[1]

एक साहब फिलासफर होना चाहते थे।

लेकिन उनकी कठिनाई उन्हीं के अनुसार, यह थी कि उन्हें हँसी आ जाती थी।

ऐसा फिलासफर या विद्वान् भगवान् हम में से किसी को न बनाये।

किसी ने पूछा स्टालिन और गांधी में आखिर अन्तर क्या है ?

स्टालिन तानाशाह है, लाखों-करोड़ों से डण्डे के बल अपनी बात मनवा सकता है। लेकिन गांधीजी कौन कम हैं ? उनकी बात करोड़ों मानते हैं और कितने ऐसे माई के लाल हैं जो उसे टाल जाएँ ?

फिर, क्या अन्तर है गांधी और स्टालिन में ?

यही कि गांधीजी हँस सकते थे, स्वयं की गलतियों और कमियों पर ठहाका लगाकर मुक्त रूप से हँस सकते थे, स्टालिन से ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी।

जो हँस सकता है, वह मित्र बनाने योग्य है, उसका विश्वास किया जा सकता है। जो हँस नहीं सकता, वह दुखी तो है ही, खतरनाक भी है क्योंकि शायद वह दूसरों को भी दुखी देखना चाहता है।

हँसना एक नियामत है और जो इस नियामत से वंचित है वह दया का पात्र है। समाज में बहुत-सा खून-खराबा और झगड़ा टण्टा इसीलिये होता है क्योंकि हममें अक्सर हास्यप्रियता और हास्य की क्षमता की कमी होती है और जहाँ खुलकर हँसने की जरूरत होती है, हम भृकुटि तानकर और डण्डा लेकर पिल पड़ते हैं, छोटी-छोटी बातों को प्रतिष्ठा और सम्मान का प्रश्न बना लेते हैं।

यह मूर्खता नहीं तो और क्या है कि बच्चों के झगड़ों में बड़े बच्चे बन जाते हैं जबकि बच्चे थोड़ी देर बाद ही फिर हँसी-खेल में लगकर झगड़ा भूल जाते हैं। उधर उनके अग्रज और समझदार समझे जाने वाले बड़े लोग हैं जो साला छोटी-छोटी बातों को पालते-पोसते हैं, चेहरा को थोबड़ा की तरह लटकाये रहते हैं और मामूली मामलों के अण्डों को जनन से सेकर झगड़े-टंटों के चूजे पैदा करते हैं।

---

1 'राजस्थान पत्रिका'

एव वार एव व्यक्ति जल्दी म विमी स टकरा गया। जल्दी थी इसलिए
ज्यादा वात वा समय नहीं था। वह वाला—महाशय, यदि इसम मरी गलती थी
तो कृपया क्षमा वरें ग्रौर यदि ग्राप गलती पर थे ता चिन्ता न वरें, ग्रौर ग्राग वढ
गया।

वितना ग्रनुवरणीय उदाहरण है? लेविन खेद है वि हमम स वहुत वम
इसको ग्रपनाते हैं।

यही नही। जो हँस सवता है वह पराजय म भी हास्य वी सष्टि वर लेता
है ग्रौर इस तरह पराजय भी जीत मे वदल जाती है। इसवे विपरीत हर चीज
मे वारीवी से मानापमान वी वात विचारने वाला व्यक्ति हर समय उद्विग्न ग्रौर
चिडचिडा रहता है ग्रौर जीतने वी तो क्या, विसी भी वात वी खुशी उसवा नहीं
होती।

एक विस्सा है। शामत वा मारा एक व्यापारी शहर वे चुनावा म खडा हो
गया। चुनाव वा परिणाम निकला ता पता चला वि उसे कुल तीन वोट मिले
थे। ग्रगले दिन जब वाजार खुला तो व्यापारी वी दुकान पर एक वडा-सा नोटिस
टगा था भाइयो, क्या ग्राप कृपा वरके मुझे उन तीन वेवकूफा के नाम वतायेंगे,
जिन्होने मुझे वोट दिये?

विस्सागो वहता है वि शहर हँस ता ग्रब भी रहा था लेविन ग्रब वह उस
हारे हुए व्यापारी पर नही उसके साथ हँस रहा था।

लायड जाज भाषण दे रहे थे। एक विरोधी बोला—महाशय, भूल गये क्या
ग्रापके पूवज गधा गाडी चलाया वरते थे। बिल्कुल नही भूला, महाशय लायड
जाज हँसते हुए वाले, क्योंवि गाडी ता ग्रब भी मेरे घर पर खडी है, गधा गायब
था सो ग्राज यहाँ मिल गया।

ग्रौर वह विस्सा तो ग्रापने सुना ही होगा कि दो प्रसिद्ध व्यक्ति ग्रौर प्रति
द्वन्द्वी कीचड से भरी सडक के विनारे की सवडी पगडण्डी पर ग्रामने-सामने से ग्रा
रहे थे। एक पास ग्राकर गुर्राया मैं दुजनो के लिए कभी माग नही छोडता।
लेविन मैं छोड देता हूँ, दूसरे ने कहा ग्रौर माग दे दिया।

वहिये कौन जीता?

हँस सकने वाला सदा जीतता है चाहे वह लडाई जिन्दगी की कठिनाइया के
खिलाफ हो चाहे प्रतिद्वन्द्वियो के।

सुकरात की पत्नी वडी झगडालू थी। एक दिन वकते झकते सुकरात की
वीवी जब थक गई तो निर्विकार बैठे सुनते पति के ऊपर एक वाल्टी पानी लाकर
उलट दिया। सुकरात वोले—ठीक है भई, पहले वादल गरजे फिर पानी वरसा।

सन्त तुकाराम एक बार घूमकर लौटे तो हाथ मे सिफ एक गन्ना था। क्रोध
मे उनकी वीवी ने गन्ना तडाक से उनकी पीठ पर दे मारा। गन्ना दो टुकडे हो

गया तो तुकाराम वाले—ठीक किया भागवान वैसे भी तेरे मर खाने के लिए मुझे इसके दो टुकड़े करने पड़ते।

आचार्य क्षितिमोहन सेन एक बार देर रात गये घर लौटे तो पत्नी का क्रोध भरा पाया। जब पत्नी ने खाना लाकर रखा तो आचार्य ने थाली उनके सिर पर रख दी। पत्नी भन्नाई—यह क्या करते हो? कुछ नहीं, खाना ठण्डा है और तुम्हारा माथा गरम खाना गरम कर रहा था—आचार्य ने उत्तर दिया।

एक सज्जन किसी मसले पर पण्डित नेहरू से उलझ रहे थे अपनी बात मनवाने के लिए। अन्त में खीजकर बोले पण्डित जी आप भूल रहे हैं कि हर मसले के दो पहलू होते हैं। तो आप शायद इसी लिए गलत पहलू पर अड़े हुए है नेहरूजी ने कहा और बात हँसी में समाप्त हो गई। मालवीय जी को एक नवाब से दान में जूता मिला वे उसे काशी में नीलाम करने को उद्यत हो गये तब नवाब साहब ने कई हजार देकर अपना जूता वापस ले लिया।

यह है जीवन को हँसी-खुशी से जीने का ढंग कठिन परिस्थितियाँ, क्रोध में भरे और दुर्जन लोगों से भी हँसते मुस्कराते निपटने की कला।

विचार करके देखें तो लगेगा कि अधिकतर पुरुष जिनसे संसार का कल्याण हुआ है शुद्ध निर्विकार भाव से हँस सकने की क्षमता रखते थे। गांधीजी का जिक्र ऊपर आया है। लिंकन की हास्यप्रियता भी मशहूर है। एक बार वे अपने जूता पर पालिश कर रहे थे। किसी ने आश्चर्य प्रकट किया मिस्टर राष्ट्रपति क्या आप अपने जूते साफ करते हैं? जी हाँ, मुस्कराकर लिंकन बोले और आप किनके जूते साफ करते हैं?

प्रेमचन्द जिन्दगी-भर बीमार रहते हुए गरीबी और अभाव से जूझते रहे लेकिन कैसी उन्मुक्त और निश्छल हँसी हँसता था वह कलम का सिपाही।

जनार्दन राय नागर लिखते है कि किस प्रकार दिल्ली में एक कवि सम्मेलन से देर रात गये लौटते समय प्रेमचन्द कवियों की भंगिमाओं और मुद्राओं को याद कर-करके सड़क पर हँसी के मारे दुहरे हुए जा रहे थे एक-एक तुक्काड़ के नाज-नखरे ले लेकर यह दुखी, दुखी प्रेमचन्द हँस रहा था। हँस रहा था, जैसे सारा जीवन एक मस्त हास्य हो आनन्द की एक तरंग हँसे तो हम भी रहे थे, पर हमारे मन मानो सीकचों में बन्द मुँह झलका रहे हों—और इस साहित्य के होरी को तो देखो जैसे प्रतिपल एक नई हँसी हो।

गांधीजी ने अहिंसा का मार्ग अपनाया। लेनिन ने लोहे और रक्त का। परन्तु लेनिन के दिल में भी गरीब और सन्त्रस्त लोगों के लिए उत्कट सहानुभूति थी और उन्होंने करोड़ो लोगों का सामन्तवाद से मुक्ति दिलाई। और इन्हीं लेनिन के बारे में गोर्की लिखता है कि मैंने लेनिन जैसी संक्रामक हँसी किसी और की नहीं देखी अजीब बात थी कि इतना कठोर यथार्थवादी और शोषण से इतनी

उत्कट घृणा करने वाला व्यक्ति बच्चो की तरह इतना हँसता था कि गला रुँधने लगता था, आँखो मे आँसू आ जाते थे और इसके बाद गोर्की लिखते हैं, और बहुत ठीक लिखते हैं कि इस प्रकार हँस सकने के लिए एक बहुत स्वस्थ और शक्तिशाली मानस की जरूरत होती है।

इसके विपरीत हिटलर था जो अन्दर-ही-अन्दर सुलगता रहा और जिसने ससार मे भी आग लगा दी। नेपोलियन भी घुन्ने स्वभाव का और अन्तर्मुखी प्रवत्ति का था और उसने भी अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए यूरोप के लोगो की जान साँसत मे कर दी। यह तो कोई कह ही नही सकता कि हिटलर और नेपोलियन अदभुत शक्तियो के स्वामी नही थे, एक विशेष अर्थ मे वे निश्चय ही महान् थे। लेकिन उन्होने अपनी सामर्थ्य का उपयोग मनुष्य की भलाई के लिए नही किया और शायद इसका कारण यह भी था कि वे जिन्दादिल कम थे।

इसीलिए जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है। हँसिये और खूब हँसिये। शर्त सिर्फ तीन हैं—हँसी मुखौटा न हो दुश्मनी के मुह पर पडा झूठा नकाब न हो, हँसी ऐसी न हो कि दूसरा सुनकर रोये, साथ न हँस सके, हँसी जिन्दगी से पलायन, असलियत से दूर भागने का नाम न हो।

जिन्दगी सग्राम तो है ही लेकिन उसे हम धर्मयुद्ध बनायें, गाली गलौच वाला सस्ता फसाद नही। और इस धर्मयुद्ध को हम हँसते हँसते लडें, मुह लटका कर नही, मनहूसियत से नही।

## जिन्दगी सिखाती है

१

जीवन मे अक्सर ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो स्वय मे छोटी होते हुए भी बहुत कुछ सिखा देने की क्षमता रखती हैं। यहाँ मैं अपने साथ घटी ऐसी ही कतिपय घटनाओ का जिक्र करूँगा जिन्होने मुझे सोचने पर मजबूर किया और जिनके माध्यम से मैंने कुछ सीखा। इस लेख का आशय यह नही है कि मनुष्य गलती करने की प्रक्रिया से एकदम मुक्त हो सकता है—शायद ऐसा होना इस ससार मे रहते हुए असम्भव है—और यह तो कदापि नही कि मैं इस प्रक्रिया से बाहर चला गया हूँ या उन दोषो से पूर्णत मुक्त हो गया हूँ जिनकी ओर इन घटनाओ ने उँगली उठाई। मेरा तात्पर्य तो केवल यह है कि यदि हम यदा-कदा इन बातो पर तटस्थ रूप से विचार कर लिया करें तो हो सकता है कि हम अपने व्यक्तित्व सम्बन्धी कई समस्याओ का उत्तर पा जायें और एक ही गलती

को बार बार न करें।

घटना अजमेर की है। हाल ही में एक अच्छी नौकरी दूसरी बहतर नौकरी के लिये छोड़ी थी। मन में घमण्ड था। पिताजी ने मेरे पीछे एक अटैची खोल बनवाने के लिये दुकान पर दे रखी थी। तय हुआ कि बाजार से लौटते समय वह अटैची मैं लेता आऊँगा। दुकान पर पहुँचा तो दुकानदार ने अटैची देने से इन्कार किया—हम आपको नहीं पहचानते। मुझे बुरा लगा। समीप की एक रेडियो की दुकान पर ले गया। परन्तु मेरी जानपहचान वाले दुकानदार वहाँ से चले गये थे। दुकानदार से कुछ और आगे चलने को कहा जहाँ मेरी जान पहचान के एक अखबार विक्रेता की दुकान थी। परन्तु उस भले आदमी ने जाने से इन्कार कर दिया। दुष्टता से बोला अब क्या हम आपके साथ साथ सारे शहर का चक्कर लगायेंगे। मुझे बहुत जोर से क्रोध हो आया और जो मैंने उससे कहा उसका आशय था कि मैं एक बड़ा आदमी तो इतनी दूर से अटैची लेने आया हूँ और वह दस कदम नहीं चल सकता। आप समझ ही गए होंगे कि मुझे क्या उत्तर मिला। यही कि बड़े आदमी हो तो अपने घर के, मुझपर क्या रौब दिखाते हो। लौट आया अपमान की आग में जलता भुनता। बाद में सोचा तो अपनी गलती नजर आई। मैं क्या गया अटैची लेने बिना परिचय पत्र लिखवाये?

अक्सर ऐसा होता है। सामान जिनसे मंगवाना होता है वह सोचते हैं कि नाम लेना ही काफी होगा और सामान वाले को पुर्जा लिखवाने में कि अमुक अमुक को अमुक चीज दे दें शर्म लगती है। परन्तु ऐसा क्यों हो? हर हालत में ऐसा पत्र लिखवा लेना अच्छा होता है फिर चाहे उसकी जरूरत पड़े या न पड़े। और रही बड़ा आदमी होने वाली बात तो कौन बड़ा है या नहीं इस प्रश्न को यदि छोड़ दें तो भी स्वयं कहकर और जताकर बड़प्पन मनवाना एक निहायत भोंडी बात है।

तुनकमिजाजी में लाभ नहीं। दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं और यही उनकी चेष्टाओं से व्यंग्य और अनादर तो नहीं झलकता हमारे प्रति निरन्तर इसी उधेड़-बुन में लगे रहने से भी काम चलने वाला नहीं है। जोधपुर का जिक्र है। बाईस वर्ष पहले का। रात को घूमकर लौट रहा था सड़क सुनसान थी। मेरी सैंडल जैसा अक्सर जूतों के साथ होता है एक विचित्र सी चूँ चूँ की आवाज करती थी हर कदम पर। मेरे आगे आगे एक लड़का जा रहा था। मैंने ध्यान दिया तो लगा कि अपने मुँह से रह रहकर चूँ, चूँ चूँ करता चल रहा है। आपको हँसी आ रही है न? मुझे भी आनी चाहिए थी। आई नहीं। आगे बढ़कर उसके पास पहुँचा। अपनी जान बड़े डरावने शब्दों में बोला मार खानी है क्या? वह दुष्ट बड़ा भोला बनते हुए बोला, क्या? मैंने कहा भला चाहते हो तो यह हरकत फिर मत करना। लड़के ने मुझे सिर से पाँव तक देखा और रुक गया। मैं खुश था कि डाँट दिया। लड़का सौ कदम आगे जाकर बायें मुड़ा और एक मकान में घुसने से

पहन कई बार चू, चू चू चू बोला और गायब हो गया।

म मार्च में जबलपुर गया था और नर्मदिया की बस म सामान रख चुका था। चलने म दो-तीन मिनट की देर जानकर लघुशका से निवृत्त होने उतर गया। बस-स्टेशन के सडास म गया। हस्बमामूल वहाँ गदगी थी और था अँधेरा। कुछ बस की जल्दी, कुछ पेंट पहने, कुछ अँधेरे मे पाव गदे न हो जावें, यह ख्याल—काफी पीछे खडे-खडे ही निवृत्त होने लगा। उसी समय एक दूसरे सज्जन आये इसी काम म, और मुझसे कहने लगे दखिये, यह ढग गलत है। क्या आप नहीं जानते कि दूसरे लोग यहाँ बैठकर निवृत होते हैं और आप उनके बैठने का स्थान गदा किये दे रहे हैं? मुझे झुँझलाहट आ गई। बोला, आपने ठेका ले रखा है क्या लोगो को ठीक और बठीक बताने का? जैसा स्वाभाविक था, इस पर वह सज्जन भी ताव खा गये और बहस शुरू हो गई। मैं बसग्री के साथ उन्हें अपने काम का औचित्य समझाने लगा। मगर नतीजा क्या निकलना था सिवा कटुता के लेन देन के। तभी ध्यान आया अरे! बस! भागकर जैसे-तैसे छूटती हुई बस को पकड़ा। मन कड़वा हो आया मूड खाफ हो गया।

इस प्रसग से दो बातें मैंने सीखी। एक तो यह कि बेकार के बहस-मुबाहिस म नुकसान ही नुकसान है, फायदा कुछ नहीं। शब्दो और तर्कों को यहाँ-वहाँ लापरवाही से फेंकते रहना, और वह भी कटुता के घातक जहर म उन्हें बुझाकर बुद्धिमत्ता नहीं है। दूसरे यह कि अपनी गलती को स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर होता है। यदि उन सज्जन ने मुझे टोका तो क्या बुराई की? यदि मैं नम्रता से सिर्फ इतना कह देता क्षमा कीजिये, गलती हुई तो क्या अच्छा नही रहता! लड़ने का मौका हो तो खूब लडे आदमी। मैं भी लडा हूँ। लडने लायक मसले पर जमकर लडने से व्यक्तित्व म पूर्णता और दृढता आती है। लेकिन मामूली बातों पर महाभारत रचना मूर्खता है।

इसी तरह से छिट-पुट बातो को लेकर और भावना मे बहकर हम अक्सर जल्दबाजी मे ऐसे सोचने के ढग बना लेते हैं जो अधिकतर गलत होते हैं आधार हीन और पक्षपातपूर्ण 'जैनरलाईजेशन्स' होते हैं। अजमेर म हमारे पडोस म कुछ पजाबी परिवार रहते थे। हमारी वृद्धा मकान मालकिन की मृत्यु हुई। हम सब उन्हीं के मकानो म रहते थे और स्वर्गीया कुछ तेज-तर्रार भी थी। परन्तु जब उस दिन दोपहर मे इन परिवारो म रेडियो का बदस्तूर जोर जोर से बजते सुना तो मन को बुरा लगा—कैसे भावना हीन हैं यह लोग! इसी तरह की कुछ और बातें जुड गइ और मैंने पजाबियो के बारे मे एक धारणा बनाली। बात फूटी जाकर श्रीनगर मे एक दिन। हम छ साथी एक कमरे में ठहरे थे। बातो-बातो म मेरे मुह से निकला—यह असभ्य पजाबी! मेरे एक मित्र जो स्पष्टवक्ता हैं, चुप न रह सके और, जैसे तमाचा जडा हो ऐसे बोले, क्यो नहीं सभ्यता का ठेका तो आपने

ले रखा है न ! बात कडवी थी, बहुत कडवी और, अप्रत्याशित भी। परन्तु मुझे बुरा नही लगा। एकदम जैसे भ्रांति का परदा हट गया और अपनी गलती स्पष्ट दीखने लगी। उस दिन से आज तक पजाब की सास्कृतिक उपलब्धियो के ढेरो उदाहरण मेरी दृष्टि मे खुलते रहे है, वहाँ की जीवत ज़िन्दगी के कई पहलू मनको भाए हैं। कारण क्या है ? यही न कि एकागी और अपूर्ण अनुभव को लेकर चल पडा था। पूर्वाग्रहो के चश्मे चढाये हुए था। बडी भलाई की मेरे दोस्त ने मेरे साथ।

कुछ ऐसी ही "प्रेजुडिस" मिलिट्री के लोगो को लेकर मुझे हो गई थी। मै स्वभाव म स्वच्छन्द हूँ। कोई काम सिर्फ इस लिए करना कि वैसा आडर है, मेरे स्वभाव के विपरीत पडता था। मिलिट्री म मैने देखा कि आडर चलता है और आडर अधा है बहरा है। 'डिसिप्लिन" की देवी की पूजा होती है और मनुष्य की कोमल अनुभूतियो का अर्घ्य उसे चढाया जाता है। मौके की बात कुछ ऐसे अफसरो स परिचय हुआ जो कुछ कुछ 'क्रूट" लगे बात-बेबात चिल्ल पुकार मचाने वाल। और मैंन झट से मत बनाया कि मिलिट्री वाले कठोर, बनावटी असन्तुलित होते है, सवेदना से अपरिचित, भावना से बगाने। बाद म मित्रो से बातचीत हुई और आगे देखा, परखा सोचा। अपन विचारो का एकागीपन समझ म आया, अनुशासन का औचित्य नजर आया कठोरता के अन्तराल म बसने वाली कोमलता का आभास मिला, समझा कि सिपाही भी स्नेही भाई, प्रेमी पति और वफादार दोस्त होता है।

अजमेर म ही एक छोटी सी, पुरानी किताबो की दुकान थी। एक वद्ध वहा बैठते थे। मुझे एक समय 'रीडस डाइजेस्ट के पुराने अक इकट्ठे करने का जुनून था। उस दुकान पर जाकर कोई बीसेक पुरानी प्रतिया छाटी। दामो की बात चली। वद्ध न शायद पाँच आना प्रति डाइजेस्ट लगाया, मैं चार आने देना चाहता था। मुझे ज़िद हो गई। बीसो का बण्डल पटककर आने लगा। वद्ध रुआसा हो गया रुआसा लेकिन क्रोधित। अनाप शनाप बोला, मैं जानता हूँ आपको कोई काम धाम नही इसलिय बेकार वक्त काटने की गरज से यहा आते हैं। आक्षेप का एक अश गलत था, म सकडो की पुस्तकें खरीदता आया था। दूसरा सही-उस समय तक मरी नौकरी नही लगी थी। मुझे मर्मान्तक पीडा हुई। लेकिन बाद म मुझे लगा कि मैन उस बेचारे को तो दुख पहुँचाया था सौदे की आशा दिलाकर निराश किया था, उसकी तुलना म तो उसन कुछ भी नही किया। क्या लाभ है ऐसी कृपणता या सैद्धान्तिकता का जिसकी खातिर हम चन्द पैसो के लिए झगडा करते हैं स्वय अपना दिमाग अशान्त करते है और सामन वाला को, जो शायद गरीब और ज़रूरतमन्द हैं, पीडा पहुँचाते है।

आप सोचते होगे कि मुझे यह सब लिखने का ध्यान क्यो और कैस आया ? बताता हूँ। अभी कल शाम को कस्बे म होकर घूमने जा रहा था (यह कल आज

से चौबीस वष पहले का है) टाई थी, कोट-पैण्ट थे। एक छोकरा मिला, दस-बारह का। थाली मे मिट्टी भरकर घर ले जाते ले जाते रुक गया, गाया, "टाई लगाके लाला बन गये जनाब हीरो," मेरी ग्रोर देखते हुए गा रहा था। शायद कुछ विशेष सोचकर भी नहीं गाया था। परन्तु टाई ग्रौर धी यहाँ ग्राम-पास ? ग्रौर ध्यान कैसे ग्राया इसे इस ग्रालाप का ? क्रोध ग्राने का हुग्रा कि हँसी ग्रा गई। जोधपुर याद ग्रा गया। एक शिक्षा काम ग्रा गई।

## हिन्दू-समाज, स्वामी दयानन्द ग्रौर ग्राज की चुनौती[1]

मध्य युग के बाद से पिछले एक हजार साल का इतिहास हिन्दू धम व समाज के पतन का इतिहास रहा है। यह पतन सभी क्षेत्रो म था लेकिन इसका मूल धम मे था। हिन्दुग्रो मे हमेशा से पुरोहित व धम का बड़ा महत्त्व रहा है। समृद्धि के युग मे पुरोहित का महत्त्व ग्रौर भी बढ़ गया। धनै धनै पुरोहितो ने ग्रपने स्वाथवश धम को कमकाण्ड से बोझिल कर दिया ग्रौर हिन्दू धम के मूल स्वरूप व मूल ग्रन्थो को पीछे ढकेलकर नई पद्धतियो व नये ग्रन्थो की रचना की ग्रौर चूकि हिन्दुग्रो के सभी कायकलाप धम से ग्रनुशासित थे इसलिए यह मिलावट जीवन के सभी क्षेत्रो मे फैल गई। धम के कूप से रोग के कीटाणु सारी बस्ती में पहुच गये।

इसीलिए जब मुसलमान हिन्दुस्तान म ग्राए तो हिन्दू जाति उनके सामने टिक न सकी ग्रौर उसकी शक्ति रणक्षेत्र म पराजित होकर दश के सुदूर कोनो मे सिमिट गई। फिर इस पराजित जाति को पुरोहितो ने पलायनवादी ग्रौर परलोकवादी बना दिया ग्रौर उसको सामाजिक बुराइयो से जकड दिया। ग्रनेक महान योद्धा धम-प्रचारक, सन्त ग्रौर लेखक हुए, लेकिन कुल मिलाकर हिन्दू समाज की गति नीचे की ही ग्रोर रही। वासना की मूर्तिकला, शृगार की कविता, रासलीला ग्रौर चीरहरण जसी धमकथायें, कशीदाकारी से भरी हुई टीकाए, स्त्री शिक्षा का निषेध, बाल विवाह बहु विवाह, सती प्रथा ग्रौर पर्दा तथा स्त्रियो का गिरा हुग्रा दर्जा, समुद्र यात्रा व विदेशियो से सम्पक का निषेध मन्दिरो मे व्यभिचार व देवदासियो का प्रादुर्भाव, वाममाग व तान्त्रिक पन्थो का उदभव, छूतछात व परलोकवाद के प्रति ग्रन्ध ग्रास्था य सब इसी व्यापक पतन के परि-

1 सरिता मे प्रकाशित

चायक हैं। यहां तक कि मध्ययुग में भक्ति आन्दोलनों का मूल स्वर भी सौम्य, समझौतावादी और पलायनवादी था, न कि क्रान्तिकारी, विद्रोही और सुधारवादी। वैसे भी इन सन्तों और प्रचारकों के पीछे उनके अनुयायियों ने नई-नई धार्मिक जागीरें बना लीं और जो कूड़ा कर्कट साफ करने गये थे उनके नाम पर एक-एक घूरा और बढ़ गया (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। कुल मिलाकर इस पूरे काल में हिन्दू जाति के कन्धों पर पुरोहित वर्ग सिदवाद के बूढ़े की तरह सवार रहा और उसकी आँखों पर रूढ़ियों और कर्मकाण्ड की काली पट्टियाँ चढ़ी रहीं। धर्म कर्मकाण्ड में सिमट आया और सामाजिक जीवन रूढ़ियों में। हिन्दू-समाज आत्मसुरक्षा के लिए एक खोल में बन्द होकर शायद विनाश और विघटन से बच गया लेकिन उसके विकास के रास्ते रुक गए।

यही कारण है कि जब मुगलों का पतनकाल आया और राजपूत, मराठे और जाट शक्तिशाली हुए तो वे इस अवसर का तनिक भी लाभ न उठा सके। मराठा कृपकों का उद्भव महाराष्ट्र के पण्डितों से नहीं देखा गया। उनके शासनकाल में कला और संस्कृति के नाम पर कुछ भी न हो सका। और जब अंग्रेज आए तो एक एक करके ये सभी हिन्दू शक्तियां पराजित होती गईं। इसका कारण भी हमें हिन्दू-समाज व धर्म की उसी व्यापक गिरावट में ढूंढना पड़ेगा जिसके चलते सेनाओं द्वारा जीती गई लड़ाइयां केवल क्षणिक महत्त्व रख सकती हैं, साम्राज्यों की आधारशिलाएँ नहीं बन सकतीं।

अंग्रेजी शासन में पहला दौर ईसाइयत का चला। अंग्रेज और स्वयं हिन्दू भी यह मानकर चलते थे कि हिन्दुस्तान में रखने जैसा कुछ भी नहीं है। ब्रह्म-समाज इसी अस्वीकार के दौर की चीज थी हालांकि वह भी बाद में कई मनोवृत्तियों में से गुजरा। उसके बाद स्वयं अंग्रेजों ने हिन्दू-धर्म और संस्कृति की छिपी हुई महानताओं का अन्वेषण शुरू किया और स्वयं हिन्दुओं के आत्मगौरव ने उन्हें ललकारा। तब सुधार स्वीकार वाले कई आन्दोलन उठे जिन्होंने बुराइयां को भगाते हुए भी मूल रूप में हिन्दुत्व को स्वीकार करके उसे गौरव और आदर दिया। रामकृष्ण सन्त थे लेकिन उनके शिष्य विवेकानन्द ने जागृति व समाज-सुधार का मन्त्र फूंका। एनीबीसेंट ने थियोसोफी के जरिये हिन्दुत्व को लगभग पूर्ण स्वीकृति दी और हिन्दुओं को अपने धर्म पर गर्व करने के लिए कहा। स्वामी दयानन्द ने इन दोनों से ही आगे बढ़कर पुरोहितवाद व कुरीतियों पर सीधा आक्रमण किया और सम्पूर्ण विकृतियों को फलांगते हुए सीधे वैदिक शुद्धता का आधार बनाकर आर्यसमाज का प्रचण्ड सुधारवादी आन्दोलन चलाया।

स्वामी दयानन्द सन्त नहीं थे, योद्धा थे, "क्रूसेडर" थे। उनका व्यक्तित्व इन्हीं कारणों से आधुनिक इतिहास में अकेला है। हिन्दू धर्म उनसे पहले बराबर संकुचित होता आया था, दबता गया था। स्वामी दयानन्द ने इस दैन्य और

पलायन को ठोकर मारकर धर्म प्रचारकों को ललकारा और उन दिनों की भूली हुई याद ताजा की जब हिन्दू धर्म इतना जीवन्त था कि शक, कुषाण और हूण सभी इसमें मिलकर हिन्दू बन गये थे और जब उसने हिन्दुस्तान की सीमाओं के बाहर आकर रोम, मिस्र, हिन्दचीन और इण्डोनेशिया तक अपनी सभ्यता और व्यापार के परचम लहराये थे। सौम्य और दब्बू (टिमिड) समझे जाने वाले हिन्दू से ऐसी आशा किसी को न थी और इसी कारण जीवन भर दूसरे धर्मों के प्रचारकों ने स्वामी दयानन्द को बदनाम किया और अंग्रेज इतिहासकारों ने उनके महत्त्व को भरसक कम करके दिखाने की कोशिश की।

वक्त आ गया है कि स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और कार्यों का सही मूल्यांकन किया जावे। स्वामी दयानन्द आधुनिक युग के पहले हिन्दू थे जिन्होंने हिन्दुत्व के ध्वस्त प्राण गौरव को सहारा दिया हिन्दी भाषा के महत्त्व को पहचाना और बाद में चलने वाले राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संग्राम के लिए फिज़ाँ तैयार की। उनकी जो बातें आज हमें कुछ अजीब लगती हैं उनके निश्चित कारण थे। हिन्दू समाज पर पुरोहितवाद, उसके नीचे ग्रन्थ व कर्मकाण्ड इस कदर हावी हो गए थे कि बिना सीधी लड़ाइयों और शास्त्रार्थों के, बिना वैदिक शुद्धता का नारा उठाये और बिना एक भिन्न प्रकार का कर्मकाण्ड रचे हिन्दू समाज का ध्यान एक ओर पण्डा पुजारियों रासलीलाओं और पुराणों से और दूसरी ओर इस्लाम तथा ईसाई मत के प्रचारकों और अंग्रेजियत की चकाचौंध व उसके अनुसरण से मिलने वाले ईनामों के लालच से हटा पाना असम्भव था। कुरीतियों के रेगिस्तान में तेज और सीमित बहकर ही सुधार की धारा दूर तक जा सकती थी।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद भी आर्यसमाज ने उनके कार्य को जारी रखा। स्त्री उद्धार, अछूत उद्धार और शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज ने ऐतिहासिक भूमिकायें अदा की हैं। उसने देश को व स्वतन्त्रता संग्राम को अनेक महान विचारक नेता और योद्धा दिए हैं और विशेषकर विभाजन के पूर्व के पंजाब में उसका बड़ा महत्त्व था।

लेकिन इस सबके बावजूद एक तटस्थ प्रेक्षक यह कहने को मजबूर है कि सम्पूर्ण हिन्दू-समाज के सन्दर्भ में राममोहन राय से लेकर गांधीजी तक के इन महापुरुषों और ब्रह्मसमाज से लेकर साधूसमाज तक के सुधार-आन्दोलनों को केवल आंशिक सफलता ही मिली है। आज भी हिन्दू समाज गिरा हुआ और टुकड़ों में बँटा हुआ है और निरन्तर विघटन के मार्ग पर अग्रसर है। सच पूछ तो उसकी स्थिति विचित्र है। एक ओर तो वे लोग हैं जो सोचने समझने वाले और साधन सम्पन्न हैं तथा अच्छी शिक्षा प्राप्त हैं। इन लोगों में हिन्दुत्व के प्रति न तो कोई लगाव है न चिन्ता बल्कि अपने को हिन्दू मानने व कहाने में और हिन्दू समाज की कठिनाइयों के बारे में सोचने या बोलने में इन्हें शर्म लगती है। दूसरी

और जो विशाल जनसमुदाय है वह धार्मिक स्तर पर अब भी पण्डे पुजारियों के चंगुल में है और सामाजिक आचरण के क्षेत्र में अब भी पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त है।

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में जो हमारी प्रगति अपेक्षित तेज़ी से नहीं हुई है और जो आज हम जन-जीवन को विविध व्याधियों से ग्रस्त पाते हैं उनके मूल में भी हिन्दू-समाज व धर्म की यही कमज़ोरी है क्योंकि अंततः यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान कमोबेश वैसा ही बनेगा जैसे उसके हिन्दू होंगे।

यहाँ हम एक और भी आधारभूत प्रश्न उठा सकते हैं : क्या कारण है कि वैचारिक स्तर पर अपनी तमाम उपलब्धियों के बावजूद हिन्दू जाति आज गिरी हुई टूटी हुई है ? कारण यही है कि पिछले लगभग एक हज़ार वर्षों के पतनकाल के दौरान हमारे सिद्धान्तों और हमारे आचरण के बीच एक खाई गहरती गई है। बातें तो हम करते रहे मानवीं आसमान की लेकिन हमारे कर्म रहे रसातल के। यही वजह है कि जो पश्चिमी जातियाँ संस्कृति और दर्शन में हमारे कहीं पीछे थीं वे अपने अपेक्षाकृत स्वस्थ सामाजिक आचरण व व्यवहार के कारण हम पर हावी हो गईं। हमारी व्यावहारिक बुराइयाँ हमारे सारे ऊँचे आदर्शों पर भारी पड़ीं। सिद्धान्त रूप से हमने नारी को पूजनीय माना, व्यवहार में हमने उसको दासी और भोग्या बना दिया। सिद्धान्त में हमने हर मनुज को ईश्वर का रूप माना, व्यवहार में हमने अछूतों को अपने से अलग कर दिया और उन्हें मुसलमान और ईसाई बनने पर मजबूर कर दिया। और जो लोग आज भी हिन्दुत्व के मूल सिद्धान्तों और उसकी किताबों का ढिंढोरा पीट रहे हैं वे आज भी वही अफ़ीम चाट रहे हैं जिसे चाट-चाटकर हमारी यह हालत हुई है। अन्ततः मनुष्य, उसका व्यवहार उसका कार्यकलाप महत्त्वपूर्ण होते हैं न कि किताबें और सिद्धान्त। और आज हमसे अगर कोई पूछे कि हज़रत के कैसा धर्म और कैसी नैतिकता है जिसके चलते समाज में चोरबाज़ारी, मिलावट, घूसखोरी और दुराचरण पनप रहे हैं, अनुशासनहीनता और अमर्यादित आचरण बढ़ रहे हैं तो हम क्या जवाब देने वाले हैं ? कोई भी धर्म उतना ही अच्छा होता है जितने उसके अनुयायी।

अस्तु इस सन्दर्भ में देखें तो और सुधार आन्दोलनों की तरह आर्यसमाज की सफलता भी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सम्पूर्ण हिन्दू समाज के सन्दर्भ में आंशिक ही मानी जाएगी। अधिकतर उसने पंजाब और पश्चिमी भारत के मध्य वर्ग को ही प्रभावित किया और इसका कारण, जैसा के० एम० पनिक्कर ने कहा है, यह था कि उसका आधार बहुत सीमित रहा और वह वहीं पनप पाया जहाँ पारंपरिक हिन्दू धर्म कमज़ोर पड़ गया था। केवल वेदों को लेकर और उपनिषद्, रामायण इत्यादि को नकार कर, बहुत हद तक जाना सम्भव नहीं था। शिक्षा के क्षेत्र में भी गुरुकुल प्रणाली आगे नहीं बढ़ी है और आर्यसमाज के स्कूल कालेज

अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर अन्य शिक्षण संस्थाओं जैसे बनते जा रहे हैं।

असल में आज प्रश्न प्रमुख आन्दोलन की सफलता असफलता आंकने मात्र का नहीं है। आज जो प्रश्न उपस्थित है वह सम्पूर्ण हिन्दू-समाज के जीवन मरण का प्रश्न है। आज न तो हमारे पास कोई मंत्र है, न नारा, न सामाजिक क्रांति का कोई सर्वमान्य कार्यक्रम।,पुरानी पीढ़ी अपने मन उखाड़ों में मग्न है, नई पीढ़ी का धर्म और समाज की चिन्ता नहीं है और हिन्दू-समाज के भीतरी स्तर से अपरिचित है और जो सम्पन्न हैं जो वैचारिक स्तर पर क्रान्ति के अग्रदूत बन सकते थे, वे दूसरी नाना में व्यस्त हैं। अपनी अपनी ढपली, अपना अपना राग हिन्दू-समाज में सभी सम्प्रदाय और मत बजा रहे हैं। कुछ थोड़े से पढ़े लिखे व मध्यवर्ग के लोग सुधारवादी आन्दोलनों से प्रभावित हैं लेकिन हिन्दू-समाज का विशाल, थका हुआ पुराना मन-स्थल अब भी वैसा ही गफलत में पड़ा हुआ है, कुरीतियों रूढ़ियों और मान्यताओं के शिकंजे में है।

एक और भी बात है। औद्योगिक क्रान्ति और समाजवाद की नई चुनौती का भी हिन्दू धर्म के पास कोई जवाब नहीं है। हिन्दू समाज का गठन घटकों या ग्रुपों के आधार पर था। ये ग्रुप थे परिवार गाँव और पेशा या उद्योग। औद्योगिक क्रान्ति व शहरी सभ्यता इन सभी इकाइयों को छिन्न भिन्न कर रही है और हिन्दू मात्र को एक नये माहौल में अकेला, निस्सहाय खड़ा कर रही है। मशीनी सभ्यता और इस अकेलेपन से घबराकर यह अकेला हिन्दू कहीं आर्यसमाज कहीं मन्दिर और कहीं रामकृष्ण मिशन में जाता है या भीड़ में शामिल होकर हरिद्वार, गया पुरी और काशी भागता है। लेकिन उसकी चेतना में सम्पूर्ण हिन्दू समाज शायद ही आता हो और दूसरे हिन्दुओं में उसका तादात्म्य शायद ही बैठता हो।

यदि मात्र सुधार और क्रान्ति का नारा उठाते हैं तो अपने आपको अकेला पाते हैं। यदि सबके साथ चलते हैं तो अपने आपको पेंदे में छेद वाले मस्तूलहीन जलयान का मुसाफिर पाते हैं।

यह स्थिति श्रेयस्कर नहीं है, शुभ नहीं है—न हिन्दू धर्म के लिए न हिन्दुस्तान के लिए क्योंकि चाहे जो हो हिन्दू समाज की नियति से हिन्दुस्तान की नियति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज हिन्दू समाज अपनी जीवतता खो चुका है। प्रसार और प्रचार तो दूर की बातें हैं वह उनको भी अपने साथ रखने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है जो कल तक हिन्दू थे और जिन्हें हिन्दुत्व का गौरव था।

इतिहास बड़ा निर्मम है निर्मम है। वह भावना से नहीं भौतिकता व स्थूल आधारों से बनता है। हिन्दू समाज से पहले भी बहुत से बड़े और सुसंस्कृत मानव संगठन हुए हैं जो अपने-आपको कालजयी और जगत के गुरु समझते थे। लेकिन वक्त, आया और वे कहीं के न रहे उनका नामोनिशाँ मिट गया। हिन्दू धर्म और समाज में भी कोई निरालापन नहीं है। हम नहीं चेते हमने अपने-

आपको बचने लायक नहीं बनाया तो हम भी काल की स्लेट पर अपने दस्तखत छोड़कर भूगर्भ में समा जाएँगे।

वक्त आ गया है कि सभी सुधारवादी आन्दोलन मिलकर अधिकतम स्वीकार के आधार पर एक कार्यक्रम बनाएँ। यह कार्यक्रम सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक तीनों स्तरों पर हो। उसमें से उन बातों को छोड़ दिया जाए जो मात्र सैद्धान्तिक, छोटी और विग्रह की जनक हैं लेकिन उन सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जमकर आवाज उठाई जावे जिन्होंने हिन्दू-समाज को निर्वीर्य और श्रीहीन किया है। हो सकता है कि इस कार्यक्रम, इस आन्दोलन में से हम उन मठाधीशों और पुरोहितों को छोड़ना पड़े जिनकी रोटी-रोज़ी विग्रह, मतवाद और अन्धविश्वास से चलती है। लेकिन कोई वजह नहीं कि हम केवल वेद के नाम पर अड़े रहें या केवल सिद्धान्त की खातिर इस सुधारवादी आन्दोलन से कटे हुए और अलग रहें। वैसे भी यह दुराशा मात्र है कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज शिव, ब्रह्मा, दुर्गा इत्यादि की और पूजा उपासना की अन्य पद्धतियों का त्यागकर केवल अदिति और वायु और सन्ध्या और हवन का अपना लेगा और न ऐसा उसके पुनरुत्थान के लिए जरूरी है।

## स्वामी रामकृष्ण परमहंस और हिन्दू-धर्म[1]

जकेरिया और फर्कुहार जैसे लेखकों का नज़रिया स्पष्टतः ईसाई मिशनरियों वाला था। उनकी दृष्टि में वही धार्मिक आन्दोलन प्रगतिवादी था जो ईसाइयत और पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से प्रभावित था। इस दृष्टि से फर्कुहार ने भारत में 19वीं शती के महान धार्मिक आन्दोलनों को तीन श्रेणियों में बाँटा

(1) अतिशय सुधारवादी आन्दोलन ब्रह्मसमाज (1866 आदि समाज, ब्रह्म समाज आफ इंडिया, 1878 81 साधारण ब्रह्म समाज, नव विधान) राम मोहन राय The morning star of the new day which dawns with Shri Ram Krishna Paramhansa and reaches its noon in Mahatma Gandhi (D S Sharma)

(2) सुधारवाद में परम्परावाद का मिलन आर्यसमाज (दयानन्द-1824 1883) 1875

1 रामकृष्ण आश्रम, अजमेर में 20 2 1972 को दी गई वार्ता।

(3) सनातन धर्मों का पूर्ण समर्थन करने वाले आन्दोलन—रामकृष्ण मिशन, थियोसाफी।

लेकिन इतना सही है कि इन आन्दोलनों ने क्रमशः अधिक व्यापक भूमि पर अपना आधार रखा। ब्रह्मसमाज केवल बंगाली उच्चशिक्षित मध्यवर्ग की एक चेतना का प्रकटीकरण था और गहरी जड़ों के अभाव में पनप न पाया, आर्य समाज के उत्कट सुधारवाद ने उसको महत्त्व तो बहुत दिया लेकिन उसका सीमित बना दिया क्योंकि मूर्तिपूजा, अवतारवाद, उपनिषद, गीता-पुराणों और धर्म ग्रन्थों को छोड़ पाना आम हिन्दू के लिये कठिन था और वह हिन्दुओं के एक हिस्से का ही प्रवोमय होकर रह गया जिसका उस समाज का ही एक बहुत बड़ा भाग विरोधी रहा आया। रामकृष्ण मिशन वह पहला और अकेला आन्दोलन था जो सब हिन्दुओं को साथ ले भी सकता था और जिसने लिया भी क्योंकि उसने पारम्परिक हिन्दू धर्म के किसी भाग का नकारा नहीं।

लेकिन क्या भीतर में उसकी ट्रैजिडी भी नहीं छिपी हुई है? कौन कह सकता है कि हिन्दू धर्म और समाज में कुछ सुधारों की जरूरत नहीं है? हिन्दू समाज ने स्त्रियों, अछूतों इत्यादि के साथ जो व्यवहार किया गया वह सही था? प्रायः मन्दिरों में पूजा के नाम पर जो होता आया है क्या वह सही है? क्या पुराणों इत्यादि में धर्म के नाम पर जो कपोल-कल्पनायें हैं वे स्वीकारने योग्य हैं? क्या मिशन ने इतने शब्दों में और प्रकट रूप से इनका विरोध किया?

मुझे लगता है कि रामकृष्ण और विशेषतः विवेकानन्द को भी ये चीजें रुचिकर नहीं थीं। उनका दृष्टिकोण यह था 'सार सार गह लिया थोथा दिया उड़ाय।' भक्ति के ये आलम्बन जिनको जरूरी लगते हों उन्हें मुबारक लेकिन इनका विरोध भी न किया जावे। उनका दृष्टिकोण था सार की बात यह है लेकिन थोथे का प्रचार और समर्थन नहीं तो विरोध भी नहीं।

यही दृष्टिकोण मध्यकालीन सन्तों का भी रहा। लेकिन नतीजा क्या रहा? लोगों ने सन्तों को पूजा, उनके भजनों को गाया लेकिन व्यावहारिक जीवन में ज्यों के त्यों रहे। यही हाल रामकृष्ण मिशन का हुआ। आम आदमी ने रामकृष्ण को सन्त और अवतारी पुरुष के रूप में पूजा, विवेकानन्द के ओजस्वी भाषणों से प्रेरणा और आत्मविश्वास प्राप्त किया लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि इस सबसे हिन्दू समाज में सुधार हुआ? यदि सुधार हुआ होता तो शारदा एक्ट और गान्धीजी के हरिजन आन्दोलन की जरूरत नहीं पड़ती।

असल में सुधार का रास्ता कष्टकारी और संकीर्ण होता ही है। लोग कहते हैं दयानन्द ने वेदान्त को छोड़कर गलती की। मान लीजिये वे वेदों के साथ साथ गीता और उपनिषदों को भी स्वीकारते। तो क्या होता? क्या तब लोगों को मुसलमान और ईसाई बनाने के इच्छुकों से उनका संघर्ष न होता? क्या तब पूजा

के नाम पर जो जो कुरीतियाँ चलती हैं उनसे उनके विरोध को मान्यता मिल गई होती ? क्या तब विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, हरिजन-उद्धार इत्यादि के काय को कम विरोध का सामना करना पड़ता।

मठ और सेवा अपने आप में बहुत अच्छे हैं लेकिन हिन्दू धर्म और समाज के परिप्रेक्ष्य में वे काफी हैं या नहीं यह रामकृष्ण मिशन को विचारना है।

गांधी जी और रामकृष्ण दोनों में सत्य के लिये एक सी लगन थी लेकिन गांधी जी का अध्यात्म व्यावहारिक था, राजनीति और समाज सुधार से संयुक्त था लेकिन रामकृष्ण का अध्यात्म स्वयं अपने अध्यात्म के लिये था।

रामकृष्ण और समाज सेवा—स्वामी रामकृष्ण का हृदय दीन-दुखियों के प्रति करुणा से पूर्ण था। भूखे पेट भजन भक्ति नहीं हो सकती, ये वे मानते थे। ऐसा विवेकानन्द ने कहा भी था। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ बताते हैं कि बचपन में वे जब भूखे प्यासे एक मन्दिर के पास पड़े थे तो एक दयालु व्यक्ति ने उनको पूरियाँ खिलवाई थी जो स्वयं रामकृष्ण थे और खिलाने वाली माता शारदा देवी। लेकिन कुल मिलाकर यह मानना पड़ेगा कि रामकृष्ण का जोर समाज सेवा पर उतना नहीं जितना ईश्वर के साक्षात्कार पर था। क्रिष्टोदासपाल को जो डांट उन्होंने बताई थी निश्चय ही उसमें मुख्य जोर इस बात पर था कि बिना ईश्वरीय कृपा हुए ('Let a man first realize him') समाज-सेवा की बात करना एक प्रकार का दम्भ है, आत्मप्रवंचना है। लेकिन यह भी सही है कि वे संगठित, सुनियोजित समाज सुधार के बारे में नहीं सोचते थे और यदि विवेकानन्द ने पाश्चात्य शिक्षा और पश्चिमी देशों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सुधार और उन्नति की बात नहीं उठाई होती (They ask us for bread but we give them stones, it is an insult to a starving people to offer them religion ) तो रामकृष्ण के अनुयायी एक और संन्यासी संगठन मात्र बनकर रह गए होते।

क्या रामकृष्ण अवतार थे?—इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामकृष्ण एक बहुत पहुंचे हुए सन्त और सिद्ध थे। जो सत्य दूसरे सिर्फ किताबों में पढ़ते हैं उनका उन्होंने साक्षात्कार किया था। उनकी साधना, उनका इन्द्रिय निग्रह, मनुष्यमात्र के लिये उनका प्रेम, आध्यात्मिक धरातल पर उनकी उपलब्धियाँ अनुपम थे। वे स्वयं उस स्थिति पर पहुँच चुके थे जहाँ 'मैं' और 'वो', आत्मा-परमात्मा का भेद बेमानी हो जाता है। (उदाहरण देवी का चढ़ावा कभी-कभी अपने ऊपर ही चढ़ा लेना। 'मैं कब मुक्त होऊँगा' जब 'मैं' नहीं रहेगा। 'मैं ईश्वर को उसी तरह देखता हूँ जैसे तुमको देखता हूँ' इत्यादि)।

इस प्रकार ईश्वरीय अंश या चरम गुणों का आविर्भाव रामकृष्ण में पर्याप्त था और हमारी अवतारों की जो कल्पना या कसौटी है उस पर वे खरे उतरते हैं,

लेकिन सैद्धान्तिक स्तर पर इस बात का कोई विशेष महत्त्व है नहीं। अवतारों की कमी संसार में कभी रही नहीं, ज़रूरत है उनके गुणों को जीवन और आचरण में पालन की। आप्त वचनों की, अच्छी शिक्षाओं की कमी नहीं है, कमी है उनके ऊपर अमल करने की। बल्कि किसी को अवतार मानने न मानने की बात उठाकर हम अनावश्यक विवाद खड़ा करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने यही सलाह अपने साथियों को भी दी थी। जहाँ तक रामकृष्ण का प्रश्न है उनका तो यह मानना था कि महत्त्व प्रेम और श्रद्धा का है, हम जिस किसी से भी प्रेम करें उसी में देवत्व की कल्पना करें (उदाहरण से ध्यान लेकर तीर्थ स्थान जाने वाली वृद्धा को सलाह कि अपनी पोती में ही राधा की कल्पना करो)।

## रामकृष्ण : महत्त्व और महानता

रामकृष्ण संत थे, सुधारक नहीं। राममोहन राय से लेकर गांधी जी सभी न्यूनाधिक अपने समय से प्रभावित थे। लेकिन रामकृष्ण की चेतना मूल रूप से अंतर्मुखी थी। उन्होंने जो प्रकाश फैलाया वह दिए का प्रकाश था जो खुद जलकर रोशनी देता है। लेकिन रोशनी देने के लिये नहीं जलता। इसी से जुड़ी हुई है एक दूसरी बात—रामकृष्ण समय सापेक्ष नहीं थे—वे मनु के युग में भी हो सकते थे, अशोक के में भी, हर्ष के में भी और मध्ययुगीन संतों में से भी एक हो सकते थे। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और दर्शन का प्रभाव उनके ऊपर बहुत कम था। 1835 में उनका जन्म हुआ। उस समय से लेकर 1857 तक कई महत्त्वपूर्ण घटनायें हुईं मैकाले की नीति के अनुसार अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम बन गई, यूनिवर्सिटियाँ खुलीं, रेल आई, 1857 का विप्लव हुआ। 1833-34 में कलकत्ता में अंग्रेज़ी की किताब देशीय भाषाओं की पुस्तकों से अधिक संख्या में बिकीं। 1829 में सती पर रोक लगी। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि इन सब बातों का क्या, यदि कुछ भी, प्रभाव रामकृष्ण पर पड़ा या उनके वचनों में परिलक्षित हुआ।

1853 में कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि पुरातन के नाश और नवीन की अनुपलब्धि ने हिंदू-मानस को एक खासतौर का अवसाद दिया था। क्या रामकृष्ण परमहंस का पुरातन धर्म में नया संबल खोजना उसी प्रकार की प्रतिक्रिया थी जैसी मध्ययुगीन भक्त कवियों ने मुस्लिम विजय और हिंदू राजनीतिक पराभव के बाद व्यक्त की थी? वैसे इसकी संभावना कम है क्योंकि रामकृष्ण परमहंस प्रारम्भ से ही एक भक्त थे। उनके उपदेशों में कहीं भी समसामयिकता का तथा उस समय की समस्याओं का आभास नहीं मिलता।

रामकृष्ण काल सापेक्ष नहीं थे। राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी ये सब अपने समय और उसकी परिस्थितियों से प्रभावित, बल्कि उनकी उपज थे। रामकृष्ण परमहंस कभी भी हो सकते थे—वेदों के ज़माने में,

मुगलो ने काल मे, आज भी हो सकते हैं, वे काल समय की परिधि से पर थे।

काल के दायरे के बाहर रामकृष्ण की महानता इस बात मे है कि उन्होने जीवन के चरम और सनातन सत्यो का एक प्रकार पुन प्रमाणित प्रकाशित किया। भारतीय अध्यात्म की ज्योति उनमे एक बार फिर प्रखर हुई।

और जहा तक 19वी शती के भारत और विशेषत हिन्दू-समाज का प्रश्न है उन्होने उसके पुनर्जागरण मे बडी महत्त्वपूण भूमिका निभाई। डेरोजियो से लेकर प्रतापचन्द्र मजूमदार प्रभति अनेक प्रबुद्ध और व पढे लिखे भारतीय पश्चिम का अनुकरण कर रहे थे। क्रिश्चियन मिशनरी सारे भारत के ईसाई बनने की राह देख रहे थे। भारत अपने अतीत से कट चुका था, धम का छिलका, धम के तत्त्व का स्थान ले चुका था। एक प्रकार का दीनभाव गहन निराशा, अपने मूल से कट चुकने की पीडा हिन्दुओ के मन मे थी।

रामकृष्ण ने इस अन्धानुकरण किंकतव्यविमूढता और ऊहापोह से हिन्दुत्व का नजात दिलाने म महत्त्वपूण भूमिका निभाई। उन्होने हिन्दुत्व का सुधार नही किया लेकिन उसका जागति का और अपने मूलाधारा को पहचानने का मन्त्र दिया ताकि वह अपना इलाज कर सके उसी तरह जैसे किसी बीमार को दवा के साथ साथ टानिक भी देते है। लेकिन टानिक दवा नही होती। वह दवा दयानन्द, गाधी और सबसे बढकर बदलता हुआ जमाना देते रहे है।

**शिक्षायें और नीतिकथायें** और अन्त म रामकृष्ण परमहस की कुछ शिक्षायें और नीतिकथायें जिनम उनके दशन का सार ही नही उनके सम्पूण व्यक्तित्व का आभास भी आ जाता है

1 श्रद्धा अन्धी होती है। श्रद्धा और सत्य मिलकर ही ज्ञान बनते है। ईश्वर का प्रेम बडी चीज है। उसकी बनाई चीजा की तारीफ करते रहने से कुछ नही होगा। जिस किसी स प्रेम हो उसी मे इष्टदेवता की कल्पना करके उससे प्रेम करना चाहिए। ईश्वर को अपने हृदय मे ढूढो और पाओ। ईश्वर का दशन, उसकी अनुकम्पा पाना पहला और परम कत्तव्य।

2 सभी धम ईश्वर तक जाने के माग है विविध धम एक सरोवर के विभिन्न घाट, एक जल के विभिन्न नाम, एक सद्विप्र बहुधा वदन्ति।

3 ज्ञान और भक्ति माग दोनो उपयोगी लेकिन भक्ति माग श्रेष्ठ। ईश्वर साकार भी निराकार भी जस अग्नि की लपटो म अग्नि का प्रकट हाना।

4 हिन्दू धम के सभी देवी-देवताओ और उपासना-पद्धतियो मे श्रद्धा।

5 बिना ईश्वर भक्ति के समाज सवा निष्फल और असभव।

6 मनुष्य मात्र की श्रेष्ठता, क्षमता मे विश्वास, ससार दुखपूण ... जगह नही है।

7 मूर्तिपूजा म काई बुराई नही। मूर्तिपूजा को बुरा कहना वैसा ही है जैसा बालपने को बुरा बताना।

## नीति कथाएँ

**1 विद्वानो द्वारा कभी कभी मूखतापूण ग्राचरण**

गिद्धो का ग्राकाश मे उडते हुए भी भूमि पर पडे हा मास पर नजर रखना।

**2 केवल शास्त्रों को जानना पढना काफी नही ?**

स र ग म रहन मात्र स सगीत नही नक्शे पर बनारस दखकर बनारस नही देखा जा सकता।

**3 रूढियो ग्रौर कमकाण्डो का उपयोग**

यदि धम का तत्व चावल है तो ग्रनुष्ठान, कमकाण्ड उसका छिलका है, खाते समय छिलका हटा देते हैं लेकिन बाते ग्रौर रखत छिलके सहित हैं। कम काण्ड धाव के खुरट का काम करते हैं। फिर भी वक्त को देखत हुए कमकाण्ड मे कमी होनी चाहिए। जात पात म भी विश्वास नही।

**4 ईश्वर की दया ग्रनुकम्पा कसे प्राप्त करें ?**

जब तक बच्चा खिलौना मे मग्न रहता है माँ ग्रपन काम मे लगी रहती ह। जब बच्चा रोता है तो दौडकर उसे सभालती है। ऐसे ही ईश्वर मिलन के लिए उत्कट इच्छा रखा जैसे डूबता व्यक्ति साँस लने के लिए प्रयास करता है। समुद्र पर हवा हमेशा रहती है लेकिन उसका लाभ उठान के लिए नाविक को नाव के पाल खालने होते हैं। एक व्यक्ति रात मे लैंप हाथ मे लेकर दूसर के द्वार पर चुरुट जलाने के लिए दियासलाई माँगने गया तो दूसरे ने कहा भई ग्रपन लैंप से इसे क्यो न जला लिया ? ईश्वर हर हृदय मे है उस वहाँ ढूढो ग्रौर पाग्रो वरना उसको बाहर ढूढने से कोई लाभ नही होगा। ईश्वर की खोज करता हुग्रा व्यक्ति सागर म नमक की गुडिया की तरह है। मधुमक्खी केवल फूल पर लेकिन मक्खी गुड ग्रौर मैले दोनो पर बठती है।

**5 क्या स यास लेना जरूरी है ?**

नही—गृहस्थ ग्राश्रम किले सरीखा है जिसमे रहते हुए लडना सरल है। नौकरी करत हुए धन कमाते हुए भी प्रभु की सेवा करनी चाहिए। ससार मे ऐस रहना चाहिए जैसे पानी म नाव, नाव पानी म रहती है लेकिन नाव मे पानी नही रहता। बढई की स्त्री को देखा वह कई काम एकसाथ करत हुए भी ग्रगुलियाँ ग्रोखली मे न कुचल जाएँ इसका ध्यान रखती है। जैसे बच्चा खम्भा पकडकर गाल घूमते हुए खभे को कसकर पकडे रहता है। जैस कटहल काटते समय हाथा म तेल लगा लेत हैं।

6 धार्मिक स्थानो (तीर्थों) का महत्त्व

दूध गाय के शरीर से निकलता है लेकिन थनो के स्थान पर कान से दूध निकालना सम्भव नही है। पानी कही भी निकाला जा सकता है लेकिन कुछ जगहो पर पहले से कुएँ बावडी हैं। गाय मैदान मे घास चरती है फिर किसी शान्त, छायादार जगह पर बैठकर जुगाली करती हैं। लेकिन बिना मन मे भक्ति हुए धार्मिक स्थान पर जाना भी बेकार है।

7 अपना सही स्वरूप पहचानो

शेर का बच्चा जो बकरियो के झुण्ड मे पलकर बडा हुआ। विवेकानन्द ने बाद मे इसी सन्देश को जोरदार ढग से उठाया।

8 अधम की आदत

मछुवारिने जिन्हे माली के कमरे मे फूलो की खुशबू के कारण नीद नही आई—केशवचन्द्र सेन से जो घर जाने की जल्दी दिखा रहे थे।

9 क्या सुधार सम्भव है ?

हा, काला कोयला जलकर दहकता हुआ, प्रकाशवान शोला बन जाता है। (चकमक पत्थर चाहे जितने बरस, पानी मे क्यो न पडा रहे उसमे चिनगारी मौजूद रहती है)

10 ससार मे बुराई जैसे साप मे जहर

मक्खन जब तक घी नही बनता तब तक कडकडाता है। मधुमक्खी जब तक फूल पर नही बैठती तब तक भनभनाती है। जब फल आते हैं तब फूल झर जाते हैं।

## रेशम के धागो मे बधा सामाजिक दायित्व[1]

बडा मुलायम-सा शब्द है यह रेशम—बडी मुलायम अभिव्यजना वाला। दिमाग मे यह शब्द आते ही मानो अगुलियो के बीच से ढाके की मलमल फिसलने लगती है। इसके साथ किसी गुरु गम्भीर बात अथवा प्रसग की कल्पना करने से मन जैसे कतराता है।

और दूसरी तरफ है यह शब्द-दायित्व। कितना गहन, गभीर सफेद दाढी और बालो वाला शब्द—मानो शब्द न हो किलोग्राम का बाट हो, कानूनी दस-

1 आकाशवाणी जयपुर से 9 8 76 को प्रसारित वार्ता।

रारनामा हो ! और इसीलिए पहली नजर में इस शीर्षक में एक आन्तरिक विरोधाभास की प्रतीति हो सकती है—रेशमी धागा में बंधा सामाजिक दायित्व —मानो कह रहे हों—रेशम के धागों से बनी हथकड़ी, केसर की स्याही से लिखा वारंट !

लेकिन नहीं ! प्यार रेशम सा कोमल सही उसकी शक्ति असीम है। सोचकर देखें तो लगेगा कि बिना प्यार के संसार का व्यापार चलना ही असम्भव है। मनुष्य के बहुत सारे काम तो सीधे-सीधे इसलिए ही होते हैं कि उनसे उसके प्रियजनों का हित जुड़ा रहता है। लेकिन इसके अलावा भी बहुत सारे काम वह अजनबियों के लिए और बिना किसी रागात्मक सम्बन्ध के, इसलिए करता है क्योंकि उनको करने से उसे वह द्रव्य या साधन मिलते हैं जिनके मिलने पर उसके प्रियजनों का लालन पालन निर्भर है। जाहिर है कि प्यार के अलावा और भी बहुत सी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को दिशा और उपक्रम विशेष में उद्यत या प्रवृत्त करती हैं। उदाहरण के लिए प्रशंसा पाने, कुछ कर दिखाने की भावना को ही ले लीजिए। और यही क्या हिंसा, घृणा, वासना इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों के वश होकर भी तो मनुष्य बहुत-कुछ करता है, लेकिन अंतिम विवेचन में इन सब प्रेरक या चालक वृत्तियों के बीच प्यार-स्नेह सद्भावना, मोहब्बत का जज्बा तारों के बीच में चन्द्रमा जैसा शांत धवल, स्निग्ध और महत्त्वपूर्ण है।

और इसी शाश्वत सर्वव्यापी प्यार के प्रतीक हैं ये रेशम के धागे। उनकी शक्ति अकूत और अतुलनीय है। विज्ञान में शक्ति का अश्व शक्ति की इकाई के माध्यम से दिखाते हैं—ये कार का इंजन इतने हॉर्सपावर का है, ये रेल का इंजन इतने हॉर्सपावर का है वगैरह वगैरह। मैं सोचता हूँ—गांधीजी की हॉर्सपावर क्या रही होगी—चौथाई आनी एक बटा आठ हॉर्सपावर ! लेकिन नहीं, इस माप के परे बहुत परे संयम आत्मशक्ति और प्यार की एक अलग पावर होती है जिसने गांधी को अतिमानव देवताओं की कोटि का इंसान बना दिया था।

तो, गांधी की लाठी गांधी की मीठी मुस्कान गांधी की वाणी हैं ये रेशम के धागे—एक अर्थ में वैसे ही कमजोर, दूसरे अर्थों में वैसे ही अजेय अमित शक्ति के पुंज।

और यही धागे एक बहन अपने भाई या भाइयों को बाँधती है। इन दो धागों में एक पूरा रिश्ता, एक पूरी व्यवस्था एक पूरा दर्शन समा जाते हैं। दो टके में दो करोड़ की मिल्कियत बिकती है और मजा यह है कि बचने वाला खुशी-खुशी बचता है सीना फुलाकर बेचता है। कलाई पर ये दो धागे न बंधें तो उदास रहता है अपने को परित्यक्त, अभागा अकेला बहिन के स्नेहदान से वंचित अनुभव करता है।

## रेशम के धागा मे बधा सामाजिक दायित्व

और अब बात करें दायित्व की। अक्सर हम सोचते है कि कोई ज़िम्मेदारी न हो तो कितना अच्छा रहे। आकाशचारी देवताओ और पौराणिक कल्पनाओ वाली जातियो—किन्नरो यक्षो आदि—की तरह अलमस्त और निर्बन्ध रहना कितना सुखकर और सुविधाजनक न होगा। हमम से कुछ लोग ऐसे ही कम करने म स्वतन्त्र होने लेकिन ज़िम्मेदारी और कर्मफल की तरफ से मुनि विश्वामित्र की तरह मुह पर हाथ की ओट कर लेने म विश्वास करते है।

लेकिन समाज का काम तो इस प्रकार चल नही सकता। समाज क्या, परिवार और स्वय व्यक्ति का निजी काम भी यू नही चल सकता। और इसीलिए हमने आपस म जुडे, पूरक और सहयोगी दायित्वो की कल्पना और सरचना की है। मेरा कर्तव्य आपकी सुविधा या जीने की शर्त है, आपका दायित्व मेरा सबल मेरी आशाओ—आवश्यकताओ के पूरा होने का माध्यम है।

एक इसी प्रकार का पावन और पारम्परिक दायित्व भाई का रहा है बहिन के प्रति। बहिन भाई के दो रेशम के धागे बाँधती है अपने निश्छल, निष्कलुष पावन प्रेम की निःशब्द उद्घोषणा करती है भाई कलाई आगे करके इन धागो को स्वीकार करता है और बिना किसी जाहिर उद्घोषणा के बहिन के प्रति अपने अनुराग, अपने सबल अपने दायित्व को रेखांकित कर देता है।

और इस प्रकार यह दायित्व, पाषाणी और दुर्निवार न रहकर रेशम के धागो म स्वय रेशम होकर बध जाता है—रेशम के धागो की साक्षी, अग्नि की साक्षी की तरह अनुल्लघनीय और पवित्र हो जाती है।

लेकिन लगता है बदलते सदर्भों मे इस दायित्व वाली बात का अर्थ कुछ घपले मे पडने वाला है। रक्षाबन्धन पर भाई किस दायित्व को अगीकार और स्वीकार करता था ? बहिन की सुरक्षा का, बहिन की इज्जत की रक्षा का ? यानी बहिन अबला है कमज़ोर है रक्षा के योग्य रक्षा की अधिकारिणी है।

अगर रक्षा-बन्धन के पीछे यही दृष्टिकोण है तो वह नये ज़माने के ज्यादा अनुरूप नही पडेगा। लेकिन मुझे लगता है कि रक्षा-बन्धन का निहितार्थ इस बेचारी शरणागत को अभय के स्थूल और कुछ-कुछ अभिचिकर पुरुष प्रधान और अहकारी स्थूलार्थ से कही आगे जाता है। ये रेशम के कोमल धागे प्रतीक है नर-नारी के सपूर्ण और बहुआयामी रिश्ते म कोमलता और सहअस्तित्व के सिद्धात के। मेरी अपनी बहिन ही नही ससार की हर नारी वदनीय है—शक्ति सृजन और रस और माधुर्य की प्रतीक है। इस व्यापक अर्थ म ससार की हर नारी बहिन के समान पूज्य और पवित्र है। नारी को भोग्या और पालिता के वर्गों म बाँटकर व्यवहार मे उसको समान रूप से क्षुद्र और अबला और निजी सम्पत्ति

जैसा मानना—यह बात अब चलेगी नहीं। अब तो हर बहिन पूर्ण नारी जाति का प्रतीक हाथ में राखी बांधे और भाई उसको नारी मात्र के प्रति सद्भाव, सह-अस्तित्व और आदर रखने की प्रतिज्ञा दोहराता हुआ पहने—यही युग की मांग है।

## स्त्री और पुरुष सनातन धुरी, बदलते चक्के

सृष्टि चलती रहे इसके लिए जरूरी है कि मरण के साथ जन्म का चक्र भी चलता रहे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधाता ने नर और नारी के परस्पर आकर्षण की आयोजना की। नारी को विधाता ने आकर्षण दिया, उसके मन में मातृत्व की आकांक्षा भरी और रतिसुख की रचना की ताकि पुरुष नारी से और उसके माध्यम से नित नई सृष्टि की संरचना के महती कार्य से किसी प्रकार भी विमुख न हो पाये।

यह तो हुई प्रकृति की बात। अब मानव प्रकृति ने क्या किया? मानव ने तरह-तरह के सामाजिक गठन और नियम इस सैक्स की धुरी के चारों ओर रचे, इस यौनाचार को नियंत्रित नियमित करने के लिए। प्रारम्भ में मातृसत्तात्मक समाज था—एक नारी और कई पुरुष एक कबीला बनाते थे। उसके बाद जब कृषि का प्रचलन बढ़ा तो पुरुष की प्रधानता हुई और नारी का स्थान गौण हो गया। एक पुरुष का कई स्त्रियों से विवाह करना या विवाह न करते हुए भी यौन-सम्बन्ध रखना मान्य हो गया। स्त्री एक प्रकार की सम्पत्ति समझी गई। खास-तौर से कुलीनों और मालिकों के लिए तथाकथित छोटी जातों तथा नौकर चाकरों की औरतों को भोग्या मानना जायज समझा गया। यह माना गया कि आमतौर पर एक पुरुष एक नारी का सिद्धान्त चले कम से-कम विवाहित नारी तो परपुरुष से हर हालत में दूर रहे लेकिन पुरुष यदि चाहे तो वेश्यागमन करें, बहुविवाह करें या रखैलें और उपपत्नियां रखकर अपनी अतिरिक्त यौन पिपासा को शांत करें। यह भी होता रहे और विवाहित जीवन भी चलता रहे इसके लिए यह सिद्धान्त बनाया गया कि परस्त्री को बुरी निगाह से देखना अनुचित है और इस काम में पुरुष की मदद करने के लिए एक ओर तो नारी को पर्दे में बन्द किया गया उसे शादी के पहले शादी के बाद या वैधव्य की दशा में पूर्ण पातिव्रत्य और आत्मसंयम की दीक्षा दी गई और दूसरी ओर वेश्यावृत्ति, कम उम्र में विवाह तथा विधुर के पुनर्विवाह का आयोजन किया गया।

आज औद्योगीकरण, स्त्री शिक्षा व समाजसुधार के आन्दोलनों ने इस पुरुष-प्रधान मध्ययुगीन व्यवस्था को अव्यवहार्य और जीर्ण कर दिया है। जब तक स्त्री का दर्जा नीचा था और वह एक दबी ढकी और नियमों में बंधी घरेलू औरत थी तब तक तो यह व्यवस्था चली। लेकिन जब घर और पर्दे की सीमायें तोड़कर स्त्री बाहर आई जब उसका परपुरुष से सम्पर्क बढ़ा जब पारम्परिक वेश्यावृत्ति और बाल विवाह के खिलाफ आवाजें उठीं तो यौनाचार और स्त्री पुरुष के सम्बन्धों के सागर में हजारों तूफानी लहरें उठने लगीं। इन समस्याओं का क्या इलाज है?

पहली ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि औद्योगिकीकरण युद्ध के भय और अनिश्चितता के वातावरण ने मनुष्य की धीरता और शान्ति को कम किया है और उसको निरन्तर संसाधन की ओर दौड़ने में प्रवृत्त किया है चूंकि स्वयं जीवन कम सुरक्षापूर्ण हो गया है इसलिए जैसे भी हो जितना भी हो उतना क्षणिक सुख भोग पाने की इच्छा बलवती हुई है। इसी का एक पक्ष बढ़ती हुई कामुकता व लैंगिक सुख की लालसा है।

इस प्रकार एक ओर तो आत्मसंयम घटा धर्म में से आनेवाली नैतिकता व इन्द्रिय निग्रह कमज़ोर पड़े, यथार्थवादिता बढ़ी दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के बढ़ते हुए मुक्त सम्पर्क वेश्यावृत्ति के विरुद्ध सामाजिक चेतना विवाह की उम्र में बढ़ोतरी और आर्थिक मजबूरियां इत्यादि ने मनुष्य में अतृप्त और अतिरिक्त कामेच्छा को जन्म दिया। आदिम जातियों में यह समस्या नहीं थी क्योंकि एक ओर तो उनमें विवाह या सम्भोग सम्बन्धी वे जटिलतायें नहीं थीं जिनसे सभ्य समाजों ने अपने आपको बांध रखा था दूसरे वे औद्योगिकीकरणजनित और कृत्रिम रूप से बढ़ाई गई कुण्ठाओं और यौन आकांक्षाओं से बरी थीं। इन आदिम और वन-जातियों में कम उम्र में विवाह मुक्त प्रेम और विवाहोपरान्त भी दूसरे पुरुष से संसर्ग रस चुकी स्त्री को वापस घर में लेने की परिपाटियां कमोबेश आज भी चलती हैं।

लेकिन सभ्य समाज क्या करे? एक तरीका कम्युनिस्ट देशों का है जिन्होंने वेश्यावृत्ति समाप्त कर दी है और यौन उच्छृंखलता के खिलाफ कड़े नियम बना दिए हैं। नारी को बिल्कुल पुरुष के समकक्ष खड़ा कर दिया है। लेकिन इसकी कीमत भी उन्हें देनी पड़ी है—नारी की कमनीयता और शृंगार-प्रियता की भेंट चढ़ाकर इन चीज़ों को 'बूर्जुआ' चोंचला की संज्ञा देकर (हालांकि ऐसे भी समाचार हैं कि रूस में भी नाइट-क्लब और रात्रि जीवन है और बढ़ रहे हैं।) और जिन पश्चिमी देशों में यह नहीं किया गया है वहाँ मुक्त यौनाचार और बढ़ती हुई कुण्ठाओं ने आत्म हत्याओं भ्रूण हत्याओं मानसिक रोगों तलाकों विवाह से पूर्व होने वाले प्रसवों और संयम सम्बन्धी अपराधों का, ऐसा बढ़ता हुआ सिलसिला

कायम किया है कि वस भगवान ही मालिक है। नतीजा यह है कि नारी की स्वतन्त्रता और महानता की दुहाई देने वाली सभ्यता ने नारी को चीज बाजार में अनावृत करके उसका मखौल और व्यापार की चीज बना दिया है। वेश्यावृत्ति खत्म होने की बजाय बढ़ी है और जहाँ वह कानूनी रूप से समाप्त भी करदी गई है, वहाँ कोठों को छोड़कर नये नये रूप धरकर इधर-उधर जा घुसी है—मानो फोड़े का मुँह तो बन्द हो गया हो लेकिन उसका मवाद सारे शरीर में फैलने लगा हो।

कहना होगा कि मध्ययुग के बुरे-से बुरे दौर में और गिरी से गिरी असभ्य जाति में भी नारी की ऐसी व्यापक और खुलआम छीछालेदर, यौन विकृतियों और कुण्ठाओं का ऐसा ताण्डव देखने में नहीं आया। आज हमारे होठों पर नारी की महानता के गीत और स्वतन्त्रता के नारे हैं लेकिन हमारे दिलों में उसकी नंगी तस्वीरें हैं और दिमागों में उसके जरिये तिजारत सियासत और शोहरत बढ़ाने के सैकड़ों मन्सूबे। नारी स्वयम् भी जैसे सब कुछ भूलकर सिर्फ पुरुष के लिए आकर्षक खिलौना बनने में लगी है। आज तक नारी ने अपने को संयमित और दमित रखते हुए और पुरुष के अत्याचारों को सहन करते हुए मानव समाज को विघटन और अराजकता से बचाया है। क्या आज उसकी आजादी ही उसकी, व उसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज की बर्बादी बनने वाली है?

जो भी हो कुछ बातें ऐसी हैं जो होकर रहेंगी। नारी पर्दे से निकलेगी और घर की देहली लांघेगी। आकर्षण के मौके बढ़ेंगे और आकर्षण बढ़ेगा तो मुक्त प्रेम और मुक्त यौनाचार को भी आप रोक नहीं सकेंगे। यह होगा तो यौनाचार-सम्बन्धी हमारे पारम्परिक दृष्टिकोण में भी अन्तर आएगा थोड़े दिनों में हम इस बात के आदी हो जायेंगे कि जैसे परस्त्री के साथ सो लेने मात्र से पुरुष दोषी या दूषित नहीं हो जाता वैसे ही स्त्री भी विशेष परिस्थितियों में किसी दूसरे व्यक्ति के साथ यौन सम्बन्ध रख लेने पर न तो दूषित हो जाती है और न कोई अक्षम्य अपराध करती है। मानव-जाति के शैशवकाल का इतिहास साक्षी है कि ऐसा पहले होता रहा है और एक पुरुष—एक नारी तथा यौनाचार में ही सारी पवित्रता या अपवित्रता ढूँढने के सिद्धान्त बाद की पुरुषप्रधान संस्कृति की उपज और समाज के ऊँचे और तथाकथित कुलीन वर्गों की चीजें हैं। तलाक बढ़ेंगे, मुक्त प्रेम और प्रेम विवाह भी बढ़ेंगे। यौनाचार विवाह, पातिव्रत्य विवाहेतर सम्बन्धों और उनसे होने वाली सन्तान सम्बन्धी हमारी पुरानी मान्यतायें बदलेंगी यौनाचार सम्बन्धी कुण्ठायें टूटेंगी, अपराधभाव से जन्म लेने वाले मानसिक तनाव और रोग कम होंगे। विवाह रूढ़ि और जन्मजन्मान्तर की चीज न रहकर एक शुद्ध सामाजिक व्यवस्था बनेगा। संयुक्त परिवार टूटेंगे। नारी संरक्षण और बन्धन दोनों से मुक्त होकर नई सम्भावनाओं और नये खतरों दोनों से मुखातिब

होगी। नारी केवल कमनीय और भोग्या न रहकर सहचरी और सहकर्मी बनेगी।

यह सब आज अवश्यम्भावी लगता है। अपने आप मे यह बुरा ही हो यह भी नही। खतरा केवल उस बढती हुई भोगलिप्सा, यौनाकाक्षाओ और कुण्ठाओ से है जिनका व जिनसे पैदा होने वाली कतिपय बुरी परिस्थितियो का हमने ऊपर जिक्र किया।

मानना होगा कि यह खतरा बहुत वास्तविक है और इसका कोई सरल और सतही उपाय भी नही है। हमारी आज की पूरी औद्योगिक सभ्यता एक खतरनाक दौर मे से गुजर रही है। उसका छिछलापन, जीवन के बाहरी रूप और सभ्यता के स्थूल उपकरणो को ज्यादा महत्त्व देने की प्रवृत्ति और उसी परिमाण मे घटती हुई आत्मिक शान्ति सयम का अभाव युद्ध और अनिश्चय के मडराते हुए काले बादल पारम्परिक व्यवस्थाओ और विश्वासो का टूटना—एक ऐसी पीठिका बनाते है जो आज की हमारी छोटी बडी समस्याओ के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। यौनाचार सम्बन्धी हमारी नई मान्यताएँ और हमारे नये सामाजिक गठन उतने ही अशो मे स्वस्थ और सतोषजनक होगे जितने अशो मे हम अपनी नई औद्योगिक सभ्यता को मूल्यहीनता और अमानवीयता मे बचा सकेंगे। आखिर स्त्रीत्व का अवमूल्यन और मानवीयता मात्र का अवमूल्यन दो अलग चीजें थोडे ही है? जहा नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते है ऐसा शास्त्र का वचन है। लेकिन नारी की पूजा तो तभी हो न जब मानवमात्र की पूजा का विधान हम बनायें। और आज जो विधान है उसमे मानव की नही मशीन की, मूल्य की नही सिक्के की सस्कृति की नही सभ्यता के छिलके की, मन की नही चमडी की, असलियत की नही दिखावे की, समष्टि के हित की नहीं स्वार्थ की आराधना हम कर रहे हैं। ऐसे मे यदि नारी की अनावृत और कमनीय चमडी के भाव चढ रहे हैं और नारीत्व का अवमूल्यन हो रहा है तो आश्चर्य क्या हो, दुख हो तो हो।

## सभ्यता का शोर, शोर की सभ्यता

किसी ने बहुत ठीक कहा है कि हिन्दुस्तानियो का मुख्य मनोरजन या शगल तमाशा करना और तमाशा देखना है। इस बात को और आगे बढाना चाहे तो कहना होगा कि हिन्दुस्तानियो का दूसरा बडा शौक शोर मचाना और शोर सुनना है।

कहने को हिंदुस्तान अध्यात्म का देश है। और आध्यात्मिक साधना के लिए, आत्मा की आवाज सुनने के लिए, यह भी जरूरी है कि बाहरी शोर कम-से-कम हो। लेकिन हाल इसका उल्टा है हम कमर कसे बैठे रहते हैं कि कब मौका मिले और हम हर सम्भावित तरीके से ज्यादा से ज्यादा शोर मचा सकें।

पहले साधारण बातचीत का लें। चाहे सुनने वाला बगल में या सामने ही बैठा हो लेकिन क्या मजाल कि हम शालीनता से धीमे स्वर में बात कर सकें। वह बात ही क्या हुई जो तीन कमरों में न गूंजी और जिसे सुनकर लोगों ने कलम न छोड़ी, सिर न पकड़ा। इस प्रकार असभ्यों की तरह चीख चीखकर बोलने को हम शायद शान की बात मान बैठे हैं जबकि यह निपट जाहिली और मन्दबुद्धि का परिचायक है।

कहने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग न करे या अपने आप में बन्द हो जाए और अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे। लेकिन सभ्यता की एक शर्त सुरुचि है और उसके लिए जितने बंधन जरूरी हैं वे तो हम अपने ऊपर लगाने ही होंगे। दूसरे, स्वतन्त्रता भी तो एक पक्षीय नहीं साझी चीज है। एक व्यक्ति सड़क पर अपनी छड़ी घुमाता हुआ जा रहा था। छड़ी दूसरे की नाक पर लगी, आपत्ति की गई बातचीत हो गई। पहले ने कहा कि वह सड़क पर चलने और छड़ी घुमाने के लिए स्वतन्त्र है। दूसरे ने जवाब दिया तुम्हारी बात मानी लेकिन जहां मेरी नाक शुरू होती है वहां तुम्हारी यह स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है।

साधारण अवसरों की बात छोड़ दीजिए हम विशेष मौकों पर व विशेष स्थानों में भी शान्ति नहीं रख सकते। अस्पताल हो परीक्षा स्थल हो मन्दिर हो, दफ्तर हो हमें शोर मचाने गला फाड़कर चिल्लाने से मतलब। हम तनिक भी नहीं सोचते कि हमारी इस नासमझी से कितने लोगों को कष्ट व असुविधा हो रही होगी। अस्पतालों के आसपास शान्ति के क्षेत्र (Silent Zones) रखे जाते हैं लेकिन शायद ही कभी इस बन्दिश का पालन किया जाता हो। मन्दिरों का वातावरण शान्त और शालीन रखना चाहिए ताकि भक्ति की भावना का उद्रेक हो लेकिन शोर मचा मचाकर हम अपने मन्दिरों को भी सब्जी बाजार बना देते हैं। जो धक्का मुक्की होती है अव्यवस्था फैलती है वह ऊपर से। सभा हो चाहे दफ्तर सड़क हो चाहे घर सिनेमा हो चाहे थियेटर—हर समय कचर कचर करते रहना हमारी आदत हो गई है और यह बुरी आदत इतनी पक्की हो गई है कि किसी को टोकिये तो वह बुरा मानेगा मुंह बनायेगा, शायद झगड़ा करने पर भी उतारू हो जाए।

रही सही कसर पूरी कर दी है लाउडस्पीकर ने। करेला नीम पर चढ़ा। बन्दर को उस्तरा मिल गया। शादी हो चाहे कीर्तन छुटके का जन्मदिन हो चाहे

बडके का मुण्डन—लाउडस्पीकर जरूर लगेगा, उस पर दुनिया भर के बेढगे, बेतुके गाने जरूर बजाए जायेंगे और मशीन का फुल-वाल्यूम पर भी बजाया जायेगा। सुबह मे यह कानफाड सगीत (!) शुरू होगा, दोपहर भर चलेगा शाम ढल जाएगी फिर भी चलेगा यहाँ तक कि सारी रात चलेगा और आसपास के रहने वालो की नींद और चैन दोनो हराम कर देगा। घिसे-पिटे रिकाड बार-बार बजाय जाएगे टूटे हुए रिकाड उसी एक जगह पर आ आकर घिस्स घिस्स करते हुए बार-बार अटकेंगे लेकिन क्या मजाल कि उत्सव के आयोजक कुछ दम लें और इस तमाशे को रोकें। समझ में नही आता इस बात की जरूरत क्या है कि मेरे घर पर भजन कीतन हो और मैं सारे मोहल्ले को जबदस्ती इस पुण्य काय मे भागी बनाऊँ? क्या हम इतने जड हो गए है कि दूसरे के दद और तकलीफ को समझ ही नही सकते? इस प्रकार की तूफान बदतमीजी बरपा करने वालो से कोई कह कि भले आदमी, क्या तुमने सोचा है कि तुम्हारे पडोस मे कोई बीमार भी हो सकता है अनिद्रा रक्तचाप का रोगी भी हो सकता है, परीक्षा के लिए तैयारी करने वाला छात्र भी हो सकता है, किसी प्रियजन की मृत्यु का शोक मनाने वाला गमजदा भी हो सकता है जिसके लिए तुम्हारा यह कीतन यह उत्सव जहर की तरह कटु और गधे के रेंकन की तरह अप्रिय है। बहुत साल पहले कानपुर मे मेरे मौसा बीमार पडे थे। पडोस म शादी थी और हस्बमामूल लाउडस्पीकर गूज रह थे। मरीज़ को असुविधा हुई। बहुत निवेदन करने पर उत्सव के आयोजको ने एक लाउडस्पीकर का मुह थाना माड भर दिया। दूसर दिन सुबह मौसाजी की मत्यु हो गई।

क्या ऐसी स्थितियो की कल्पना हमारे यह भक्ति और आनन्द मे मग्न पडोसी तनिक भी नही कर सकत। क्या भगवान बहरा है जो हमे उसको अपनी प्राथना चीख चीखकर सुनानी पडती है? क्या जरूरी है कि हम अपने आनन्द को इतना से चीख चीखकर प्रकट करें, चाहे उसके बदल दूसर हमारा अमगल मनाए हमे कोसें?

हमार वक्ताओ का भी यही हाल है। चीखने चिल्लाने और तरह-तरह की मुद्राएँ बनाने को ही भाषण कला समझ लिया गया है। आए दिन चाहे जिस चौराहे पर हम सभा जोड लेते हैं, रास्ते रुक जाते हैं, घण्टो चिल्ल-पुकार होती है, लोगो के सिर भन्ना जाते हैं, हमारी सभा होती है। यही हाल कवियो गायको का है। माइक देखते ही विवेक भूल जाते हैं। ऐसे चिपकते हैं कि बलपूवक खीचकर अलग करना पडता है तारसप्तक म गाते है जो गाना कम रोना ज्यादा लगता है। शोर मचाना फैशन हो गया है। हर जगह ट्राजिस्टर लटकाए फिरना और बजाना एक नया लेकिन फूहड, शहरी चलन बनता जा रहा है।

यह शोर शराबे की समस्या केवल भावना या सुरुचि के धरातल पर नही

है। शहरा मे रहने वाला मे स्वास्थ्य और शान्ति से भी इसका गहरा सम्बन्ध है। दुर्भाग्यवश आज शहरा का जीवन नितान्त मशीनी और अशान्त हो गया है। न साँस लेने का शुद्ध हवा है न खाने का शुद्ध भोजन न पीने का शुद्ध पानी। हर स्थान पर रल पल और भीड रहती है। आदमी सत्रस्त उद्विग्न और तनावपूर्ण रहता है। विवेक का स्थान आवेग बुद्धि का स्थान आनन्द संसशन की अन्धी खाज लेती जा रही है। एसे वातावरण म हमारी यह शोर मचान की आदत रही सही कसर पूरी कर देती है। आज शहरा मे जिस तेजी स मानसिक और हृदय-सबधी राग, रक्तचाप अनिद्रा व उन्माद आदि वढ रहे हैं उसकी जड मे और वाता के अलावा हर समय जारी रहन वाला शोर शराबा भी है। खबर है कि संयुक्त राज्य अमरिका म लोग हर वप 14 करोड 40 लाख पाउण्ड की राशि नींद की गालियाँ खरीदन पर खच करते हैं। कारण स्पष्ट है—वैज्ञानिका का कहना है कि मनुष्य एक सीमा तक ही शार सहन कर सकता है। और दुर्भाग्यवश आज की मशीनी सभ्यता अपने आप म शोर और धुएँ, तनाव और उलझनो से लबरेज है। साचने की बात यही है कि क्या मनुष्य अपन आप पर थोडा काबू रखकर इस स्थिति को और खराब हान म, बर्दाश्त के बाहर जान से नही बचा सकते ?

एक आपाधापी है पैसा कमाने और सुख सुविधा के उपकरण इकट्ठा करने की हाड है, और इसमे जो ज्यादा शार मचाता है, ज्यादा प्रचार करता है वह ज्यादा चतुर ज्यादा सम्पन्न ज्यादा सभ्य माना जाना है।

वास्तव म इस राग की जडें बहुत गहरी गई हैं। इसका सम्बन्ध उस बढती हुई असवेदनशीलता या अनुभूतिशून्यता से ह—जा आज शहरी जीवन की मशीनी व अवैयक्तिक सभ्यता का एक खास गुण है। पडोसी क दुःख दद या असुविधा की हमे चिन्ता नही होती। जब तक कानून डण्डा लेकर पीछे न दौडे हम सही रास्ते पर नही चलते। जब तक कोई चीखकर न बाले हम कोइ बात नही सुनते। जब तक किसी चीज का धुआँधार प्रचार न हो वह हमारे गले नही उतरती। हमारी खाल माटी हा गई है कान ऊँचा सुनने लगे हैं।

गान्धीजी ने कहा मौन सर्वोतम भाषण ह। एक शब्द से काम चले तो दो नही। माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा—प्रभु के पाणीबैक से उतने ही बाल उठाओ जितने स्वाध्याय ने वहाँ जमा कराए हा।

लेकिन यह बातें हम सुनें कैसे ? क्या इनका रेकॉर्ड चौराहे पर बजता है ? क्या इनके इश्तिहार छपने हैं ? क्या य बातें फैशन म शामिल हैं ?

वक्त आ गया है कि इस दिशा म कानून और समाज सुधार व प्रचार दोनो ही तरीको से इस बढते हुए और आत्मघाती शोर का कम किया जाए रोका जाए वरना वह दिन भी आ सकता है जब हम सब पागलो की तरह अपनी धुन मे चिल्लाते रहगे और दूसरो को हमारी बात सुनने की न तो फुसत होगी न समझ, न जरूरत।

खण्ड दो

# यात्रा और संस्मरण

## अपने संस्मरण, अपनी बात[1]

इंग्लैण्ड का नगर। एक होटल। एक ट्रेनिंग कोर्स के लिए वहां ठहरा हुआ हूँ। बगल के कमरे में एक भारतीय सहपाठी ठहरे हुए हैं उच्च अधिकारी। मधावी, स्वस्थ। दो दिन पहले उनकी पत्नी भारत से उनके साथ रहने आई है सुंदर, सुसंस्कृत। हम सब उन दोनों का भाग्य सराहते हैं। रात नौ बजे के लगभग अचानक उनके कमरे से कुछ विचित्र आवाज आने लगती हैं। कुछ देर परेशान-सा सुनता हूँ। फोन करके मित्र को अपने कमरे में बुलाता हूँ। वे आकर फूट पड़ते है। पति-पत्नी में भीषण झगड़ा है—एक आसदायी क्रम है—उसी में वह एक कड़ी है। सिर्फ अपने बच्चों के खातिर जीवित हैं इत्यादि। उनको समझा बुझा कर वापस भेजता हूँ। थोड़ी देर शान्ति। लेकिन फिर उठापटक गालीगलौच। रहा नहीं जाता। उनके कमरे पर दस्तक देता हूँ। मित्र को मेरे कमरे में भेजकर उनके कमरे में प्रवेश करता हूँ। दरवाजे से लगी नाईटी पहने पत्नी पड़ी है अस्त-व्यस्त। नासिका से स्राव जारी है। गले में एक टाई लपेट रखी है, मुझसे कहती हैं—मुझे मार डालिए, आपका अहसान मानूंगी। उनको उनके बिस्तर तक पहुँचने में उनकी सहायता करता हूँ। उस अनजान नारी के बालों में उंगलियाँ फिराते हुए उसे धीरज दिलाता हूँ—शान्त करता हूँ। नींद की गोली देकर सुलाता हूँ। बाहर आकर मित्र को उनके कमरे में भेजता हूँ। इसके बाद मेरी पत्नी भी इंग्लैण्ड आ जाती है। लगभग डेढ़ माह हम चारों साथ रहते हैं। घूमने जाते हैं खरीददारी करते हैं सामाजिक मेल मिलाप करते हैं। लेकिन मित्र दम्पति के बीच एक ज्वालामुखी है जो सोता भड़कता रहता है।

जीवन कितना दोमुंहा है। असलियत दिखावे से कितनी अलग होती है। हम लोग अपने सीनों में क्या-क्या छुपाये रहते हैं—बाहर से हँसते हैं अन्दर से सुलगते हैं और, कैसी कैसी परिस्थितियों में नितान्त अनजाने लोग कितने नजदीक आकर फिर हमेशा हमेशा के लिए अलग हो जाते हैं।

इंग्लैण्ड के उसी नगर के बाजार में एक घटना। एक व्यक्ति मजमा जमाये

---

1 आकाशवाणी जयपुर से 6-11-77 को प्रसारित वार्ता

दो पौंड म पाच सेंट, कोकाकोला वगैरह की बोतल दी जा रहा है। दो पौंड म पांच ! कमाल है भई ! दो पौंड म तो एक शीशी भी वाजिब है बाजार भाव क हिसाब स ! कई चीजों क साथ मै भी लेता हू। यानी बेवकूफ बनता हू। ठगी सिर्फ हिन्दुस्तान म नही होती। इग्लैण्ड म डिपार्टमेंटल स्टोर्स म भी उठाईगीरी होती है सुरक्षा की भावना पहले स कम हुई है, भाव भी बढे हैं। लेकिन खान पीने की चीजो म मिलावट की शिकायत कही नही है। पूर्वी जर्मनी म देखा कि रोजमर्रा के उपयोग की सारी चीजें सारे देश म एक से निश्चित मूल्यो पर, एक से बढिया स्तर की मिलती हैं। विलासिता या व्यक्तिगत शौक की सामग्री वहा कम है स्तर भी बहुत अच्छा नही है लेकिन कोई भूखा-नगा नहीं रहे, इसका इन्तजाम है। काश हम भी ऐसा कुछ कर सकें।

लेकिन, थोडा लौटू। इग्लैण्ड क कुछ और सस्मरण। जहा ट्रेनिंग हो रही थी उस नगर म रवानगी। वहा स ही आयगी। हमारे दोस्त लीडर शहर स काफी दूर रहते हैं। सर्दी बढ रही है लेकिन व बस रवाना होने तक वही रहते हैं। ट्रेनिंग के दौरान व हम काफी रूखे स लगे थे। लेकिन इन पिछले दिनो म उनका प्रेम और विश्वास के दिन का यह स्पष्ट उठाकर प्रदर्शित करते। सचमुच हम एक-दूसरे क बारे म कितना कम-गलत जान समझ पाते हैं।

लन्दन म मेरे वापसी क टिकट की। कुछ और रवाना की यात्रा के लिए वदलवाने म कुछ झझट है। एयर इण्डिया वाले दफ्तर के हा का समय मुझे टामस कुक के दफ्तर म जाने को कहते हैं जबकि ब्रिटिश काउंसिल वालो ने दस मिनट के अन्दर एयर इण्डिया के नाम आवश्यक अधिकार पत्र लिखकर द दिया था। सोचता हू, विदेशो म बसे भारतीय कभी-कभी विदेश म आये हुए अपने देशवासियो की कठिनाई को समझने हल करने म कच्चे क्या पड जाते हैं ? लेकिन अवश्य ही यह हमेशा और सभी पर लागू होने वाली बात नही है—लन्दन म हम दोनो को मिला त अपरिचित भारतीय परिवारो न जो अपनत्व ही नही आश्रय-स्थल भी मिला—वह न तो भूलने की चीज है और न उसस कभी उऋण होने की सोच सकता हू।

3 जनवरी, 1977 को प्रात 10 बजे स आरम्भ हुए 24 घण्टे इस जीवन के सबस कठिन और विचित्र घण्टे साबित हुए। एयर इण्डिया ने टिकटो म ब्रसल्स से प्राग के लिए 10 बजे सुबह उडान दिखाई थी। हवाई अड्डे पर पता चलता है कि साढे चार बजे शाम तक कोई उडान नही है। 11 55 दोपहर की एक विशेष उडान का पता चलता है। लेकिन वह जहाज भी उडता शाम को ही है और चूकि प्राग मे मौसम खराब है उडान फ्रैंकफुर्त पर समाप्त घोषित कर दी जाती है। और फिर सारी रात तीन रेलगाडियो मे सारा सामान चढाते-उतारते-ढोते सुबह प्राग जाकर लगते हैं। लेकिन मुसीबतें खत्म नही होती। भाषा अनजानी,

मुद्रा अनजानी, टेलीफोन करने की प्रणाली अनजानी। दो घण्टे प्लेटफार्म पर टक्करें मारी तब सम्पर्क अधिकारी और दुभाषिये के दर्शन हुए। लन्दन में अहसास हुआ था कि काउंटर के उस पार खड़े गरजमन्द अर्जीदार के प्रति, कुर्सी पर बैठे अधिकारी का रूखा-सूखा और टालने का रवैया हो तो कैसा लगता है—यहाँ समझ में आया कि गाँव के बेपढ़े, सरल व्यक्ति को शहर में क्या कठिनाइयाँ हो सकती हैं।

ये मीठे कड़ुए अनुभवों संस्मरणों की यह दास्तान तो ज़िन्दगी जितनी लम्बी है। विदेश प्रवास के एक संस्मरण से बात खत्म करूँगा। लौटते हुए एक बार फिर पश्चिमी जर्मनी का फ्रैंकफुर्त हवाई अड्डा। चारों तरफ वैभव और चमक-दमक। हवाई अड्डे पर एक सुसज्जित सैक्स शॉप भी, सैक्स शो का भी प्रबन्ध। लेकिन प्यास बुझाने के लिए एक मात्र सस्ते साधन मिनरल वाटर तक के दाम देने लायक पैसे जेब में नहीं और पत्नी को प्यास लगी है। हांगकांग में व्यापार कर रहे भारतीय मूल के दो लखपति युवकों से परिचय होता है। वे वक्त काटने के लिए जुआ मशीनों में सिक्का डालने का खेल खेलते हैं। मुझे सिक्का डालने को देते हैं। जैक पॉट। खन खन करते हुए मार्क्स आ पड़ते हैं। मुझे भाग्यशाली बताकर फिर सिक्का डलवाते हैं। फिर जैक पॉट। लेकिन उनका सिक्का से मतलब नहीं है। सारी कमाई देखते-देखते फिर मशीनों के पेट में समा जाती है। हँसते खिलखिलाते वे लौटते हैं। मैं भी। पत्नी फिर भी प्यासी है। काश! एक मार्क भी मेरे पास रह पाता!

ज़िन्दगी में पहली बार समझ में आया कि गरीबी क्या चीज़ है, गरीब की लालसा और मजबूरी क्या होती है—लोगों को धन लुटाते और दावतें खाते देखकर उस पर क्या बीतती है?

लेकिन प्रश्न यही है—क्या ऐसे अनुभव भी हम खाते-पीतों को तनिक भी बदल पाते हैं? काश, वे बदल पाते।

## देखी तेरी बम्बई
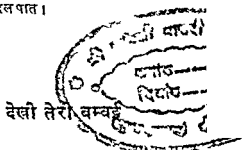
हवाई जहाज़ में आ बैठा हूँ। मित्र दूर, वहीं रुके गए हैं, रेलिंग के पास। रेलिंग से लगी हुई है मेरी बच्ची खड़ी है। कितनी निरीह, कितनी प्यारी लग रही है। कैसा होता है यह अनुभव—जीव दुनिया से जाने के क्षण जैसा। मनुष्य एकाएक अपने आपको सबसे कटा हुआ अकेला अनुभव करने लगता है। अपनी कमज़ोरियाँ एकाएक उजागर हो जाती हैं, सोये हुए सारे स्नेह जाग उठते हैं

था। अब छः सात सौ कमाता हूँ। रिश्वत भी देता हूँ। बोला हुआ कि नहीं ये भगवान।

गरीबी हटाओ का नारा हमने उठाया, बईमानी हटाओ का कब उठायेंगे ? क्या गरीबी ज्यादा बुरी है बेइमानी से ? या गरीबी हटने के बाद बेईमानी खटकती नहीं जैसे गैंडे की खाल में पलने वाले जानवर ? क्या गरीबी हटने से ही बईमानी हट जायेगी ? क्या पहले गरीबी हटाओ—फिर बेईमानी की सोचेंगे ? कौन जाने जवाब कौन सा सही है। लेकिन अमेरिका वगैरह में बेहिसाब अमीरी के बावजूद भी लगता है बेइमानी चलती है, अखबार की खबरें कुछ ऐसा ही बोलती हैं। लन्दन में अश्लील साहित्य की बिक्री को लेकर भी ऐसा ही कुछ पढ़ा था। क्या कभी भी मानव-समाज बईमानी से मुक्त रहा है ?

लेकिन इस चक्कर में बम्बई छूटा जा रहा है। यह बायें रास्ता जुहू जाता है। यह वह हवाई अड्डा है जिसका सांताक्रुज समझकर, जाने या अनजाने, एकाधिक हवाई जहाज उतर चुके हैं और भयानक दुर्घटनाएँ होते होते बाल बाल रह गई हैं।

कांदिवली का लेवल क्रासिंग आ गया है। फाटक बन्द है। बगल में एक कार खड़ी है जिसके मालिक पालिडार ही जा रहे हैं। मैं टैक्सी का भाड़ा चुकाता हूँ—10.40 रु० और सज्जन से इजाजत लेकर उनकी गाड़ी में जा बैठता हूँ।

4.30 बज गए हैं। कांदिवली रेलवे स्टेशन से लोकल का टिकट लिया है। थर्ड का 90 पैसे लगता है। फस्ट का 5.80, 25 एक मील का रेट है। ट्रेन बम्बई को घुर चीरती हुई निकलती जाती है—जैसे मरीज के शरीर में से डाक्टर का नश्तर। अजीब दृश्य है—सुदूर में गगनचुम्बी अट्टालिकायें रेलवे लाइन के साथ-साथ लगभग पूरी दूरी में झुग्गियाँ गन्दी बस्तियाँ डेअरियाँ, मकान जिन्हें मकान कहते शर्म आये। कीचड़ के बीच में मकान, मकानों के बीच में कीचड़, टट्टी करते बच्चे, घूरों पर चुगते मुर्गे मुर्गियाँ यह बम्बई का पिछवाड़ा है। एक नाम लिखा दीखता है— सर्वोदय हिन्दू होटल । रिंद के रिंद रहे हाथ से जन्नत न गई !

सब तरह के चेहरे, हँसते चेहरे, प्रफुल्लित, स्वस्थ चेहरे, म्लान, पीले चेहरे, चुस्त आत्मविश्वासी स्त्रियाँ, गतयौवनायें। लेकिन सबसे ऊपर उभरकर आने वाला एक भाव मनुष्य की विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की शक्ति असीम है, जीवनेच्छा उत्कट है। वह सब झेलता है अवसर भोगता है फिर भी जीवित रहता है। चूहा ने पिंजरे के अन्दर ही सारा सरजाम कर रखा है—कैबरे वाले होटल, सन एण्ड सैण्ड ताजमहल मूंगफली चबेना धूप सामग्री की ढेरियाँ आधे कटे केले भेलपूरी 'व्हेअर बुलटस फ्लाई' के कामोद्दीपक पोस्टर जिन्हें कोई समाज सुधारक देखले तो रात भर सो न पाए। इम्पार्टेड साड़ियाँ, पेन घड़ियाँ

न्यू स्लाइड वेचते हाकर, मरिन ड्राईव की कार दौड़, चचगेट की चमचख, मोटे चूहे अमीर और दुखी चूहे, गरीब और दुखी चूहे, कुछ गिने चुने सुखी चूहे और कुछ दुबले चूहे ।

चच गेट से लौट रहा हूँ। स्लो ट्रेन है। भीड वढती जा रही है। बान्द्रा आते आते इतनी वढ जाती है कि लघु आकार वाले शरीर के और लघु हो जाने का खतरा हो चला है। भीड मे दबी सकुची एक महिला खडी है। उसका साथी पुरुष निरुपाय उसकी वाह सहला रहा है। महिला की आखो मे एक भाव है। पुरुष की आखा मे भी। मैं इन भावो को समझ तो पा रहा हूँ लेकिन बयान नही कर सकता। मनुष्य का दोप नही है। इस भागदौड—इस भीडभाड मे सचमुच ही सिवाय पेशेवर समाज सेवका के, कोई कुछ नही कर सकता। मनुष्य का पहला पाप एक अमानवीय समाज रचना करने का है। उसके वाद दोप सारा उस जीवनक्रम, उस समाज रचना का है। अभी इस ट्रेन मे लटकता हुआ कोई व्यक्ति गिर जाय, उसकी एक टाँग ट्रेन से कट जाय, तो क्या मैं रुककर उसके लिए कुछ कर सकूगा ?

राम राम करके वान्द्रा—चचगेट से बान्द्रा फस्ट का 2 65 रु०। टैक्सी। रात का एक वज रहा है। कादिवली से चचगेट और वहा से लगभग विक्टोरिया टर्मिनस तक हो आया हूँ। फ्लोरा फाउन्टेन से पुराने कबाडियेपन की आदत के वशीभूत होकर पाच भारी भरकम पुरानी किताबे ले आया हूँ। राम जाने हवाई जहाज वाले ले जाने भी देगे या नही। लेकिन बाकी सोच विचार कल। बहुत थक गया हूँ। अब विश्राम।

अच्छा घी 18 रु० किलो। दूध 90 पैसे 1 70 या 1 80 तक वडी गर्मी है—लडका कह रहा था अब वारिश भी ऐसी ही हो तब कोई वात है।

दूसरा दिन। जिनसे मिलना है उन्होने दोपहर का समय दिया है सुबह खाली है। रीगल म 'गन्स ऑफ नेवरोन" लगी है। पहले नही देख पाया था। आज देख रहा हूँ। 1943, द्वितीय महायुद्ध की एक कहानी 4000 ब्रिटिश सैनिक एक द्वीप पर घिरे है। छै व्यक्तियो का एक दस्ता नेवरोन भेजा जाता है। उद्देश्य—*उन जमन-मारक तोपो का विनाश जिनकी वजह से घिरे हुए सैनिका की मदद* नही की जा सक रही है। अनेक रोमाचक घटनाओ के वाद उद्देश्य की प्राप्ति—छै मे से तीन की वलि के वाद। वहुत वढिया युद्ध चित्र, लेकिन वह वात नही जो 'वैटल आफ ब्रिटेन" लॉरेन्स आफ अरबिया" 'वार एण्ड पीस' या 'डाक्टर ज़िवागो" मे थी।

भेट के लिए ठीक तीन वजे पहुँच जाता हूँ। राजस्थान के लाक सगीत विपयक 'मास्टर टेप जिसे दो दिना से एक वहुमूल्य खजाने की तरह सीने से चिपकाये घूम रहा हूँ रिकार्ड कम्पनी के प्रवन्धक के हवाले करता हूँ। उनसे

शास्त्रीय संगीत के एक उभरते सितारे का ज़िक्र करता हूँ। वे जवाब देते हैं—शास्त्रीय संगीत ? एक नितान्त नये कलाकार की रिकार्डिंग ? क्या आप जानते हैं कि फलाँ गायक द्वय जो काफ़ी जाने माने हैं के रिकार्ड की 400 प्रतियाँ भी बचनी मुश्किल हो रही हैं। सच्चे लोक संगीत के अछूते फील्ड की बात उठाता हूँ। लोक संगीत ? वे बताते हैं—राजस्थान के विवाह गीतों का रिकार्ड बनाने की बात चली थी। आप विश्वास करेंगे कि 300 प्रतियों की ज़िम्मेदारी लेने वाले भी नहीं मिले। चलिए, होगा—सिर्फ फिल्म संगीत के रिकार्ड भरे जायेंगे। लोक संगीत के रिकार्ड बनेंगे तो भ्रष्ट, बनावटी संगीत के, बेमेल शहरी बाजों के साथ। आशा की एक ही किरण है, एक फिल्म प्रोड्यूसर एक फिल्म का 10" का रिकार्ड बनवाना चाहते हैं ? कारण फिल्मों में गानों की संख्या कम होती जा रही है, 12" का रंगुतर एल पी रिकार्ड भर जाना मुश्किल हो चला है।

कुछ खरीददारी करता हूँ। फ्लोरा फाउंटेन पर 40 पैसे के चार चीकू लेकर खा लेता हूँ। फिर चर्चगेट स्टेशन। फिर बान्द्रा, फिर घर—इस बार पैदल। रात। नींद। मच्छर।

बम्बई में तीसरा और अंतिम पूरा दिन। मेरे मेज़बान मेहरबान आज का दिन मेरे लिये निकालते हैं। उनके साथ गेटवे ऑफ इंडिया जाता हूँ। वहाँ से 3½ रुपये का आने-जाने का ऐलिफेंटा गुफाओं के लिये नौका का टिकट। लगभग 13 मील का सफर—एक घण्टे का रास्ता। ऐलिफेण्टा का अनोखा-सौंदर्य—जितना विशाल उतना ही कोमल और लचित। अर्धनारीश्वर, शिव विवाह, त्रिमूर्ति महेश्वर जैसे मूर्तिकला के और कितने उदाहरण मिलेंगे संसार में ! रोम और ग्रीस की मूर्तिकला कोई कम नहीं थी। लेकिन वहाँ शरीर के स्तर से परे, आन्तरिक सौंदर्य को उजागर करने वाली वैसी दृष्टि कम ही परिलक्षित होती है जिसने सदियों तक हमारे मूर्तिकारों को प्रेरित किया है। सिर्फ पैसे के लिए काम करने वाले लोग ऐसी कृतियाँ नहीं रच सकते थे। अवश्य ही कला उनके लिए धर्म का दर्जा रखती होगी। और इसी सिलसिले में एक और बात। सौंदर्य के लिए कैसी अचूक पकड़ थी हमारे पूर्वजों में, कितना अवकाश था उन्हें कला प्रेम को मूर्त करने के लिए। ज्यादातर मन्दिर ऐसी जगहों पर बने हैं जहाँ प्रकृति का सौंदर्य बेहिसाब बिखरा पड़ा है, और हम ? हम जो सौंदर्य हमारे पुरखे हमारे लिये छोड़ गए हैं और जिसका बहुत सा भाग वक्त और कुछ लोगों के हाथ पहले ही विनष्ट हो चुका है को कुरूप बनाने में लगे हैं। जो गदा से बचा उसे गेरू ले डूबा, जो कालचक्र से उबरा उसे कुचक्री तस्कर ले उड़े।

लौटते हुए बम्बई से पश्चिम समुद्र तट का विहंगम दृश्य देखने को मिलता है। गेटवे ऑफ इंडिया के पीछे नया ताजमहल होटल खड़ा हो गया है जैसे धोती कुर्ता पहने वृद्ध पिता के पीछे बेल बॉटम में सज्जित उद्धत बेटा खड़ा हो। या तो यहाँ

गेटवे ऑफ इंडिया को नहीं होना था या इस नये होटल को। सारे बम्बई का यही हाल है। पुराने मुस्लिम-गुजराती ब्रिटिश स्थापत्य का रंग नई,गगनचुम्बी इमारतों के मेल से बदरंग हो रहा है। *स्थापत्य की एक खिचड़ी पक रही है, लेकिन शायद इसका कोई इलाज नहीं है।*

सहकारी कैन्टीन में कुछ खाने के लिये रुक जाते हैं। एक रुपये साठ पैसे में काफी कुछ मिल जाता है दक्षिण भारतीय ढंग का। मेजबान बताते हैं—दस साल पहले 90 पैसे में पूरा खाना मिल जाता था। यहां से बात चल निकलती है बम्बई की महँगाई की और यहाँ पर चलने वाले जीवनयापन के लिए सतत संघर्ष की। मैं विचार व्यक्त करता हूं कि बम्बई में आर्थिक रूप से निम्न के लिए भी रह पाना सम्भव है, बहुत अधिक धन वालों के लिए भी मुश्किल मध्यवर्ग की है जिनको "लिविंग स्टैंडर्ड" का ध्यान रखना है, जिसकी आय सीमित है और जिसे टैक्स देने पड़ते हैं। मेरे मेजबान अनेक उदाहरणों के साथ मेरी बात की ताईद करते हैं।

जहांगीर आर्ट गैलेरी चित्रों और कला वस्तुओं का बहुत अच्छा संग्रह और उतना ही उत्कृष्ट प्रदर्शन का ढंग।

मेवाड़ और बूंदी शैली के अनेकों चित्र देखकर गर्व अनुभव होता है। नेचुरल हिस्ट्री विभाग भी कमाल का है। ख्याल आता है—शायद पचास साल बाद हमारी सन्तानों के लिए वन्य पशुओं के नाम पर यही भुसभरे शरीर देखने को रह जायेंगे।

मरीन ड्राईव होते हुए लौटना। 'रानी का नैकलेस' दिन में बुझे बल्ब जैसा आभाहीन लग रहा है। लेकिन तारापोरवाला मछलीघर देखकर तबीयत खुश हो गई। कैसा बढ़िया संग्रह और कैसा बढ़िया प्रदर्शन का ढंग। बम्बई जाएं तो यह मछलीघर देखना न भूलें।

शाम हो रही है। सूरज अस्त होने को है। जुहू का रुख करता हूँ। पहुँचने के पांच मिनट बाद ही सूर्यास्त। चहल पहल से भरे इस रेतील विस्तार पर दूर तक चला जाता हूँ। यह इस महानगरी के लिये फेफड़े का दर्जा रखता है। खिल खिलाते हुए बच्चे, अपनी अपनी परेशानियों को भूले हुए वयस्क। सागर के गर्जन-तर्जन के बीच एक दूसरे के हृदय की धड़कन सुनते हुए प्रेमी युगल। मानो ईर्ष्यालु सागर बार बार उन तक जाना चाहता है और पछाड़ें खा-खाकर रह जाता है। कितना सुन्दर माहौल, एक गीत शक्ल लेने लगता है—

> कौन ये जाने किसके हृदय में किसके लिए क्या भाव छुपा है।
> प्यार से बोलो प्यार मिलेगा, इसमें सारा राज छुपा है॥

लौटता हूँ। एक और बातचीत टैक्सी वाले से। 22 साल पहले मंगलौर से। उस समय भाड़ा 4 आने मील। 10 रुपये के पेट्रोल से दिन भर गाड़ी दौड़ाओ। अब सात रुपये पन्द्रह पैसे में 5 लीटर मिलता है। पिछले दस साल में बहुत बढ़

गया है बम्बई। 20 22000 टक्सियाँ। पहले 3 4000। पहले 60 पैसे प्रति मील अब 1/—रुपये। अपनी टैक्सी, 30 रुपये रोज। भाडे पर चलाने वाले का 10-15 रुपये रोज। मकान किराये बिजली पानी पर 30 35 रुपये खर्च, वही घूसखोरी का रोना—पहले सज्जायापता आदमी को लाइसेंस नहीं देते थे अब 400 500 लेकर दे देते है। इससे टैक्सी में चोरी हो जाने की बात सुनाई देती है। मैं कहता हूँ बम्बई की पुलिस की बहुत तारीफ सुनी थी। हाँ सी० आई० डी० है, टाप क्लास। मेरे मेज़बान ने मोटरसाइकिल वाले ट्रैफिक पुलिसमैनों की भी बहुत तारीफ सुनी थी। परमिट दुकानदार ही दे देता है। शराब खरीदने में कोई कठिनाई नहीं। स्मगलिंग के बारे में एक जानकार कहते हैं कि थोडा बहुत स्मगलिंग भी तमाम बुराइयों की तरह हमेशा चलेगा उसी तरह जैसे हवा में वायरस बहता है। डराने की बात यही है कि वह महामारी न बनने पाये।

लौट रहा हूँ पाली हिल। लिंकिंग रोड से तीसरे रास्ते पर मुडते ही बाई ओर नाले में एक मानव आकृति दीख पडती है ठिठक जाता हूँ। 14-15 साल का एक लडका वहीं सोने की तैयारी में है। पास में एक पिल्ला दुबका हुआ है, मैं उत्सुक हो जाता हूँ। मन को ठेस भी लगती है—नाले जैसी गन्दी जगह में एक मानव लेटा है क्या भई और कोई जगह नहीं है क्या रहने के लिए ? नहीं। सारे मौसम ऐसे ही निकाल देते हो ? हाँ। मा-बाप मर गए। धंधा रद्दी कागज इकट्ठा करता हूँ। कमाई ? दिन भर में दो-ढाई रुपया गुज़ारे को काफी। यह पिल्ला ? अभी अभी कहीं से चला आया है। नाम सय्यद।

बम्बई बहुत बडी है। मैं बहुत छोटा। मेरी बम्बई से साबके की अवधि उससे भी छोटी। लेकिन मुझे लगता है सय्यद से मिलकर बम्बई का धुंधला ही सही, एक रूपाकार मेरे सामने आ गया है। बम्बई सारे पश्चिम भारत का केन्द्र-स्थल भारत की सांस्कृतिक राजधानियों में से एक। स्वतन्त्रता संग्राम के केन्द्र-स्थलों में से एक। बम्बई जहाँ देश के अच्छे से अच्छे कलाकार और लेखक बसते हैं। बम्बई जहाँ 20 लाख लेने वाला हीरो रहता है और 2 रुपये रोज कमाने वाला अनाथ सय्यद भी। अपने से उकताया बम्बई बम्बई में भरमाया बम्बई हँसता जगमगाता बम्बई, अंधेरा व चिपचिपाता बम्बई, गमकता लहलहाता बम्बई, बम्बई बिजबिजाता हुआ नर्क 5000 रु० से ज्यादा प्रति गज़ ज़मीन के भाव वाला बम्बई, एक दूसरे से निर्लिप्त अपनी धुन अपने दुखडे में लिप्त बम्बई मिलजुलकर सब झेलता, हर नये आने वाले के लिए, गटर में ही सही जगह निकालने वाला बम्बई ताजमहल होटल वाला बम्बई नाले में सोते सय्यद वाला बम्बई धर्मयुग, वीकली टाइम्स आफ इण्डिया, ब्लिटज वाला बम्बई हुसैन, खुशवन्त सिंह वाला बम्बई मटो और राजेन्द्रसिंह बेदी वाला बम्बई ऐतिहासिक बम्बई नये से भी नया बम्बई खर-खाटे धंधा वाला बम्बई चकलों और वेश्यालयों वाला

बम्बई—अनन्तरंगी बम्बई, अनन्त रूपी, अच्छा बम्बई, बुरा बम्बई। बेईमानी के साथ गरीबी से समृद्धि के साथ बेईमानी की ओर बढ़ता बम्बई—और विस्तार से देखने के लिए लौटूंगा बम्बई। फिलहाल सायद और टाटा वाले बम्बई—तुझे नमस्कार।

—1972 मे लिखित

## कुन्दन कण्ठी सहगल  एक पुण्य स्मरण[1]

तीसेक साल पहले की बात है। पाच छ वर्ष का एक बच्चा है ? घर मे हारमोनियम पर बालम आय बसो मोरे मन म और 'तड़पत बीते दिन रैन गाये जाते हुए सुनता है। गीतो के अर्थ उसकी समझ के बाहर ह ? ये बालम कौन होता है जी ? और कहानी सुनते सुनते आराम से सोजाने की बजाय तारे गिनते रहने म क्या तुक = ? लेकिन गाने उसे अच्छे लगते हैं। उसके स्कूल मे एक लड़का 'साजा राजकुमारी सोजा' गाता ह। कित्ता प्यारा गीत। लेकिन पिता की साइकिल पर स्कूल जाने वाला वह छोटा सगीतप्रेमी, इतने बड़े लड़के और कलाकार से फर्माइश करके वह गीत बार-बार कैसे सुन ? हाय रे बालपन की छोटी-छोटी खुशिया छोटी छोटी मजबूरियाँ। फिर कुछ दिन बाद, वह खुद 'बाबुल मोरा नेहर छूटो जाए' को टूटे फूटे और गलत सलत ढग से गाने लगता ह। लेकिन लोग कम गाने को उससे बार बार सुनते हैं—यहाँ तक कि भैरवी के कोमल, दर्दीले स्वर अनजाने मे उसके जीवन सगी बन जाते है। कुछ वक्त और गुजरता है। वह 'मेरी बहन' और 'तानसेन' फिल्म देखता है। 'मेरी बहन' के 'दो नैना मतवारे तिहारे' और छुपा न छुपा न रह प्यारी सजनिया'—और इस गाने के साथ चलने वाली सजनिया की लुका छिपी-उसे बहुत अच्छे लगते हैं। लेकिन जब वह इन गीतो को गाता है तो बड़े बूढ़े बुरा सा मुह बनाते ह। क्या भला? 'तानसेन' खासतौर से उस पर जादू कर देता है और वह उसे बार-बार देखता है कभी इजाजत लेकर, कभी स्कूल से 'गोल' होकर। सप्त सुरन तीन ग्राम' म अपने आप साजो का बज उठना। वाह। और वो 'रुमझुम-रुमझुम चाल तिहारी' से पागल हाथी का बस म आ जाना। क्या कहन ! दिया जलाओ' मे देखा, दिए कैसे जल उठते हैं—एकाएक जगमग जगमग ?

---

1 राजस्थान पत्रिका 18 1 1970

कुछ साल और। अब घर में रेडियो है जिस पर वह 'देवदास', 'सूरदास,' 'परवाना' और 'शाहजहाँ' के गाने सुनता है—'मेरे सपनों की रानी', 'ऐ दिले बेकरार झूम', 'चाह बर्बाद करेगी', और तभी खबर आती है कि उसके इन मन पसन्द गीतों का चहेता गायक कुन्दनलाल सहगल अब नहीं रहा। 'जब दिल ही टूट गया, हम जी के क्या करेंगे...।' गायक की आवाज़ और दिल दोनों टूट गए थे। और वो नहीं रहा, सुनने वालों को अधबीच में छोड़कर चला गया। 'ज़माना बड़े शौक से सुन रहा था, हमीं सो गए दास्ताँ कहते-कहते...।'

और आज वह बालक बड़ा हो चुका है। इन पंक्तियों को लिखते समय उसके रखे प्लेयर पर सहगल के गाने बज रहे हैं एक-के बाद एक : 'जीवन बीन मधुर न बाजे', 'दुख के अब दिन बीतत नाही', 'लाई हयात आए कज़ा लेचली चले', 'ऐ कातिबे तकदीर ... सुनो-सुनो हे किशन काला', 'प्रीत में है जीवन जोखो ...' एक गीत-सफर, सुर का, राग का, ज़िन्दगी में घुले दर्द में से खींचकर निकाले गए सोज़ का एक दरिया, एक कारवाँ एक पूरे युग की तेज़ हुई धड़कनों का टेप...। सहगल चले गए। मुद्दत हो गई उन्हें गए। लेकिन मेरे लिए वे अब भी एक ज़िन्दा हकीकत हैं। और निश्चय ही इस मामले में मैं अकेला नहीं हूँ। लाखों हिन्दुस्तानियों का दिली जज़्बा है यह।

अभी कुछ ही महीने पहले की बात है। एक नौजवान ने ताज़ा फिल्मी गीत की फर्माइश करते हुए कहा था— आखिर कब तक कोई 'बाबुल मोरा नैहर' सुनता रहे? उसको हक था यह कहने का। हर युग, बल्कि हर पीढ़ी को यह हक है कि वो नई-से-नई चीज़ें रचे देखे सुने। नए से बैर एक जंग लगी मूर्खता है। सहगल खुद नए थे क्रान्तिकारी थे, उन्हीं अर्थों में जिनमें प्रेमचन्द और निराला, बरूआ और शान्ताराम, अमता शेरगिल और मातखण्डे क्रान्तिकारी थे। लेकिन संसार का नियम है कि हर नई चीज़ भी पुरानी पड़ जाती है। वैसे भी सहगल मनुष्य थे और मनुष्य भगवान नहीं होता। आज जब हम विचारते हैं तो सहगल के अभिनय और गायन में कई कमियाँ दिखाई जा सकना नितान्त सम्भव है। उनकी धुनें सीधी सादी और अक्सर अपने को दोहराती हुई-सी होती थीं। आरकेस्ट्रा तब भारी भरकम नहीं होता था। पाश्चात्य धुनें, साज़ और रिदम्स भी तब नहीं थे। कई मानों में अशोक और दिलीप जैसे अभिनेता, सचिव देव जैसे संगीत निर्देशक, किशोर और रफी जैसे गायक, सहगल के युग को पीछे छोड़कर बहुत आगे बढ़ आए हैं।

लेकिन इस सबके बावजूद सहगल महान् हैं क्लासिक हैं, और उनकी ओर लोग बार-बार लौटते रहे हैं लौटते रहेंगे। क्यों? आखिर क्यों?

सहगल की महानता का एक सूत्र भारत में सिनेमा के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। सवाक् फिल्मों का युग शुरू होने पर पश्चिम की भोंडी नकल, गोर-

शरावे और थियेटर की नाटकीयता की जद से निकलकर जब भारतीय सिनमा
आधुनिकता की महती सीढ़ियाँ चढ रहा था तो उसकी उँगली पकडने वाला मे
वरूआ, शान्ताराम हिमाँशु राय, बी० एन० सरकार, देवकी बोस नितिन बोस,
आर० सी० बोराल, पँकज मल्लिक इत्यादि के साथ सहगल भी थे। 1930 म
150 रु० माहवार पर वे न्यू थियटस के मुलाजिम बन, पूरण भक्त के एक गाने
स चमके और 'देवदास' बनकर हिंदुस्तान पर छा गए। आज फिल्मी गायन का
जो स्वरूप है (यानी सही मानो मे गायन समझे जा सकने वाले सगीत का जिसम
कान फोड और फूहडपन शामिल नही है)—सहज स्वाभाविक, शालीन वह
शायद सहगल के अभाव म असम्भव ही रहता। यह यूं ही नही है कि आज के
बडे-स-बडे सिन निर्देशक और गायक सहगल का मुक्तकण्ठ से खिराजे अकीदत
पेश करते हैं।

दूसरे एक कलाकार क रूप म भी सहगल बहुत ऊँचे थे। स्वर सम्राट की
उपाधि उन्हे अकारण ही नही मिली थी। कहा जाता है कि प्रयाग की एक
कान्फ्रेंस म उनके बाबुल मोरा नैहर ' को सुनकर उस्ताद फय्याज खाँ न उन्हे
गले लगा लिया था। राग गाँधारी म गाया गया झुलना झुलावो री सुनिये
कितनी साफ तानें हैं। उनके कण्ठ म सरस्वती का वास था—ऐसी सागर जैसी
गम्भीर झरने के पानी-सी साफ और शहद सी मीठी आवाज जो कदम बाँध ले
दर तक जहन मे गूँजती रहे—वही तासीर जो पाकिस्तान की बंजारन गायि
रेशमा की आवाज मे कमोबेश है। यह भी हम ध्यान रखे कि उनके जमान
तकनीकी पक्ष बहुत पिछडा हुआ था। बोराल बताते है कि बाबुल मोरा नहर का
पिक्चराइजेशन प्लेबैक क जमाने से पहल के दिनो म किस प्रकार हुआ था—आग-
आगे एक ट्रक म कमरा चला, उसके पीछे पैदल, गले मे हारमोनियम डाले गाते
हुए सहगल चले, एक दूसरे ट्रक पर साजिन्दे थे और तीसरे ट्रक पर साउण्ड रेका
डिस्ट वगरा थे । आज के वातानुकूलित और सर्वांगसम्पूर्ण स्टूडियोज मे,
सिक्सटी पीस' आरकेस्ट्रा के साथ रेकाड किए गए कितने गानो मे वो असर आ
पाता है ?

तीसरी और सबसे बडी बात, कम से-कम मेरे नजदीक, यह है कि सहगल
एक विशाल हृदय वाले बडे इन्सान भी थ और मेरा विश्वास है कि बिना सहृदय
और अच्छा इन्सान हुए किसी के लिए भी महान कलाकार हो पाना सम्भव नही
है। दूसरे यह भी जरूरी है कि उसके दिल मे दद और इन्सानी ट्रेजेडी के साक्षा-
त्कार से पैदा हुआ सोज, जहन म गहराई से विचार करने का माद्दा और आत्मा
म किसी बडी आस्था या लगन का प्रकाश हो। किसी भी क्षुद्र, स्वार्थी, सकीण
और गल ५ गाने वाले, महज ताल-सुर की पक्की मशीन के लिए सहगल हो पाना
सम्भव नही है। वे अति का मदयपान करते थे और वही उनको ले डूबा। इसके

बावजूद वे आजीवन एक सच्चे प्यार और खुशदिल इंसान रहे अपने फन को समर्पित, दोस्तनवाज़ स्वाभिमानी। के० एन० सिंह बताते हैं कि किस प्रकार वे एक रईस, जिसने दावत पर बुलाकर उन्हें उनसे गाना भी सुनना चाहा था की महफिल को ठुकराकर एक मामूली स्टूडियो-वर्कर की लड़की की शादी में शामिल हुए और देर तक गाते रहे। जिस वेश्या से 'कौन बुझाये तपिस मोर मन-की' सुनकर सुरा की मोहब्बत उनके दिल में जागी थी, बाद में, उसकी बीमारी और मजबूरी के दिनों में, जब वे खुद प्रसिद्धि के शिखर पर थे, वे दो हज़ार रुपये उसके चरणों में रख आए थे। अपने दोस्त—मोतीलाल की जन्मदिन की पार्टी में, बीमारी की वजह से न बुलाये जाने के बावजूद ये स्वयं पहुँचे और रात तीन बजे तक गाते रहे। हँसमुख और हाज़िर-जवाब गजब के थे। बी० एन० सरकार ने कहा 'तुम नशे में जमीन पर पड़े थे'। 'नहीं सर, वहाँ कार्पेट बिछी हुई थी' उत्तर मिला। अपनी मर्ज़ी के मालिक। मूड हुआ तो बिना किसी से कह सुने कई-कई दिनों के लिए गायब हो गए। मूड हुआ तो काम के आगे और सब भूल गए।

ऐसा था वह अलबेला अनूठा गायक, साज़ सुर, मस्ती और कशिश की प्रतिमूर्ति कुन्दनलाल सहगल जो टाइपराइटर बचता-बेचता युग गायक बन बैठा और, अवसर सिर्फ एक हारमोनियम और एक अदद तबला जोड़ी की मदद से अपने अमर सुरों को, संसार रहने तक के लिए सितारों के बीच-बीच आकाश में टाँकता चला गया। अतिशयोक्ति लगे तो क्षमा करें क्योंकि ज़ाहिर है कि मैं सहगल का आशिक भी हूँ मुरीद भी। मुझे कला के संस्कार उनसे मिले अच्छे-बुरे गाने में तमीज़ करना उन्होंने सिखाया ज़िन्दगी की अच्छी चीज़ों से पहचान की शुरुआत उन्होंने कराई। इसलिए इसे एक संतुलित समीक्षा या विवेचन न समझें, सहगल के संदर्भ में, उन्हें लिखने के लिए मैं अपात्र हूँ। मैं तो सिर्फ आज सहगल की तईसवीं बरसी पर, उन सबको जिन्हें सहगल से प्यार है या जिनके लिए सहगल सिर्फ एक अच्छी आवाज़ वाला नाम है और उनको भी जिनके लिए सहगल सिर्फ एक दकियानूसी असंगति है, सहगल की याद दिलाकर, एक भारी ऋण से किंचित उऋण होने की नाकाम और अदना कोशिश कर रहा हूँ।

मैं नहीं जानता पुनर्जन्म होता है या नहीं, भगवान हैं या नहीं और हैं तो हमारी आपकी बातों, प्रार्थनाओं को गौर के काबिल समझते हैं या नहीं। लेकिन यदि भगवान हैं प्रार्थना सुनते हैं और पुनर्जन्म भी होता है तो, ए भगवान सहगल फिर से इस देश में जन्म लें।

# देवो का दुर्ग, कुम्भलगढ

कुम्भलगढ देखकर अभी अभी लौटा हूँ।

मैं उदयपुर से नाथद्वारा एकलिंगजी, कांकरोली राजसमन्द और चारभुजा होते हुए आया। वैसे चाहें तो उदयपुर से सीधे केलवाडा भी आ सकते हैं परन्तु पहले रास्ते में दर्शनीय स्थल अधिक पडते हैं। ऊँट पर बैठना न आता हो तो कार या जीप का प्रबन्ध करके आवें। केलवाडा से कुम्भलगढ चारेक मील पड जाता है और पूरा रास्ता पहाडी चढाई-उतराई का है। डाक बंगला है केलवाडा मे। उदयपुर से कुम्भलगढ-रणकपुर के लिए टैक्सी भी की जा सकती है।

हाँ, तो सुन रखा था कि केलवाडा मे सर्दी काफी पडती है (केलवाडा समुद्र तल से कोई 3000 फीट ऊपर है और गढ तो फिर इससे भी ऊपर है)। परन्तु रात को सर्दी कोई विशेष नही लगी। अस्तु सुबह उठकर बाणमाता और पार्श्वनाथ के मंदिरो को देखने के उपरान्त जब आठ बजे के लगभग गढ की ओर मुह किया तो पर्यटक का उत्साह और इतिहास के विद्यार्थी की जिज्ञासा दोनो ही मुझसे आ मिले थे।

केलवाडा के ऊपर खारी नदी के उद्गम स्थल पर ही एक बाध बाधकर एक तालाब बना लिया गया है। इस मनोरम स्थान से जब पहले पहल दोनो ओर की पर्वतमालाओ की बाहो में बाह गूथे खडे बाहरी प्राचीर के पहले फाटक, आरेट पाल के दर्शन हुए तो सच मानिए, ऐसा लगा मानो किसी अज्ञात रहस्यमय 'लौस्ट वर्ल्ड' के प्रवेश द्वार पर आ खडा हुआ होऊँ। लगा जैसे जनरव से दूर मनुष्यो की बस्ती से अलग और ऊपर, कोई देवताओ की क्रीडा भूमि है जिसका द्वाररूपी यह प्रहरी अडिग और निर्विकार खडा है।

परन्तु यह न समझियेगा कि आरेटपोल (पोल राजस्थान मे दरवाजे को कहते है) पहुँचकर ही आप कुम्भलगढ पहुँच गये। जी नही मुख्य दुर्ग तो यहा से दो मील आगे है। जिसकी दोनो ओर की बीहड चट्टानो मे एक कठोर अन्तर मे भी घर कर लेने वाली कोमल भावनाओ की तरह हरियाली ने स्थान बना रखा है, ऐसी एक घाटी मे से होकर रास्ता गया है। और यह लीजिए, यह आ गया हल्ला पोल। थोडा आगे तो बढिये। बस। और अब जरा सिर उठाकर देखिए—वह सामने कुम्भलगढ खडा है। समय के साथ काली पडी हुई इन सुदृढ और विशाल प्राचीरो को देखिये जिनके पत्थर-पत्थर मे कहानी है, झरोखे झरोखे मे इतिहास। उन सुदृढ बुर्जों और मीनारो को देखिये जिनके कगूर दुर्धर्ष रणशक्ति के सिंहासन हैं। लगता है जैसे स्वय कालपुरुष युग युगान्तर के लिए व्यूह रचना करके बैठ गया हो।

सार मे पड जाना पडता है देखकर। हम इस बीसवी सदी मे वन्ता-कारगरी की विशालता और यान्त्रिक चातुर्य पर मुग्ध होते रहते हैं। सैकडो वर्षों म धूप और पानी के थपेडे खाते खडे इन प्राचीन स्मारको को भी हम देखें। कितने धैर्य, कितने चातुर्य, कितने उद्यम की जरूरत ना पडी होगी इन विशाल चढती उतरती फसीला को बनाने म जिनका घेरा 12 मील के लगभग है और जिनकी चौडाई 15 से 30 फीट तक है और दीवार भी एक नहीं, दो नही, दीवारों का एक पूरा जाल। पग पग पर व्यूह रचना, पग पग पर दुश्मन के दांत खट्टे करने का आयोजन। एक के बाद एक चार द्वार बाहरी फसीलों के—आरेटपोल, हल्लापोल, हनुमानपोल और विजयपोल, और फिर भैरोपोल, नीबूपोल, चौगानपोल, पागरापोल और गनशपोल, इन पाँच द्वारो के पीछे सुरक्षित भीतरी छोटा किला यानी कटार गढ। कटार गढ के अन्दर ही जहाँ पहले महाराणा कुम्भा व महाराणा उदयसिंह प्रभति के बनाये हुए झालिया मालिया इत्यादि महल थ, वही अब महाराणा फतेहसिंह के बनवाय मर्दाने और जनाने महल हैं। इन महलों के ऊपर चलकर देखिये तो जरा। आप देखेंगे दूर-दूर तक हरी घाटिया और ताम्रवर्णी चट्टानो को आलिगन म बाधे प्राचीर और कठहार मे पिरोई हुई मुक्ताओ जैसे भव्य बुर्ज जिनके झरोखो मे हरहराता हुआ पवन आख मिचौली खेलता है।

पर ठहरिये, यह मैं कहाँ स कहाँ पहुँच गया। मैं तो आपके साथ हल्लापोल पर था न। तो चलिये, आगे बढें। यह आपके दायें वह मगरी या पहाडी है जहाँ से मुगलो के तोपखाने न गढ पर गोले बरसाये थे। और आगे, यह है वह बावडी जो मुसलमान घेरा डालने वालो न अपने उपयोग के लिए बनाई थी। जी हाँ, उस जमाने म घेरे हफ्तो, महीनो चलते थे और मुगल सेना तो एक पूरा का पूरा शहर होती थी। गढ पास आता जा रहा है और लीजिये, अब हम हनुमान पोल पर पहुँच गये। इधर देखिये, बायें। हनुमान जी की इस मूर्ति को राणा कुम्भा नागौर से जीतकर लाये थे। यह है विजयपोल, दक्षिण दिशा का प्रमुख प्रवेशद्वार और अब हम गढ के अन्दर हैं।

मैंने कुम्भलगढ को देवो का गढ कहा है। उसका एक कारण यह भी है कि दुर्ग मे हिन्दू देवी-देवताओं और जैनो के सैकडो मन्दिर हैं। या यो कहे कि थे क्योंकि आज तो उनमे से अधिकतर खण्डहरो मे बदल चुके हैं। कर्नल टाड ने लिखा है कि इसी स्थल पर पहले शायद चन्द्रगुप्त मौर्य के वशज सम्प्रति राज (द्वितीय शताब्दी ई०पू०) का बनवाया हुआ किला था और इस बात की पुष्टि यहा अब स्थित अनेकानेक जैन मन्दिरो के खण्डहरों स होती है। विजयपोल के बायी ओर वह प्रसिद्ध वेदी है जहाँ महाराणा हवन-होम करते थे। इस वेदी के पीछे तीन देवियो का मन्दिर है। इसके पीछे थोडा बायें हटकर है नीलकण्ठ

महादेव का मन्दिर। इस भव्य शिवलिंग को देखें—चार फीट ऊँचा और करीब इतने ही व्याम का। कहते हैं राणा कुम्भा पद्मासन में बैठे बैठे इसके शिराभाग पर तिलक करते थे। वेदी के सामने विजयपोल के बायीं तरफ गणेश और चार-भुजा के मंदिर हैं और भी अनेको मंदिरो के भग्नावशेष किले मे यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं।

क्या आप किले में घूमना चाहेंगे? लेकिन ठहरिये, बेहतर है कि पहले इस मुख्य महल में चलें और उसकी छतो पर से एक विहगावलोकन कर लें।

देखिए तो, चारो ओर कितना बडा भू-भाग यहा से दीख पडता है। है भी तो हम काफी ऊँचाई पर। इन लहरियेदार प्राचीरो के पीछे देखिये यह पूर्व दिशा में हाथियागुडा की घाटी मे उतरने का रास्ता है। इसे दाणीवटा भी कहते हैं। तनिक घूमिये, उत्तर की ओर इस उपत्यका में होकर पैदलो का रास्ता या टुटया का होरा जाता है। पश्चिम को देखिये टीडाबारी रास्ता इधर ही है। इन उपत्यकाओ मे होकर अनेक रास्ते मारवाड को जाते है। दिन साफ है और दूर-दूर तक कई शहर और बस्तियां भी देख सकते हैं आप। उत्तर-पूर्व मे, वह देखिये, गढबोर और आमेट। उत्तर पश्चिम के कोण में, वह हैं देसूरी और नाडोल। इनके पीछे इसी दिशा मे पाली और जोधपुर हैं और पश्चिम में, कुछ हटकर वह देखते है आप? वह सादडी है और उधर ही जवाई बांध भी है, एरनपुरा के निकट।

और अब जरा किले के अन्दर भी दृष्टि घुमाये। लगभग मध्य मे जो कुण्ड दीख पडता है आपको वह मामादेव का कुण्ड है और उसके निकट ही एक प्रांगण मे राणा कुम्भा द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां हैं। पास ही मे अप्रतिम वीर पृथ्वीराज की छत्री या स्मारक है। बीच में ही, थोडा अपनी तरफ आते हुए जो दो तालाब हैं, वे चीपेला और बडवाताल हैं और वह देखिये, उत्तर-पश्चिम मे जो टूटा हुआ मंदिर आप देखते है, वह है पीतलादेव का जन मंदिर। आपके पास ही, जनाने महलो के पास, कोने में यह है झाली रानी की बावडी। नव दुर्गा का मंदिर भटियानी जी का महल और तोपखाना तो ऊपर आते समय मिले ही थे मार्ग मे। अच्छा, अब जरा पूर्व की ओर भी देखें। वह जो मन्दिरो का झुरमुट-सा देखते हैं आप, वह गोलेरा मंदिर कहलाता है और उसके पास ही वह है वामनवाला तालाब।

मन नही मानता है न? आइये, तनिक सोचें उन गुजरे हुए दिनो के बारे मे जब इस वीराने मे एक पूरा शहर, कुम्भलमेर, बसा हुआ था। कैसे रहे होंगे वे दिन जब सेवार से ढके इन सरोवरो के तीर पनिहारिनो के नूपुरो की छन छन से निरन्तर गूंजते होंगे और उनके स्वच्छ जल में सैकडो सुन्दर मुखडे प्रतिबिम्बित होते होंगे। जब कटारगढ के तोपखाने की गरज राजनगर तक के भू भाग का

भाड कटाया भाली न मिले, रण कटाया राव।
कुम्भलगढ रे कागरे, थू माछर व्हैने आव॥

अर्थात तू चाहे जितनी भाडिया कटवा न, भाली रानी तुझे नहीं मिलेगी और चाहे जितने वीरो को कटवा डाल, राणा तेरे हाथ नही आयेंगे। यदि तू कुम्भलगढ के कँगूरे पर आना चाहता है (गढ मे प्रवेश पाना चाहता है) तो, ऐ मालदेव, इसके लिए तुझे मच्छर का रूप धारण करना पडेगा।

क्यो रे कुम्भलगढ, इतना दुर्गम और अभेद्य समझा जाता था तू? पर नू तो ठहरा पुराना घाघ। बोल थोडे ही देगा ऐसी तरकीबो से।

कुम्भलगढ बोलता नही, यादो मे डूबता जाता है।

उसे याद आता है वह दिन जब पन्ना धाय के ठौर ठौर घूमने के बाद अन्त मे कुम्भलगढ के दुर्गपाल आशा शाह देपुरा ने अपनी मा के कहने से बालक उदय सिंह को शरण दी थी। फिर उसे याद आता है वह दिन जब कुम्भलगढ विगउना की पक्तिया गूज उठी थी और उदयसिंह ने चित्तौ- के लिए प्रस्थान किया था।

परन्तु अकबर के हाथो चित्तौड का पतन हुआ। प्रताप ने कुम्भलगढ को राजधानी बनाया। कुम्भलगढ के बूढे ओठ जैसे कुछ कहने को थरथरा उठते हैं। प्रताप, नरपुगव प्रताप, चेतकवाला प्रताप। 1576। हल्दीघाटी 1577 एक और हार। अफसोस, प्रताप कुम्भलगढ को न बचा सका। काका शहबाज खाँ का घेरा—भान सानीगरा की अद्भुत वीरता, असफलता पतन। कुम्भलगढ की आखे भीग जाती है। परन्तु प्रताप ने तो फिर से जीता था तुझे? तेरे गौरव के दिन पलटे थे न?

*गौरव। कुम्भलगढ की आखो मे एक सवाल छलकता आता है, कितने दिन* का गौरव? कहा था गौरव? क्या गद्दे विद्रोह के नायक रतनसिंह की राजधानी बनने का गौरव। सच कहता है तू कुम्भलगढ, गौरव के दिन शेष हो चले थे। बलिदान के जिस रक्त—सरोवर मे कीर्ति की नौका का बप्पारावल के वशधर खेते आये थे, वह सरोवर सूख गया था वह नौका टूट फूट गई थी। सिसोदिया खून आपस की सिर फुडौवल के पाखरो की कीचड म मिलने लगा। मराठे आए, कृष्णा कुमारी गई। अँग्रेज उभरे, रजवाडे डूबे। रेजिडेन्सियाँ उठी, गढ खण्डहर हुए।

साझ फिर आई है, आइए लौट चलें। इतिहास के बेटे इस पाषाणी भीष्म को अब हम सोने दें। हालाँकि इसे अभी बहुत देर तक नीद नहीं आएगी और आस पास की घाटिया बहुत देर तक उससे पूछती रहेगी, क्या रे कुम्भलगढ! क्या आज भी तू झालिया मालिया पर दीपक नहीं जलायेगा?

# जैसलमेर कुछ यादें, कुछ बातें[1]

अपनी ज़िन्दगी म आदमी न जाने कहाँ कहाँ रहता है और कैसे-कैसे दिन दखता है। लेकिन कुछ जगह और कुछ ज़माने उसके जीवन का खास हिस्सा हो कर रह जाते हैं। मेरे जीवन म जसलमेर तथा अगस्त 1964 से लेकर फरवरी, 1966 तक वहा गुज़रे काल का भी ऐसा ही स्थान है। आपको याद दिलाऊँ कि सीमा पर पाकिस्तान स हमारा सघप इसी दौरान हुआ था और ताशकन्द मम-भौत का समाचार हमे 10 जनवरी की रात को तनोट चौकी स लौटते हुए रामगढ सनिक-कैम्प म मिला था।

जसलमर के बारे म केन्द्रीय और मूल बात वहाँ के थार रगिस्तान तथा कठिन व किसी सीमा तक आश्चय जनक रगिस्तानी जीवन की है। 15 000 वग मील क विशाल भूभाग म लगभग 7 000 वगमील निचाट रेगिस्तान है और कृपि-योग्य क्षेत्रफल केवल 5 500 वगमील। सिराही ज़िले म अठगुने बड़े इस ज़िले की आबादी केवल डेढ लाख याने सिरोही की आबादी की आधी भी नही। एस भी इलाके हैं जहाँ वर्षा का सालाना औसत डेढ या दो इच है। स्वाभाविक है कि ऐसे इलाके म सारी की सारी ज़िन्दगी जानवरों और ऊँटो के टोला तलो कुआ पारा टाडो बेरिया तथा टाका जसे जल के स्रोता तथा घास के मदानो के गिद घूमती है। और कुएँ भी कैसे—60 फुट स 300 फुट तक गहरे और अक्सर खारी। अनेको गाँव ऐसे जिसम एक भी कुआँ नही या फिर मीठे पानी का कोई नैसर्गिक स्रोत नही। दूरियाँ ऐसी कि जितना जयपुर से सेतडी उतना जसलमेर स किशनगढ याने 104 मील। और अब स कुछ समय पहले तक 100 वगमील क पीछे केवल 2 मील लम्बी सडक। जाडो म कडाके की सर्दी और गर्मियो म घटा-टाप छाती हुई रेत, हरहराती हुई गम आँधी। रेत के बड़े-बड़े टीले वनस्पति के नाम पर केवल कुछ भाड़ियाँ और खेजड़ियाँ मीलो तक आदमी का निशान नही। वस्ती के नाम पर केवल घास फूस के झोपे जो भी अक्सर केवल गर्मी म आबाद रहते हैं क्योकि जाडा और बरसात मवेशियो के साथ तलो पर उनको दिन दिन भर पानी पिलान म और झूले मे गुज़रते हैं। सच ही वहा था कवि ने कि—

घोडा कीजै काठ का पिंड कीजै पाखाण।
वस्त्र कीजै लोह का तब देखो जसाण॥

लकिन ऐसा भी नही कि जसलमेर ने समृद्धि और उत्कर्ष के दिन न देखे हो या यहाँ के निवासियों न पौरुष म कमी रखी हो। श्रीकृष्ण के यादव वश के भाटी राजपूतो ने वहावलपुर तनोट लुद्रवा और सवत 1212 के बाद जैसल-

---

1 आकाशवाणी जयपुर से 5 9 196?

मेर से सिंध, बाडमेर, बीकानेर और पोखरण के बडे बडे भू भागो पर शासन किया और वहाँ महारावल अमरसिंह जैसे अनेको प्रतापी शासक हुए। जैसलमेर की दुगमता मे दुलभ जैन ग्रथा व धमावलम्बियो को शरण मिली और तेरहवी शताब्दी मे वहाँ पालीवाल ब्राह्मण गए जिन्होने सालमसिंह के अत्याचारो के कारण बाद मे सामूहिक पलायन किया लेकिन अनेका गाँव, खडीनें और सरोवर जिनके उद्यम और समृद्धि की गाथा आज भी सुना रह ह। बाडमेर म सिंध तक रलमाग बनने से पहले कारवानो द्वारा व्यापार और आवागमन का मुख्य मार्ग जैसलमर होकर था। टॉड के समय मे जैसलमेर नगर की आबादी 35 000 थी जबकि आज केवल 16,578 है। 4500 की जनसख्या तो कुलधर और खाबा जैसे पालीवाल गावा की ही थी।

आज भी जैसलमेर मे पुरातत्ववेत्ता और पयटक—दानो की ही रुचि की अनेका वस्तुएँ अनेका स्थान हैं जैसे घाटारु और किशनगढ के किले, स्वय जैसलमर का किला जिसके बारे मे यह दाहा प्रसिद्ध है—

ससार कह पतसार साभला,
सिर पाडे निका समसेर।
आज वणे दुनियाण ऊपरें
मानक वरनै जैसलमेर॥

किले के अ दर व े अनेको जैन म दिर और हस्तलिखित ग्रथों तथा चित्रा का सग्रह, जैसलमर मे अवस्थित जगतप्रसिद्ध हवेलिया, लुदरवा के मदिर, सीरवा का नवी शताब्दी का म दिर, पालीवालो के गाँव, दवी के पाव स्थान यथा तेमणेराय देगराय, भादरिया काला डूगर और घटियाली, मूलसागर, अमरसागर बडाबाग इत्यादि उपवन और जैतसर भुज इत्यादि खडीनें और सरावर। जैसलमर मे आज भी चिकारा हिरण और घोडावन या ग्रेट इडियन बस्टड के दशन हो जाते हैं और वहा की तलाइयो पर जाडे म हजारा की सख्या म कुर्जें बटटा और बड्या इत्यादि पक्षी आकर उतरते हैं। वास्तव मे कई दष्टिया से जैसलमेर दुनिया से निराला और अद्भुत है और एक फासीसी विद्वान न स्वर्गीय डा० भाभा को ठीक ही लिखा था कि यदि मिस्र के आबू सिमल के मदिरो तथा जसलमर म से किसी एक का बचान का प्रश्न हो ता मेरा मत जैसलमर को मिलगा।

प्रकृति की हर चुनौती वातावरण की हर कठिनाई का जवाब जैसलमेर के लोगा ने मदानगी और कौशल से दिया है। इतने स्वस्थ लम्बे चौडे, महनती और खुले दिल वाले लोग शायद ही और कही हा। वहाँ की खडीना या छोटे छोटे बाँधो वाले तालावा के पेटा मे वषा के बाद बढिया गेहूँ और चना पैदा किय जाते हैं। और शायद आप तआज्जुब कर वहाँ के बागो में बढिया आम भी हात

थे। मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षियों को भी दो-दो तीन-तीन दिन बिना पानी गुजार देने का अभ्यास हो गया है। शायद ऐसे ही जीवट और जीवनी शक्ति की दाद देते हुए प्रकृति ने भी वहाँ सेवन मुरट भरट, लाणा गाँठिया जैसी घासों के मैदान बनाये हैं तथा फोग, तूत और मतीर जैसी वनस्पतियाँ उगाई हैं जिनमें लाखों पशु चरते हैं और जिनके बीजों पत्तियों और फलियों को मनुष्य भी अनेक प्रकार से काम में लाते हैं। नाममात्र की वर्षा से वहाँ बहुत बढ़िया बाजरा पैदा होता है और वहाँ के दूध, घी और ऊन की प्रसिद्धि दूर दूर तक है। मुदटा-वाला के 40 पुरुस गहरे कुएँ के अमृत समान जल की याद मुझे हमेशा रहेगी।

लेकिन और सीमान्त प्रदेशों की तरह जैसलमेर का जीवन भी देश के विभाजन में बहुत-कुछ विश्रृंखलित हो गया। पहले सिंध के उपजाऊ मैदानों और जैसलमेर के रेगिस्तान के बीच मनुष्यों और व्यापार की वस्तुओं का सतत आवागमन और आदान प्रदान चलता था। बारिश के बाद सिंध के मवेशी जैसलमेर में चरते थे और होली के बाद जैसलमेर के मवेशी सिंध जाते थे। साम्प्रदायिक सौहार्द था और धर्म परिवर्तन के बावजूद मुसलमानों में हिन्दू नाम और रीति रिवाज चलते थे। बाहरियों में रणमल, भैयों में लालमणा और मेहरों में राय मल साहूलडा आदि उप जातियाँ थीं। तनाट के मुसलमान भी घटाली देवी में श्रद्धा रखते थे। सिंध का चावल और गेहूं जैसलमेर में बिकता था, जैसलमेर का ऊन और घी सिंध में। विभाजन के बाद सदियों से चले आते इस क्रम का उद लन का जैसलमेर का मुख पश्चिम से पूर्व की ओर फेरने तथा जैसलमेर के अल गाव और पिछड़ेपन को दूर करने का काम शुरू हुआ जो आज भी चल रहा है। मेघवालों और हरिजनों में चेतना आ रही है शिक्षा का प्रसार हो रहा है डाकुओं का आतंक लगभग समाप्त हो चुका है। सैकड़ों मील लम्बी सड़कें बन रही हैं। रेल जैसलमेर तक पहुँच चुकी है, 70 से 80 हजार तक की लागत वाले और 800 फुट से 1000फुट तक गहरे ट्यूबवैल खोदे जा रहे है हालांकि सारे श्रम और व्यय के बाद भी पानी अक्सर खारा निकलता है करीब नौ लाख रुपए की लागत से लगभग 80 खडीनों का जीर्णोद्धार हो चुका है और राजस्थान नहर सम्पूर्ण होने पर 70 गाँवों में फ्लो और 4 गाँवों में लिफ्ट इरीगेशन सम्भव हो सकेगा और इस सबका नतीजा होगा खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भरता। फिर भी केवल पौने तीन लाख रुपये सालाना की स्थायी राजस्व आय वाले इस जिले के लिए उसकी पाँच लाख भेड़ें, चालीस हजार ऊँटों और दो लाख तीस हजार गाय बैलों तथा पशुपालन के धंधे का महत्त्व कृषि की अपेक्षा हमेशा अधिक रहेगा। अन्ततः लाख रुपये जैसलमेर की भावी समृद्धि उसके थारपारकर नस्ल के गाय बैलों और लगभग 30 मूल्य के सालाना ऊन के उत्पादन के सही उपयोग व बेहतर विकास में जुड़ी हुई है। जबकि इस ऊन का केवल 1/6 भाग जैसलमेर में काता-बुना जाता

है और बिचौलियों के आधिपत्य के कारण उसका पूरा लाभ पशु-पालकों को नहीं मिल पाता।

आज जैसलमेर तेजी से बदल रहा है। लेकिन जैसलमेर से प्यार करने वाले हर व्यक्ति के दिल में यह तमन्ना बनी रहेगी कि प्रगति के इस दौर में भी जैसलमेर के लोग अपने स्वभाव का खुलापन, दिल की विशालता और अतिथि-प्रेम का भाव कायम रखें ताकि भविष्य में भी जब वहां हम जाएँ तो लगे कि हम असीम विस्तार में भी ईश्वर के कुछ ज्यादा नजदीक, निजनता में भी आदमियत के कुछ ज्यादा करीब हैं। अक्सर जब मैं खाली होता हूँ जैसलमेर के युद्ध और शांति के दिनों की सैकड़ों यादें मन को घेरने लगती हैं। किशनगढ़ के कोट और सीमा के गांवों की यादें, दुर्ग में बजते हुए खतरे के धौंसे, ऊपर से गुजरते हुए हवाई जहाजों, टावूर के वीर पूनमसिंह, मेजर पूर्णसिंह और कैप्टन सहाय की शहादत तथा गोपा चौक की उत्साहभरी जनसभाओं की यादें, सत्तो के दिलेर सरपंच और ग्रामीणों की यादें जिन्होंने 6 मील दूर म्याजलार पर पाकिस्तान का कब्जा हो जाने के बावजूद गांव खाली करने से इंकार कर दिया, कुम्हियानों पर अतरखान के साथ दोपहर का भोजन और खुले दिल से बातचीत। लेकिन यह सिलसिला बहुत लम्बा है न और समय बहुत कम। इसलिए इतना ही।

## थावो जैसलमेर[1]
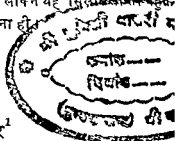
स्वर्गीय होमी भाभा ने जैसलमेर के बारे में तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामंत्री को एक पत्र लिखा। उसमें एक फ्रांसीसी पुरातत्वज्ञ का यह मत भी उद्धृत था कि यदि मिस्र के आबू सिंबेल के मन्दिरों और जैसलमेर के ऐतिहासिक अवशेषों में से किसी एक को बचाने का प्रश्न उपस्थित हो तो मेरा मत जैसलमेर के पक्ष में रहेगा।

कलापारखियों और इतिहास प्रेमियों की दृष्टि में यह है जैसलमेर का महत्त्व। लेकिन हममें से बहुत कम इन बातों के बारे में जानते अथवा सोचते हैं। सुनते हैं किन्हीं सज्जन ने तो यह प्रस्तावित किया था कि किशनगढ़ के किले को तोड़कर उसकी ईंटों का प्रयोग सड़क बनाने के लिए कर लिया जावे।

1 आकाशवाणी जयपुर से 6 5 69 को प्रसारित फीचर के लिए आधार-सामग्री।

जैसलमेर का किला जिसके बारे में कहा जाता है कि सम्भवत चित्तौड़ के पश्चात वह राजस्थान का सबसे पुराना किला है काफी जर्जरित दशा में है। यही बात पटवों की हवेलियों पर लागू होती है। बहुत कम लोग यह जानते हैं कि ये हवेलियाँ और इन पर की गई पील पत्थर की पच्चीकारी अपने ढंग की अनूठी हैं और शायद विश्वभर में इस पैमाने पर ऐसी कारीगरी का कोई दूसरा उदाहरण न होगा। यदि ये हवेलियाँ सुदूर जैसलमेर में न होकर कहीं दिल्ली आगरा के आसपास होतीं तो पर्यटकों का तांता लगा रहता और अनेकों पुस्तकें उनके बारे में लिखी जातीं।

वक्त रुकता नहीं है। न सभ्यता की प्रगति रुकती है। सैकड़ों सालों तक शेष भारत से कटे रहने के बाद अब जैसलमेर खुल रहा है, शेष जगत में मिल रहा है जरूरत इस बात की है कि मरुभूमि का सूखा सपाटपना तो दूर हो लेकिन यांत्रिक शहरी सभ्यता का उससे भी भयावह सपाटपना जैसलमेर पर हावी न हो जाए, ऐसी कोशिश की जाए।

सभ्यता और संस्कृति जमीन की तासीर और उसकी खुशबू की तरह होती है, उस जमीन में उगने वाले पेड़ पौधों की तरह होती हैं। एक हद तक प्रतिरोपण सम्भव है उसके आगे नहीं। जैसलमेर की जिन्दगी के कुछ खास रंग हैं, खास अन्दाज हैं। सभ्यता और प्रगति के एवज में ये रंग और ये अन्दाज कहीं निकल न जाएँ, इसका ध्यान रखने की जरूरत है।

यह भी एक विचित्रता है कि पृथ्वी के जिन भागों में जिन्दगी जितनी कठिन और संघर्षशील है वहाँ लोगों की जिन्दगी में भी वैसी ही तेजी खुलापन और आवेगमयता मिलते हैं। जहाँ जिन्दगी आसान होती है वहाँ वह बुझी बुझी और घुटी घुटी फुसफुसी हो जाती है। इतिहास उठाकर देख लीजिए—रेगिस्तान हो चाहे पहाड़ टुण्ड्रा हो चाहे महासागर, जहाँ भी प्रकृति विकराल है वहाँ के निवासी भी दिल के खुले और जानदार, जोरदार प्रेम और जोरदार घृणा करने वाले मिलेंगे। उनकी जिन्दगी जैसे तेज सिरका है, गंदला ठहरा पोखर का जल नहीं।

जैसलमेर भी थार रेगिस्तान का एक हिस्सा है और वहाँ के पारम्परिक जीवन में भी हम इन्हीं गुणों के दर्शन होते हैं। मैंने पाया कि जितने अतिथि-सत्कारी वहाँ के लोग हैं इतने अपेक्षाकृत सम्पन्न और हरे भरे इलाकों के निवासी भी नहीं। दूसरी ओर इन्हीं लोगों में से पहले अनेकों डाकूदल और तस्करी गिरोह पनपते रहते थे। ऊपर से देखने पर यह एक विरोधाभास लगता है। लेकिन इस की कुंजी भी विषम जीवन परिस्थितियों में परवान चढ़ने वाले स्वभावगत जातीय गुणों में ही है। भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्त के कबीलों में भी ऐसे ही परस्पर विरोधी गुणों की विद्यमानता रही है जहाँ जर जन और जमीन को लेकर अन्तहीन खून-खराबा होता है पुश्तैनी बैर बाँधे और निबाहे जाते हैं दूसरी ओर

उतनी ही तत्परता और दिलेरी से वचन पाले जाते है, शरणागतो की रक्षा की जाती ह।

जैसलमेर के रेगिस्तान की घुमक्कड़ जिन्दगी इतनी अजीब है कि सुबह शाम घरो मे रहने वाले और नल का पानी पीने वाले शहरी उसकी कल्पना भी नही कर सकते। क्या आप एक ऐसी बस्ती की कल्पना कर सकते हैं जहाँ सभी भोपे अर्थात् भोपडियाँ साल के अधिकाश भाग मे नितान्त वीरान पड़े रहे क्योकि उनके वासी अपने मवेशियो और ऊँटो के टोलो के साथ दूर-दूर तक पानी और घास की तलाश मे भटकते रहते हैं खुले आसमान के नीचे दिन और रात बिताते रहते हैं ? और कुएँ भी कैसे ? तीन सौ फीट तक गहरे जिनसे पानी निकालना एक महान तलब और पूरा काम है ऐसे भी गाव है जिनमे पीने के पानी का काई जरिया ही नही है। मैं उत्तरी सीमा पर स्थित एक गाँव बहाला मे गया तो वहा बीसियो छोटे-छोटे चूने के कुण्ड देखने को मिले। इनमे इकट्ठा होने वाला बरसात का पानी ही एकमात्र मीठा पानी है जो इस खास कर गाँव के लिए उपलब्ध है क्योंकि गाँव के समस्त कुएँ खारी हैं।

मैं जानता हूँ कि ऐसे हालात सुनकर कई शहरी सुकुमार कहेंगे—आखिर ऐसे हालातो मे लोग वहाँ रहते कैसे हैं ? या फिर, वहाँ रहने ही क्या हैं ? ऐसे प्रश्नकर्त्ता भूल जाते है कि घर, चाहे वह कैसा ही हो, प्यारा होता ह और वहाँ सौ दुख होते हैं तो कुछ ऐसे सुख भी होते हैं जो सब दुखों पर भारी बैठते हैं।

मसलन जैसलमेर को ही ले लीजिए। कहा मिलेगी वैसी स्वास्थ्यप्रद जलवायु ? वहाँ मिलेंगे वैसा दूध, वैसा घी ? और परिणामस्वरूप, वहाँ मिलेंगे वहा के से लम्बे-चौड़े स्वस्थ शरीर वाले पुरुष और स्त्रियाँ ? जैसलमेर मे स्वाभाविक रूप से सीला तक उगने वाली घास सेवन से आस्ट्रेलिया तक के लोग प्रभावित है जहाँ उस पर विस्तृत गवेषणाएँ हुई ह। केवल ही नही, वहा अनेक एसी घासें और जड़ी बूटियाँ होती हैं जिनका विभिन्न रूप से उपयोग होता है। जसलमेरी ऊँट अपनी तेज चाल व वहा की थारपारकर नस्ल की गायें अपने दूध के लिए मशहूर हैं। घास के विस्तृत मैदानो मे चरकर वहा की भेडें लगभग 30 लाख रुपये सालाना के मूल्य का साढे सात लाख पौंड मध्यम श्रेणी का ऊन पैदा करती हैं।

सब अच्छा ही अच्छा तो कही भी नही होता। जैसलमेर म भी नही है। मसलन, इश्क न जैसे गालिब को निकम्मा कर दिया वसे ही रेगिस्तान के बहुत बड़े भूभाग को अभिशाप अफीम या अमल ने भी बहुतो को निकम्मा कर दिया है। सुबह उठे तो अमल दोपहर चढी तो अमल साझ घिरी तो अमल, रात चढी तो अमल। इस अमल का ही प्रभाव है कि सहज शूरता के देश म मुझे गाँवो का एक एसा समूह भी मिला जहाँ शादी के मौको पर तलवार भी आसपास से मगाकर

काम चलाना पड़ता है। अपनी श्रेष्ठता के लिए जन्मते ही प्रवाप बच्चियों को गोकारा न रग
मार डालने की प्रथा भी यहाँ थी। सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न तो गर थ
ही जिसके फलस्वरूप इलाके की सारी सम्पदा मुट्ठी भर जागीरदारों के हाथ
म सिमट आई और सीमा पर रहने वाले मेघवालों या हरिजनों की स्थिति पशुओं
या क्रीतदासों जैसी रही आई।

ट्यूबवैल और मरुभ नहर और रेल मिलकर निश्चय ही इन स्थितियों म क्रान्तिकारी परिवर्तन लायेंगे। परिवर्तन आना भी चाहिए। इन की सुरक्षा, मानव की बराबरी और उसकी गरिमा सवाल और मानव म उत्पीड़न को रोक जाने की गारण्टी पहली शर्तें हैं इनका पालन होना भी चाहिए। लेकिन जसा मैंने कहा जैसलमर की आत्मा न मर और उसकी विशिष्टताएँ बनी रहें यह प्रयास फिर भी जरूरी है। उदाहरण क लिए जैसलमेर क लगा और उसकी संगीत परम्परा की ही बात ले लीजिए। लोक संगीत तो हर जगह का अपना होता ही है लेकिन लगो व लोक-संगीत की विशेषता उसका निश्चित शास्त्रीयपन है जो शोधकर्ता के लिए एक बहुत ही रोचक विषय है। इसी तरह यहाँ की हवेलियो और पालीवाल गावों पर वस्तु रहन कार्य करने की जरूरत है। अभी हाल म कुछ तरुण भूवज्ञानिकों ने सीमा क साथ-साथ जैसलमर-बाड़मेर इत्यादि म यात्रा की है। उनकी खोजो का प्रकाश म लाने व ऐसी ही अन्य खोज यात्रायें की जाने की जरूरत है।

जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है मेरी हाल की जिन्दगी म जो निरंतता मेर और जसलमेर के बीच पैदा हुई वह किसी और प्रदेश या नेबर नहीं। जसलमर अब भी इतना आदिम और अलग जीवन्त और फराखदिल है कि वह जिन्दगी का हिस्सा बन सकता है और बनाया जा सकता है। जो जीवन शून्य है या जहाँ जीवन के नाम पर केवल कारों की दौड़भाग और मशीनों का शोर है, व क्या किसी की जिन्दगी का हिस्सा बनेंगे ?

खासतौर पर वे दिन निराले थ जब सीमा पर पाकिस्तान स हमारा संघर्ष हुआ था यानी सितम्बर 1965 स लेकर जनवरी 1966 म ताशकन्द समझौते तक। 9 सितम्बर को सुबह तीन बजे भुट्टेवाला की चौकी पर आक्रमण हुआ। बड़ी वीरता स चौकी के रखवाला न हमले को विफल करते हुए हावूर क वीर पूनमसिंह के प्राणो क बदले छः या सात हमलावरों को मौत की नींद सुला दिया। भारत पाक संघर्ष राजस्थान की सीमा पर भी फैल गया। बाद मे युद्ध विराम होते हुए भी इस सीमा पर संघर्ष जारी रहा। यदि इस दौरान अनको लोग सीमा के उस पार चले गए तो बीजल जैसे वफादार भी थे। जब भुट्टेवाला पर आक्रमण हुआ तो बीजल ने ही सूचना दी थी। सदियो के बाद युद्ध जैसलमेर की धरती पर फिर आया तो नये सिरे स तैयारियाँ हुई। किले के सबसे ऊँचे भाग

मे एक घोंमे के सामने लाउडस्पीकर का माइक्रोफोन लगाकर खतरे की सूचना देने का प्रबन्ध किया गया। खाइयाँ खोदी गई। नागरिक सुरक्षा का प्रशिक्षण दिया गया। म्याजलार पर दुश्मन का अधिकार हो गया तो वहाँ से छ मील दूर सत्तो के सामने खतरा खडा हो गया। लेकिन शावाश है वहाँ के सरपच और मर्दों को जिन्होने गाँव खाली करने से इनकार कर दिया। और तभी जनवरी 10 को ताशकद समझौता हुआ जिसके बाद जैसलमेर की सीमाओ पर फिर शान्ति लौट आई।

परन्तु युद्ध गया और अकाल लौटा। यह भी एक युद्ध ही है—अकाल से युद्ध। यह युद्ध हम जीतें तो जैसलमेर उबर, 'मानिक वरने जैसलमेर' के कवि की कल्पना सार्थक हो।

खण्ड तीन

# साहित्य, सगीत और कला

## सवाल प्रतिबद्धता का[1]

इस बार एक रपट भोपाल से।

मध्यप्रदेश की राजधानी पिछले काफी दिनो म कला-सम्बन्धी गतिविधियो का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई है और इसका श्रेय वहाँ की कला परिषद और विशेष कर उसके सचिव श्री अशोक वाजपयी का जाता है। यह दीगर बात है मध्यप्रदेश का अनुभव यह दिखाता है कि प्रशासन और उसके अधिकारी कला के विकास की परिस्थितियाँ जुटाने तक ही अपने को सीमित रखें बजाये सीधे-सीधे प्रबन्ध के तो स्थिति ज्यादा श्रेयस्कर और निरापद' रहती है।

दिनाक 5 6 और 7 अक्टूबर को 'साक्षात्कार नाम स भोपाल म लेखको और कलाकारो का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। 5 तारीख की दोपहर का हुई गोष्ठी मे मैं भी था। विषय था—सामाजिक परिवतन प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता और लेखक। तीन निबन्ध पढे गये—प्रमोद वर्मा धनजय वर्मा और जितेन्द्र कुमार द्वारा। नियामक मण्डल के सदस्य की हैसियत से हरिशकर परसाई ने अपने निबन्ध 'साहित्य-वहिष्क्रियन सामाजिक धम स कई बात उदघत की।

जैसा परसाईजी न लिखा—साहित्यकार की प्रतिबद्धता का सवाल समय-समय पर विभिन्न दृष्टिकोणो से उठाया जाता रहा है। साहित्य उद्देश्यपरक हो या स्वान्त सुखाय वह केवल सौ दय सष्टि को लक्ष्य मान या सवजनहिताय सवजन-सुखाय को वह उद्देश्यपरक हो तो क्या किसी वाद और उसकी राजनीति से भी जुडे और क्या अवसर और जरूरत के मुताबिक लेखक कलम छोडकर सडक पर भी आने को तैयार रहे—इनमे से कोई सवाल नया नही है। भले ही उन पर पडने वाले परिस्थितिया की रोशनी के रग बदलते रहते हो।

अपनी बात कहने से पहले मैं गाष्ठी म जो हुआ उसा को सक्षेप मे उदघत करना चाहूँगा। प्रमोद वर्मा ने कहा भारत का,बुद्धिजीवी अवसरवादिता से अछूता नही है। अपन नाम पर चलने वाली लम्बी बहसा से सामाजजन का शायद ही काई सम्बन्ध हो। सांस्कृतिक विकास और आर्थिक स्थिति म अनुरूपता आवश्यक

---

1 राजस्थान पत्रिका 10 10-1975

नही है। कविता धर्म, दर्शन और इतिहास से जुड सकती है तो राजनीति से क्या नही ? साहित्य को शिकंजे मे कसने का काम मार्क्सवाद ने नही स्टालिन के युग ने किया। तथाकथित उद्देश्यपरक लेखन, लोकप्रियता और रचनात्मकता की दो तिपाइयो के बीच गिरता रहता है। मानव मन को समृद्ध करने वाली हर रचना क्रांतिकारी है—सच्चा लेखक आवश्यक रूप से प्रगति-शील होता है।

धनजय वर्मा का कहना था कि साहित्य शून्य मे नही रचा जाता। रचना का 'प्रतिससार' इसी ससार के एवज, विरोध या विकल्प मे इमी ससार मे से रूपायित होता है लेकिन ऐतिहासिक और सामाजिक परिवेश और रचना का रिश्ता सीधा, सपाट और यान्त्रिक नही होता क्योकि लेखक का अपना रचनात्मक व्यक्तित्व भी आडे आता है। प्रगतिवाद महज प्रचारवाद नही है। मध्य और निम्न मध्यवर्गी साहित्यकार सुविधाप्राप्त साहित्यकार की नकल करते है, सर्वहारा वर्ग से सच्चे अर्थों मे जुडने से कतराते हैं और रचना की सामाजिकता और उसकी सामाजिक भूमिका को प्रचारवादी बताते हुए, सौन्दर्य शास्त्रवादी बुर्जुआ धारणा के तहत साहित्य को अपना व्यक्तिगत मामला बताते हैं जिसकी परिणति प्रामाणिक अनुभव की कमी मे होती है। पक्षधरता लाजिमी और स्वाभाविक है। प्रतिबद्धता रचना विरोधी नही होती। क्रान्ति साहित्य पर निर्भर नही होती लेकिन उसमे उसकी मुमकिन भूमिका को नकारना नही है।

जितेन्द्र कुमार के विचार इस सबसे अलग थे। बदलाव साहित्य से नही राजनीतिक सोच और शक्ति से आकार पाता है। महज आदमी यदि समझने लगे कि वह भी एक व्यक्ति है, सोचने समझने महसूस करने वाला, तो तुरन्त नारा लगाकर उसे 'आम' किया जा जाता है। द्विजो विशेषाधिकार प्राप्त लोगो—ने (जिनमे द्विजत्वाकाक्षी लेखक भी शामिल है) आम आदमी का नारा उसकी महत्ता बढाने का नही उसे उसकी औकात बताने के लिए लगाया है। साहित्य की निष्ठा सत्य के प्रति है इसीलिए वह द्विजत्व और समाज के द्विज स्वरूप के विरुद्ध है। साहित्य मानव स्वभाव का वैज्ञानिक सर्वेक्षण है, समूह के नही, व्यक्ति के माध्यम से। इसीसे द्विजत्व की रक्षा के लिए साहित्य को सयमित करना जरूरी है—ऐसा उसे उसके कर्म से भटकाकर ही किया जा सकता है—एक नया नारा तब जरूरी हो जाता है—प्रतिबद्धता। 'आम आदमी' 'सम्पूर्ण क्रान्ति' इत्यादि वे नारे हैं जो आदमी को, जो एक व्यक्ति है, मानव-चेतना मे से बेदखल करने का षडयन्त्र रचते हैं, उन द्विजो की उदारता के गीत गाकर जो निरन्तर उसके शोषण मे लगे हैं। एक मौजूदा समाज व्यवस्था को उखाड फेंकना साहित्य के न तो वश का है, न उसका कर्म—भले उससे यह अपेक्षा क्रान्ति के नाम पर ही क्यो न हो। मौजूदा समाज-व्यवस्था मे मानव स्थिति की निरीहता और कुछ अशो मे उसकी पतनोन्मुखता को उजागर करना साहित्य के बस का है उसका कर्म भी, व्यक्ति के

सरोकार से, समूह के पार्टी या विचारधारा आरोपित निष्कर्षों से नहीं।

और हरिशंकर परसाई की स्थापनायें ये थी—सामाजिक अनुभव के बिना सच्चा साहित्य लिखा नहीं जा सकता। ग्रास की बूंद पत्ते पर लुढ़कने से एक सौंदर्य चित्र तो बनता है, पर समाज का उसस कुछ लेना देना नहीं। समाज के मन की बूंद घास के पत्ते पर से लुढ़क रही है, इसे भी लेखक को देखना है। साहित्यकार का दोहरा सम्बन्ध समाज से है। वह समाज से अनुभव लेता है, अनुभवों में भागीदार होता है। बिना सामाजिक अनुभव के कोई सच्चा साहित्य नहीं लिखा जा सकता। लफ्फाजी की जा सकती है। और फिर समाज से पाई इस वस्तु को रचनात्मक रूप देकर फिर समाज को लौटा देता है। इस तरह साहित्य एक सामाजिक कर्म हो ही जाता है। सच्चा साहित्यकार समाजधर्मी होता है सामाजिक प्रतिबद्धता साहित्यकार की जरूरत है। प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन के प्रति लेखक को प्रतिबद्ध होना जरूरी है। वह वैचारिक स्तर पर प्रतिबद्ध हो या उसमें क्षमता है तो वह सक्रिय रूप में शामिल हो। मैं यह नहीं कहता कि हम किसी पार्टी के सदस्य हो जाएँ। पर मैं यह जरूर चाहूँगा कि इतनी समझ हो और निष्ठा भी हो कि यह राजनीति समाज को प्रगति के रास्ते पर ले जा रही है और यह राजनीति पुरागामी और यथास्थितिवादी है। बात साफ है। इस साहित्य की रहस्यात्मक शब्दावली में मत उलझाइए। जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं है वह अनन्त काल के प्रति ईमानदार कैसे होगा।

जहाँ तक मेरी अपनी राय का सवाल है मैं यह मानकर चलता हूँ कि साहित्यकार शून्य में नहीं जीता हालाँकि स्थूल बहिर्जगत से ऊपर और परे उसका एक स्वतन्त्र मनोजगत भी होता है। इस तरह साहित्यकार अपने समय से प्रभावित होता है उसे प्रभावित करता है और कभी कभी समय से आगे की बात भी सोचता—कहता है। लेकिन सच्चे साहित्यकार को न तो 'डिक्टेट' किया जा सकता है और न किया जाना चाहिए। कलाकार का स्वतन्त्रचेता और विशुद्ध कलात्मक अर्थों में स्वच्छन्द और उच्छृंखल होना उसके भाड़े का टट्टू होने से श्रेयस्कर है। यदि लेखक अपने समय से परोक्ष रूप में जुड़ता, प्रतिबद्ध बनता है तो ठीक नहीं जुड़ता-बनता तो भी ठीक है क्योंकि कला के मामले में मैं उसकी गुणवत्ता को उसके तेवर और उपयोगिता पर तरजीह देता हूँ। मैं नहीं समझ पाता कि एक चालू ढम-ढमा-ढम ब्राण्ड देशभक्ति गान एक सतही प्रेमगीत से क्या और कैसे श्रेष्ठ हो सकता है। कोई साहित्यकार क्या और कैसे लिखता है यह उसका अपना जाती सवाल है उसी तरह जैसे समाज क्या स्वीकारता और क्या अस्वीकारता है यह उसके अधिकारक्षेत्र में है। साहित्यकार प्रतिबद्ध है, जनवादी है और उसका उत्पादन पठनीय है तो उसका स्वागत है। 'दास्तां कामरेड' और शेखर, एक जीवनी' दोनों अपनी अपनी जगह हैं। लेकिन मुझे उनकी नीयत से

शक रहता है उनके 'फ्रेंड शल्स' के प्रति सन्देह रहता है जो लेखक को उपदेश देते हैं कि देखो ज़माने की माग यह है और प्रगतिवादी होना चाहते हो तो ऐसा यू लिखो। तथाकथित जनवाद मे मैं मुझे अक्सर एक 'इनवर्टेड व्यक्तिवाद', एक जल्दी मे आम आदमी के कष्टो पर रूमानियत का वर्क लपेटकर, अलग दीखकर —स्थापित होने की अकुलाहट झाँकते हुए दीखते हैं। अक्सर तथाकथित प्रगतिवाद एक विशुद्ध दलगत और तात्कालिक आवश्यकता के मुह पर चढा नकाब होता है। पचासो जोशीली नज़मो के ऊपर सीधी-सादी अभिव्यक्ति वाली और आग्रहमुक्त 'एक फूल की चाह' और 'वन्दना' के इन स्वरो मे मुझे आज भी भारी लगती है। कालिदास आज भी पढे जा रहे है और पढे जाते रहेंगे लेकिन सन् 1962 की भडुआ भर-भर कर लिखी गई माओ-चाओ भाग-जाओ मार्का कविताएँ अब कहा हैं।

यह बहुत बडा सवाल है। सक्षेप मे कुछ कहना गलतफहमी को निमन्त्रित करने जैसा हो सकता है। केवल इतना कह सकता हूँ कि कलाकार के सामने सारे विकल्प रहते हैं। अपनी दृष्टि अपनी रुचि, अपनी क्षमता के अनुसार वह जो रास्ता या जो रास्ते चुनता है, उसे चुनने दीजिए। उससे वैशिष्ट्य, गहराई ईमानदारी मागिये वाद नही और यदि आपको वाद विशेष प्रिय है तो अपने ढग का लेखक चुन लीजिये लेकिन दूसरे की पसन्द के दूसरे लेखको को पिछडा, नाकारा,गैरज़िम्मेदार मत करार दीजिए। अतिम निष्कर्ष मे लेखक सर्जक है हम उपभोक्ता और उपभोक्ता को चुनने का, अपनी पसन्द बनाने का अधिकार भले हो अपनी पसन्द से भिन्न उत्पादन को रोकने का नही। और यह भी कि अन्तत लेखक वही अच्छा लिखता है जिसमे उसका मन रमे, यह लिखने योग्य है इस भाव मे से जो उपजता है वह उसका सवश्रेष्ठ नही होता जबकि हम सर्जक से उसका सर्वश्रेष्ठ ही चाहेगे।

यदि लेखक अपने तई, अपने फन के प्रति ईमानदार है प्रतिबद्ध है तो कम-से कम मैं उससे किसी दूसरी प्रतिबद्धता की अपेक्षा नही करूँगा।

## 'यथार्थ की गन्दगी' के दो दस्तावेज़[1]

क्षमा करें, इस बार स्तम्भ विलम्ब मे जा रहा है। कुछ तो और कारण रहे और कुछ यह भी कि मैं 'रागदरबारी' के शिवपालगज और 'आधा गाँव' के

---

1 राजस्थान पत्रिका 15-3 73

गगोली की यात्राओं पर गया हुआ था । कम छायावादी भाषा म कहूँ तो श्रीलाल शुक्ल और राही मासूम रजा की ये पुस्तके पढ रहा था ।

हम इस देश म इस समय अनेक बडी बडी समस्याओ मे जूझ रहे हैं । कुछ समस्याएँ तो इतिहास-चक्र हमारी झोली मे डाल गया है और कुछ ऐसी है जिनका मूल खुद हमारी चरित्रगत कमजोरियो मे है । इन मुश्किलात से हम जूझेंगे धीरे-धीरे उनको हल करेगे ऐसी उम्मीद हम सब रखते हैं, रखनी भी चाहिए । लेकिन इस दौरान यदि दो सिफत हम अपने अदर रख सकें तो यह काम कुछ आसान ही होगा और ये दो सिफ्तें है—एक, अपने पर हस सकने की, जिसे सेंस आफ ह्यूमर कहते है उस माद्दे को पैदा कर सकने की और दो, वस्तुस्थिति को सही सही पहचानने और बयान करने की फावडे को फावडा ही कह सकने की हिम्मत की । जो लोग वाकई यह मानते हैं कि राष्ट्रनिर्माण के काम म थोबडे जैसे लगते चेहरे और आइने मे अपनी शक्ल देखने से बचने की आदत मददगार हो सकते हैं उनको रागदरबारी और आधा गाँव जैसी किताबो से दूर रहना चाहिए—और इस लेख से भी ।

क्योकि ये वो किताबें हैं जो हमारी कमजोरियो को पुचकारा देकर, लोरी देकर सुलाने म विश्वास नही करती घूरा के इर्द गिर्द रेशमी पर्दे नही लटकाती, बल्कि वस्तुस्थिति को निर्ममता से उघाडकर सामने रखती हैं, और चूकि ऐसा करने म उनके लेखको की कोई बदनीयती नही है—वे देश के उतने ही वफादार और शुभचितक नागरिक हैं जितना और कोई, इसलिए ऐसी किताबो का स्वागत होना चाहिए उनको खुले और उदार नजरिये से देखा जाना चाहिए । तग नजरिये और निहित स्वार्थों के खिलाफ हमारी लडाई ऐसी किताबो को रँगीन चश्मा से देखकर नही लडी जा सकेगी ।

आज जिन समस्याओ से हम दो चार है उनम से एक हमारी यह आदत भी है—छोटी छोटी बातो पर वावेला मचाना और आधारभूत बडे प्रश्नो पर मौन साध लेना । हम दिन रात सत्य-सत्य की रट लगाते हैं लेकिन जरा भी कोई बात हमारी प्रचलित मान्यता या दिखाने की मुद्रा के विपरीत पडी नही कि हम सतुलन खो बैठते हैं । यह लगभग वैसी ही है जैसे गहरी नीद म सोये लोगो का 'चोर-चोर' की आवाज सुनकर यू ही आधी नीद मे 'चोर-चोर' चिल्लाते हुए पीछे भाग निकलना ।

एक बात और भी । व्यग्य लेखन तस्वीर खीचने जैसा नही कार्टून बनाने जैसा होता है अतिशयोक्ति उसका आवश्यक व वैध गुण है । जानबूझकर किसी व्यक्ति या समाज को नीचा दिखाने की कपटेच्छा और द्वेष भाव स रहित किसी व्यग्य रचना स बुरा मानना एक ओर से बचाना है तो दूसरी ओर स एक गम्भीर चारित्रिक कमजोरी ।

मैं मानता हूँ कि 'आधा गाँव' कोई महान कृति नही है। वह पर्याप्त सावधानी से नही लिखी गई है। गुलाम हुसैन खाँ पर हमला करने वाला चिरौंजी बाद मे चलकर भिंगुरिया बन जाता है, अशरफुल्ला खाँ की सबसे छोटी बच्ची अगले ही पृष्ठ पर लडके मे तब्दील हो जाती है, मासूम, जो उपन्यास का नायक है, आगे चलकर एक छाया मात्र रह जाता है। चरित्र चित्रण भी कमजोर है—मिगदाद और फुन्नन मियाँ जैसे चरित्र भी आधे उभरकर ही रह जाते है। उपन्यासकार अनेक चरित्र उठा लेता है लेकिन उनका निर्वाह नही कर पाता। गालियाँ, जिनको लेकर सबसे ज्यादा गालियाँ दी गई हैं, शुरू म लगभग नही हैं, फिर इक्का-दुक्का आती हैं और पृष्ठ 250 के आसपास से उनकी भरमार हो जाती है। निश्चय ही ये गालियाँ अनावश्यक हैं और 'राग दरबारी' मे श्रीलाल शुक्ल बिना उनका लिये उनके दिये जाने का अहसास बखूबी करा सके हैं।

लेकिन इस सबके बावजूद 'आधा गाँव' उन सैकडो फुसफुसी, लिजलिजी किताबो स बेहतर है जो आज धडल्ले से छप और बिक रही है। यह क्यो भुला दिया जाता है कि उसका लेखक इस मुल्क और इस मुल्क के बाशिन्दो से प्यार करता है और उसका मूल स्वर, उसकी मूल प्रेरणा तगनजरी और पाखण्ड के विरोध की है? हम आधा गाँव म सिर्फ गालिया पढते और अनावश्यक उराज देखते रहे, हमारा ध्यान इन वाक्यो पर क्यो नही गया—'इस की यह फसल हमी को काटनी पडेगी, 'आप लोगो ने तो उर्दू को मुसलमान कर लिया है, 'नफरत और खौफ़ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज मुबारक नही हो सकती' 'इधर कुछ दिनो स गंगोली म गंगाली वालो की सख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शियों और हिन्दुओं की सख्या बढती जा रही है वगैरह? हम यह तथ्य क्या विसरा देते हैं कि 'आधा गाँव' म एक विशिष्ट आचलिक रग और जमींदारी के सूरज के गुरुब होने के वक्त के उच्च, मध्य और निम्नवर्गीय देहाती मुस्लिम समाज के हालात बखूबी उभरकर आये हैं और उसमे से एक ध्वसोन्मुख सामाजिक सरचना के टूटने की अभिभूत और उदास कर जाने वाली सदा आती है?

रहा सवाल गालियो का। हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी मे हम पाच मिनट म दस की रफ्तार से गालिया वातावरण मे बेमतलब उछलती देखते रहते है, आती जाती महिलाओ पर भी छीटाकशी कोई अजूबा नही है। जैसा मैन कहा किताब म गालियाँ अनावश्यक है। लेकिन अगर हैं तो ऐसा क्या गजब हो गया? और यदि हमारे एम० ए० के छात्र छात्राएँ भी इतने वयस्क नही हैं कि व इन चीजो को समभाव से ले सकें तो फिर बाल सुबोधिनी के ही सोलह भाग रटके कक्षा एक स सोलह तक पढाइये।

एक आक्षेप 'आधा गाव' पर यह भी है कि वह हमारे गाँवो का अपमान करती है। हमारे मानसिक कैशोर्य की ओर पलायनता म स एक यह भी है कि हम

अपने गाव वाला को शहरी लोगो से अलग, बेहतर और बुद्ध-बुद्ध गावदू (रूसो का नावल सैवेज ।) समझते हैं। यदि ऐसा न होता तो ग्रामीणो के लिए हाने वाल हमारे रेडियो कायक्रमा म आपको यह करना चाहिए, वह करना चाहिए' कि ऐसी भरमार नही होती। अस्तु गाँवा म भी हिंदुस्तानी ही वसत हैं अपनी तमाम खूबिया और कमिया के साथ और हमारे गाँव छुई मुई का पौधा नही है कि पुस्तकीय विवरणो स मुर्झा जायेंगे। अपनी पुस्तक 'दुख मोचन' म नागार्जुन ने अपन हीरो से कहलवाया है— वह कौन सा औगुन है जो यहा नही है भाभी, बतला सकती हो' और दुखमोचन एक आदश सेवाभावी व्यक्ति है और बाबा नागार्जुन गाँवो के बार मे उतना ही जानते है जितना कोई भी और जानने वाला।

लेकिन कुल मिलाकर 'रागदरबारी (जो 1968 म प्रकाशित होकर समाप्त हो चुकी है) अपन पनेपन शिल्प कौशल और निस्सगता के साथ व्यग्य लेखन के व प्रतिमान उपस्थित करती है जिनको ध्यान म रखने स आधा गाव और बेहतर हो सकता था। इन दोना किताबा म एक बुनियादी फक है— आधा गाँव' एक मसिया है उसका लेखक तटस्थ नही है एक दुखपूण घटनाचक्र म फँसा व्यथित हृदय पात्र है जबकि रागदरबारी का लखक एक नितात असपक्त तटस्थ और लगभग पूणतया सिनिकल समीक्षक है। यह बात अपने तईं राग दरबारी' को एक निश्चयात्मक पूणता दती है जबकि आधा गाँव एक व्यग्य रचना और आत्म कथात्मक वचारिक घोषणापत्र के बीच टगा रह जाता है।

'राग दरबारी पर बहुत विस्तार से लिखा जा सकता है। लेकिन यहाँ मैं आपसे सिफ यह गुजारिश करूँगा कि आप चाहे उससे सहमत हो या असहमत उसे कम-से-कम एक बार यदि अभी तक न पढा हो ता पढे जरूर। हा सकता है कुछ लागा को उससे यह शिकायत हो कि उसम सब कुछ बुरा-ही-बुरा दिखाया गया है—लोकगीत उसम चिचियाहट मात्र बन जाता है मला मात्र बदतमीजी, सामाजिक व्यवहार मात्र टुच्चापन। इस बार म मुझे सिफ इतना ही कहना है जब डाक्टर को हाथ के एग्जिमा का इलाज करना होता है तो वह मरीज क दस्त नाजुक की तारीफ म शेर कहता नही बैठा रहता। जो छोटापन काईयाँपन और ताकझाँक की प्रवत्ति हमारे दैनन्दिन क व्यवहार म है थूकने गाली बकने और हर जगह मलमूत्र विसजन करने की जो गन्दी आदत हम म हैं और जिनके हम इतने आदी हो गय हैं कि वे हम अब खटकती ही नही कोई तो हो जो हम उनके लिए शमसार करे ? और इस मसले पर तो खर मत अलग अलग हो सकते हैं लेकिन अपनी रोचकता म भाषा की रवानगी और कथा के सफल निर्वाह म वैद्यजी छोटे पहलवान प्रिंसिपल साहब जसे अनेक यादगार चरित्र देने म राग दरबारी अपनी मिसाल खुद आप है। वह हर पढे लिखे भारतीय के लिए न्यूनतम आवश्यक अध्ययन का अंग होना चाहिए।

# प्रदूषण कला में[1]

प्रदूषण का अर्थ है किसी तत्त्व में एक दूसरे पदार्थ का प्रवेश जो मूल पदार्थ से भिन्न गुण, धर्म, स्वभाव का हो और, परिणामस्वरूप, मूल के स्वरूप को बिगाड़कर उसे अपवित्र अथवा अनुपयोगी बनाने वाला हो। उदाहरण के लिए पानी में नाली की गन्दगी अथवा औद्योगिक कूड़े का मिश्रण प्रदूषण है, हवा में धुएँ का घुलना प्रदूषण है। भोज्य पदार्थों से अस्वास्थ्यकर सामग्री का योग प्रदूषण है। लेकिन हवा, पानी और भोजन के स्तर पर प्रदूषण की बात जितनी और जितने निश्चय के साथ की जा सकती है उतनी संस्कृति, साहित्य और कला के या कहें कि सांस्कृतिक मामलों में नहीं। इन सभी क्षेत्रों में मुक्त संचरण और अनवरत आदान-प्रदान विकास की ही नहीं, वरन् अस्तित्व तक की भी पहली शर्त रहे हैं। वस्तुतः कला के क्षेत्र में प्रदूषण का प्रश्न बाहरी प्रभाव से नहीं बल्कि उस प्रभाव को ग्रहण करने के स्तर, इस प्रक्रिया के पीछे के उद्देश्य और नतीजतन बनने वाली चीज़ की आन्तरिक कलात्मक संगति और समग्र रूप से उसकी प्रासंगिकता और प्रामाणिकता से सम्बन्ध रखता है। प्रदूषण तब होता है जब कोई प्रभाव बिना कलाकार के अनुभव और कलागत आवश्यकता का हिस्सा बने, यूँ ही ऊपरी तौर पर फैशन के लिए या चमत्कार के लिए अपना लिया जाता है और कलाकार के अन्दर की गहरी, गर्म, सृजनात्मक भट्टी में पहले से उपलब्ध कलात्मक सोच के साथ तप, गल, समरस होकर कलाकृति में ढल निकलने की बजाय पैबन्द की तरह अलग से नज़र आता है। ताजमहल में हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य का सम्मिलन प्रदूषण नहीं है लेकिन निखालिस देशी देवी-देवताओं की भड़कीली मूर्तियाँ उत्पादन और उपभोग, दोनों स्तरों पर प्रदूषित रुचि और दृष्टि की परिचायक हैं। भीष्म साहनी के 'हानूश' में ऐसी प्रेरणा स्पष्ट है, लेकिन साँचा भारतीय है और कृति विश्वसनीय।

विषय बहुत बड़ा है अतः केवल भारत के परिप्रेक्ष्य में कुछ प्रमुख प्रदर्शनात्मक और दृष्ट अर्थात् 'परफॉर्मिंग' व 'विजुअल' कलाओं की बाबत कुछ बातें करना मुनासिब होगा।

प्रभावों और स्वरूपों के निरन्तर संचरण और परस्पर संचयन के बीच से गुजरते हुए किसी कला के निरन्तर समृद्धतर होते जाने का उदाहरण लेना हो तो भारतीय संगीत को लीजिए। पिछले छः सात सौ सालों में शास्त्रीय संगीत का जो अनूठा स्वरूप उभरा है, प्राचीन सामगान, छन्दगान, जातिगान इत्यादि में प्रदूषण होकर

1 आकाशवाणी जयपुर से दिनांक 5-8-77 को प्रसारित।

ही उभरा है। ख्याल ने ध्रुवपद से लिया और वह चल निकला, ध्रुवपद ने किसी से कुछ लेने से इन्कार किया और वह अपनी ही शैलीगत जकड़न में घुटा जा रहा है। बीसवीं शताब्दी और उसकी दो बड़ी देन—आवागमन और प्रसारण के क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांतियों ने न केवल देश के विभिन्न भागों में परस्पर सांगीतिक सम्मिलन की राह प्रशस्त की बल्कि भारतीय और पाश्चात्य सगीत के बीच भी आदान प्रदान की सम्भावनाएँ पैदा की।

लेकिन जैसा अक्सर होता है, पूर्व में हो चुकी क्रांति का उपभोक्ता और प्रशंसक भावी क्रांतियों के प्रति सशंक और शंकालु रहता है। आज हममें से अनेक को लगता है कि दक्षिण और उत्तर की पद्धतियों के बीच, कुछ रागों के आदान प्रदान को छोड़कर, किसी दूरगामी और उद्देश्यपूर्ण समन्वय की सम्भावना नहीं है। इसी तरह पश्चिम की 'हारमनी' व भारत की 'मैलाडी' के योग की सम्भावनाएँ भी नगण्य अथवा भयप्रद लगती हैं। लेकिन सच बात यह है कि कौन जान सकता है कि कला के क्षेत्र में खुले दरवाजों और मुक्त संचरण के इस युग में, कब कहाँ क्या महत्त्वपूर्ण और अनुभवों व धारणाओं को गलत बनाने वाला घट जाए। वृन्दगान समाप्त प्राय था आज नई शुरुआत पा रहा है, वृन्दवादन आज भी अटपटी शैशवावस्था में है, लेकिन जैसा मैंने कहा, कला के बारे में कौन कह सकता है।

तो, सगीत के क्षेत्र में प्रदूषण प्रभाव के स्तर पर नहीं है, लेकिन, कलाकार के अधकचरेपन और श्रोता के अज्ञान के रूप में वह जरूर उपस्थित हो गया है, सगीत हवेली और कोठे से उतरकर और मन्दिर से निकलकर सड़क पर तो आ-गया है लेकिन आधे तैयार लेकिन प्रसिद्धि के लिए आतुर अहंग्रस्त कलाकार और चिन्ताग्रस्त, जल्दबाज और सुर की चोट से महरूम श्रोता परस्पर मिलकर एक प्रदूषित ही नहीं घातक माहौल बना रहे हैं। रेडियो और सिनेमा ने सगीत सरिता के पाट तो चौड़े किए हैं, उसको गहरा बनाने में उनका योगदान नगण्य है। घराने टूटने से कूपमण्डूकता कम हुई है सगीत के लिए सार्वभौम और खुली दृष्टि से रचनात्मक होना सम्भव हो गया है लेकिन दूसरी ओर, रियाज, परिपक्वता और निष्ठा कम हुए हैं। भारतीय सगीत का मूल स्वभाव व बड़ा गुण इम्प्रोवाईज़ेशन होने से वह किन श्रोताओं की गोष्ठियों महफिलों में अधिक खिलता है, कान्फ्रेंसों के व्यावसायिक और औपचारिक तथा रेडियो के कामकाजी माहौल में यह कम ही सम्भव हो पाता है। लेकिन कुल मिलाकर शास्त्रीय और शहरी सरल सगीत की वैसी दुर्गति अभी नहीं हुई है जैसी ग्रामीण लोक सगीत व उससे जुड़े हुए लोकनाट्य की। यहाँ प्रदूषण सिर्फ प्रदर्शनात्मक स्तर पर नहीं, रचना के स्तर पर भी है। जो बातें सगीत के बारे में कही जा सकती हैं वही समानतः नृत्य पर भी लागू होती हैं। लोकनृत्यों को छोड़कर बाहरी प्रभावों से

वैभ्राय का खतरा या प्रमाण तो कम है लेकिन, शास्त्रीय म भी, पुराने को कम निष्ठा और कौशल स किया जा रहा है जबकि अर्थपूर्ण नये प्रयोग कम हो रहे हैं।

सगीत और नृत्य की तुलना म, नाटक और चित्रकला की स्थिति भारत मे भिन्न रही है। सगीत और नृत्य के पीछे कम-स कम छै सौ साल के क्रमिक और निरन्तर विकास की पृष्ठभूमि है। आधुनिक भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और नाटक के पीछे ऐसी कोई परम्परा नहीं है। सगीत और नृत्य शत्रु सना के प्रभाव-क्षेत्र से पर के गढ रहे हैं तो, दूसरी ओर नाटक और चित्रकला कैंटोनमेंट शहरो की मानिन्द विकसित हुए हैं।

बहुत स लोग चित्रकला म बगला स्कूल के बाद की और इतर गतिविधियो को लेकर बडे चिंतित और निराश दीखते हैं। उनको पाश्चात्य शलियाँ और वाद मात्र प्रदूषण होकर दीख पडते हैं। लेकिन मैं बिना किसी सकोच के यह मानता हूँ कि अजन्ता और मुगल और पहाडी और राजस्थानी और सूखाई 'कला म' कापी पिट चुकी थी और इस स्खलन और शून्य की स्थिति स हमे अमृता शेरगिल और उनकी तरह विदेशी प्रभाव पाए हुए कलाकारो ने ही उबारा है। हर कला आदोलन म तहरा के साथ भाग भी होता है। आधुनिक भारतीय चित्र-कला अपवाद नही है लेकिन जो नानाविद प्रयोग आज हो रहे हैं, और इनमे रसिक रावल और अलमेलकर जैस लोककला से प्रभावित प्रयोग भी शामिल हैं वे आधुनिक पाश्चात्य आदोलनो के सस्पर्श कहिए अथवा प्रदूषण के अभाव मे अकल्पनीय लगत हैं। यह दीगर बात है कि मूर्तिकला और स्थापत्य के क्षेत्र मे बहुत कम महत्वपूर्ण हो रहा है लेकिन गतिविधि के इस अभाव के पीछे प्रदूषण तो नही ही है। इसके विपरीत चण्डीगढ का स्थापत्य आधुनिक भारतीय कला के इतिहास मे अक्षम्य प्रदूषण का अकेला बडा उदाहरण है।

और पटाक्षेप के रूप मे चन्द बातें सिनेमा और नाटक के बारे म। भारतीय सिनेमा पर तो, कुछ अपवादो को छोडकर, सतही व्यावसायिकता इस कदर हावी है कि उसे कला मानते हुए सकोच होता है। एक सिरे से वह एक अधकचरी लेकिन रगीन शहरी नौटकी है जिसके पीछे नौटकी की आतरिक सगति भी नही है। कुल मिलाकर हमारा सिनेमा भ्रष्ट इरादो और भ्रष्ट रुचि का अनूठा लेकिन मासदायी मजमूआ है और कला के क्षेत्रो मे प्रदूषण का अकेला सबस बडा कारण भी है, परिचायक भी। रहा नवाग नाटक का, तो चित्रकला की तरह नये नाटया-दोलन की पहली लहर भी पाश्चात्य प्रभाव यानी प्रदूषण का नतीजा थी। सिनेमा के बढते हुए प्रभाव ने इस लहर का तो दबाया ही ग्रामीण नाकमच को भी कुठा और दुविधा से ग्रस्त बना दिया। अब नाटक की एक नई लहर सम्पूर्ण पाश्चात्य और लोकादेभी प्रभावों का आत्मसात करती हुई तथा सिनेमा से अलग और उसके समानातर चलने की क्षमता और साहस के साथ उठी है। निष्ठावान

नाट्यकर्मी और गम्भीर दर्शक अक्सर निराश और खिन्न हो जाते हैं और बिना मार्के-ममके आम आदमी का नाटक का नारा उछालनेवाले महानुभाव उनकी कोई सहायता करते नजर नहीं आते। लेकिन खासतौर पर उत्तर भारत के मामले में 30 40 साल का अर्सा किसी भी नई और संस्कार मांगने वाली विधा के लिए आखिर है भी क्या? पंजाबी नाटक की सफलता मात्र इस संस्कार-हीनता की भारतीय और यौन व स्वाद की चिरन्तन स्थिति का प्रकटीकरण है। ऐसा प्रदूषण हर विधा के साथ हमेशा काई की तरह जुड़ा रहा है। आधुनिक भारतीय नाटक की मूल समस्या प्रयोगजन्य या प्रभावजन्य प्रदूषण की नहीं, गम्भीर कला के संस्कार निष्ठा और साधनों की कमी है, और थोड़े हेरफेर के साथ यही बात सभी अन्य कलाओं के बारे में कही जा सकती है।

## कला और अश्लीलता

अश्लीलता क्या है इसका संक्षेप में बयान करना कठिन है। काम चलाने के लिये कह सकते हैं कि गोपनीय और गुह्य काम सम्बन्धों के प्रकट चित्रण वर्णन या मूर्तन को अश्लील कहते हैं। यह दूसरी बात है कि श्लील और अश्लील की सीमारेखा काल, देश और व्यक्ति यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति की विभिन्न मन स्थितियों तथा आयु के विभेदों के अनुसार बदलती रहती है।

इसके बाद सवाल आता है कला का। कला क्या है इसके बारे में अनेक मत हैं। कहा जा सकता है कि कला मन की अनुभूतियों और संवेगों के रंजक और कुशल अभिव्यक्तिकरण को कहते हैं। लेकिन कला क्यों हो इसको लेकर तो और भी तीव्र मतभेद है। एक ओर वे हैं जो कला को स्वान्त सुखाय और कलाकार का निजी मामला रखना चाहते हैं फिर भले ही कला के उद्गम में और कलाकार के कलाव्यक्तित्व के निर्माण में देश, काल, परिस्थिति और राजनीति इत्यादि का कितना ही अपरोक्ष हाथ क्यों न हो। दूसरी ओर वे हैं जो कला को लोक-कल्याण, सत्य शिव और सुन्दर इत्यादि से अपरिहार्य और परोक्ष रूप से जुड़ा हुआ और उनके प्रति प्रतिबद्ध देखना चाहते हैं।

जाहिर है कि जब अश्लीलता और कला के बारे में स्वतन्त्र रूप से इतना विचार वभिन्य है तो इन दोनों के एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्ध और मिलन बिन्दुओं को लेकर तो मामला और भी उलझा भरा हो जायगा। असल में कला और अश्लीलता को लेकर जो लम्बी चौड़ी बहसें चलती हैं उनके मूल में स्वय

अश्लीलता और कला तथा उसकी समाज सापेक्षता या सामाजिक ज़िम्मदारी को लेकर विभिन्न मत और स्थापनाएँ ही है।

लेकिन एक विशेष बात यह कि ये सभी बहसें पिछले कुछेक दशको की ही उपज है हालाकि कला म काम चित्रण कोई नई चीज़ नही ह। इसके मूल मे जाने पर हम पाते है कि फ्रायड और युग की परम्परा म काम प्रवत्तियो पर नय सिर स ज्यादा और पहले से खुला चिन्तन हुआ है। अथात जो चीज़ पहले जीवन का एक स्वाभाविक और मान्य अग थी वह अब परोक्ष रूप से अलग होकर उभरी है और उसी अनुपात म हम उसके प्रति अतिरिक्त सजग सचेत और क्राशस' हो गये है। (उदाहरण क लिये हम लोक सगीत और लोककथा तथा कय जातिया म इस विषय की नैसर्गिकता और उसके सहज स्वीकार को ले सकते हैं। डा० नीहाररजन राय ने लिखा है कि जहा पढे लिखे लोग उडीसा के देवालया के काम चित्रण से लज्जा अनुभव करत है वही एक सामान्य ग्रामीण उडिया पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नही होती)। इस प्रक्रिया को मदद मिली है शहरी जीवन की जटिलताओ और तनावो से गाँव और परिवार की इकाइयो के कमजोर पडन स उभर अकेलेपन और व्यक्तिवाद से व्यक्ति की बढती हुई स्वतन्त्रता स और कला के बटते हुए व्यावसायीकरण व उसकी पहुच और प्रसार सम्बधी यान्त्रिकताजन्य बढी हुई क्षमता से।

इस सबका नतीजा यह हुआ है कि "सैक्स" एक अलग विषय बनकर उभरा ह और सैक्स सम्बन्धी एक क्रान्ति, एक विस्फोट पश्चिम म हुआ है जिसके झटके अब हम भारत म भी अनुभव कर रहे हैं।

इस बडे विषय को विचार की प्रक्रिया मे समेटने के लिए कुछ नुक्ते कायम किए जा सकत है और वे य हैं—

कलागत अश्लीलता गभीर और सोददश्य कला म अश्लीलता या खुलेपन का क्या स्थान है और किस हद तक उसे जायज़ करार दिया जा सकता है ?

अश्लील कला क्या ऐसी कला नही हो सकती जिसका खुला उद्देश्य कामोद्दीपन हो और क्या उत्पादक को ऐसी चीज़ बनाने और उपभोक्ता को उसका निजी उपयोग करने की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिए ?

समाज और अश्लीलता सामाजिक नैतिकता और कानून किस हद तक उपरोक्त दोनो प्रकार की चीज़ो पर रोक लगाने के हकदार ह ? ससरशिप यदि हो तो कैसी होनी चाहिए ?

कला मे अश्लीलता का प्रश्न आज तीन स्तरो पर या तीन रूपो म हमारे सामन है एक ईमानदार और उच्चकोटि क महत्त्वपूर्ण साहित्य और कला म स्त्री पुरुष-सम्बन्धो के चित्रण मे सोद्देश्य खुलापन, दो नकल साहित्यकार और कलाकारो द्वारा कुल मिलाकर गभीर या गभीर-सी लगने वाली रचना म अश्लील

नाट्यकर्मी और गम्भीर दर्शक अक्सर निराश और
साचे-समझे आम आदमी का नाटक का नारा उछाल
कोई सहायता करते नजर नही आते। लेकिन खास
मामले म 30 40 साल का अर्सा किसी भी नई और स
के लिए आखिर है भी क्या ? पजाबी नाटक की मप
हीनता की भारतीय और यौन के स्वाद की चिरन्तन हि
ऐसा प्रदूषण हर विधा के साथ हमेशा काई की तरह जु-
भारतीय नाटक की मूल समस्या प्रयोगजन्य या प्रभाव
गम्भीर कला क सस्कार, निष्ठा और साधनो की कमी है
साथ यही बात सभी अन्य कलाओ के बारे म कही जा सकती

## कला और अश्लीलता

अश्लीलता क्या है इसको सक्षेप म बयान करना कठिन है।
लिय कह सकते है कि गोपनीय और गुह्य काम सम्बन्धो के प्रक
या मूतन को अश्लील कहते है। यह दूसरी बात है कि श्लील अ
सीमारेखा काल, देश और व्यक्ति यहा तक कि एक ही व्यक्ति
मन स्थितियो तथा आयु के विभेदो क अनुसार बदलती रहती है।

इसके बाद सवाल आता है कला का। कला क्या है इसके बार
हैं। कहा जा सकता है कि कला मन की अनुभूतियो और सवेगो के
कुशल अभिव्यक्तिकरण को कहते है। लेकिन कला क्या हो इसको लेक
भी तीव्र मतभेद हैं। एक ओर वे हैं जो कला का स्वान्त सुखाय और कर
निजी मामला रखना चाहते है फिर भले ही कला के उद्गम म और कर
कलाव्यक्तित्व के निर्माण मे देश, काल परिस्थिति और राजनीति इत
कितना ही अपरोक्ष हाथ क्यो न हो। दूसरी ओर वे हैं जो कला को लोक-
सत्य शिव और सुन्दर इत्यादि से अपरिहार्य और परोक्ष रूप से जुडा हुआ
उनके प्रति प्रतिबद्ध देखना चाहते हैं।

जाहिर है कि जब अश्लीलता और कला के बारे म स्वतन्त्र रूप से
विचार वैभिन्य है तो इन दोनों के एक दूसरे स परस्पर सम्बन्ध और
बिन्दु को लेकर तो मामला और भी उलझन भरा हो जायगा। असल म
और अश्लीलता को लेकर जो लम्बी चौडी बहसें चलती हैं उनके मूल म

अश्लीलता और कला तथा उसकी समाज सापेक्षता या सामाजिक जिम्मेदारी को लेकर विभिन्न मत और स्थापनाएँ रही है।

लेकिन एक विशेष बात यह कि ये सभी बहसें पिछले कुछेक दशकों की ही उपज है हालांकि कला मे काम-चित्रण कोई नई चीज नही है। इसके मूल मे जाने पर हम पाते है कि फ्रायड और युग की परम्परा मे काम प्रवृत्तियो पर नये सिरे से ज्यादा और पहले से खुला चिन्तन हुआ है। अर्थात् जो चीज पहले जीवन का एक स्वाभाविक और मान्य अंग थी वह अब परोक्ष रूप से अलग होकर उभरी है और उसी अनुपात मे हम उसके प्रति अतिरिक्त रूप से सचेत और 'काशस" हो गये हैं। (उदाहरण के लिये हम लोक संगीत और लोककथा तथा वन्य जातियो मे इस विषय की नैसर्गिकता और उसके सहज स्वीकार को ले सकते हैं। डा० नीहाररंजन राय ने लिखा है कि जहा पढे लिखे लोग उडीसा के देवालयो के काम चित्रण से लज्जा अनुभव करते है वही एक सामान्य ग्रामीण उडिया पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नही होती)। इस प्रक्रिया को मदद मिली है शहरी जीवन की जटिलताओ और तनावो से गाव और परिवार की इकाइयो के कमजोर पडने से उभरे अकेलेपन और व्यक्तिवाद से, व्यक्ति की बढती हुई स्वतंत्रता से और कला के बढते हुए व्यावसायीकरण व उसकी पहुच और प्रसार सम्बन्धी यान्त्रिकताजन्य बढी हुई क्षमता से।

इस सबका नतीजा यह हुआ है कि "सैक्स" एक अलग विषय बनकर उभरा है और सैक्स सम्बन्धी एक क्रान्ति, एक विस्फोट पश्चिम मे हुआ है जिसके झटके अब हम भारत मे भी अनुभव कर रहे है।

इस बडे विषय को विचार की प्रक्रिया मे समेटने के लिए कुछ नुक्ते कायम किए जा सकते है और वे ये है—

**कलागत अश्लीलता** गंभीर और साद्देश्य कला मे अश्लीलता या खुलेपन का क्या स्थान है और किस हद तक उसे जायज करार दिया जा सकता है ?

**अश्लील कला** क्या ऐसी कला नही हो सकती जिसका खुला उद्देश्य कामोद्दीपन हो और क्या उत्पादक को ऐसी चीज बनाने और उपभोक्ता को उसका निजी उपयोग करने की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिए ?

**समाज और अश्लीलता** सामाजिक नैतिकता और कानून किस हद तक उपरोक्त दोनो प्रकार की चीजो पर रोक लगाने के हकदार हैं ? सैंसरशिप यदि हो तो कैसी होनी चाहिए ?

कला मे अश्लीलता का प्रश्न आज तीन स्तरो पर या तीन रूपो मे हमारे सामने हैं एक ईमानदार और उच्चकोटि के महत्त्वपूर्ण साहित्य और कला मे स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो के चित्रण मे साद्देश्य खुलापन, दो, नकल साहित्यकार और कलाकारो द्वारा कुल मिलाकर गंभीर या गंभीर-सी लगने वाली रचना मे अश्लील

नाटयकर्मी और गम्भीर दशक अक्सर निराश और खिन्न हो जाते हैं और बिना सोचे समझे आम आदमी का नाटक का नारा उछालनेवाले महानुभाव उनकी कोई सहायता करते नजर नहीं आते। लेकिन खासतौर पर उत्तर भारत के मामले में 30 40 साल का अर्सा किसी भी रुच और संस्कार मांगने वाली विधा के लिए आखिर है भी क्या? पंजाबी नाटकों की सफलता मात्र इस संस्कार हीनता की भारतीय और यौन व स्वाद की चिरंतन स्थिति का प्रकटीकरण है। ऐसा प्रदूषण हर विधा के साथ हमेशा काई की तरह जुटा रहा है। आधुनिक भारतीय नाटक की मूल समस्या प्रयोगजन्य या प्रभावजन्य प्रदूषण की नहीं, गम्भीर कला के संस्कार, निष्ठा और साधनों की कमी है और थोड़े हरफेर के साथ यही बात सभी अन्य कलाओं के बारे में कही जा सकती है।

## कला और अश्लीलता

अश्लीलता क्या है इसको संक्षेप में बयान करना कठिन है। काम चलाने के लिए कह सकते हैं कि गोपनीय और गुह्य काम सम्बन्धों के प्रकट चित्रण वर्णन या मूर्तन को अश्लील कहते हैं। यह दूसरी बात है कि श्लील और अश्लील की सीमारेखा काल, देश और व्यक्ति यहां तक कि एक ही व्यक्ति की विभिन्न मन स्थितियों तथा आयु के विभेदों के अनुसार बदलती रहती है।

इसके बाद सवाल आता है कला का। कला क्या है इसके बारे में अनेक मत हैं। कहा जा सकता है कि कला मन की अनुभूतियों और संवेगों के रंजक और कुशल अभिव्यक्तिकरण को कहते हैं। लेकिन कला क्या हो इसको लेकर तो और भी तीव्र मतभेद है। एक ओर वे हैं जो कला को स्वान्त सुखाय और कलाकार का निजी मामला रखना चाहते हैं फिर भले ही कला के उदगम में और कलाकार के कलाव्यक्तित्व के निर्माण में देश, काल परिस्थिति और राजनीति इत्यादि का कितना ही अपरोक्ष हाथ क्यों न हो। दूसरी ओर वे हैं जो कला को लोक-कल्याण, सत्य शिव और सुन्दर इत्यादि से अपरिहार्य और परोक्ष रूप से जुड़ा हुआ और उनके प्रति प्रतिबद्ध देखना चाहते हैं।

जाहिर है कि जब अश्लीलता और कला के बारे में स्वतन्त्र रूप से इतना विचार वैभिन्य है तो इन दोनों के एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध और मिलन बिन्दु को लेकर तो मामला और भी उलझन भरा हो जायेगा। असल में कला और अश्लीलता को लेकर जो लम्बी चौड़ी बहसें चलती हैं उनके मूल में स्वयं

अश्लीलता और कला तथा उनकी समाज सापेक्षता या सामाजिक जिम्मेदारी को लेकर विभिन्न मत और स्थापन एँ रही है।

लेकिन एक विशेष बात यह कि ये सभी बहसें पिछले कुछेक दशकों की ही उपज हैं हालांकि कला म काम चित्रण कोई नई चीज नहीं ह। इसके मूल में जाने पर हम पाते है कि फ्रायड और युग की परम्परा मे काम प्रवृत्तिया पर नय सिर स ज्यादा और पहले से खुला चिन्तन हुआ है। अथात जो चीज पहले जीवन का एक स्वाभाविक और मान्य अग थी यह अब परोक्ष रूप से अलग होकर उभरी है और उसी अनुपात मे हम उसके प्रति अतिरिक्त सजग सचेत और "ाशस" हो गये हैं। (उदाहरण के लिये हम लोक सगीत और लोककथा तथा वन्य जातियो मे इस विषय की नैसर्गिकता और उसके सहज स्वीकार को ले सकते हैं। डा० नीहाररजन राय ने लिखा है कि जहा पढे लिखे लोग उडीसा के देवालयो के काम चित्रण से लज्जा अनुभव करते हैं व ी एक सामान्य ग्रामीण उ िया पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नही होती)। इस प्रक्रिया को मदद मिली है शहरी जीवन की जटिलताओ और तनावो स ाव और परिवार की इकाइयो के कमजोर पडने स उभर अकेलेपन और व्यक्तिवाद मे, व्यक्ति की बढती हुई स्वतन्त्रता से और कला के बढत हुए व्यावसायीकरण व उसकी पहुँच और प्रसार सम्ब वी यान्त्रिकताजन्य बढी हुई क्षमता से।

इस सबका नतीजा यह हुआ है कि "सक्स" एक अलग विषय बनकर उभरा ह और सैक्स सम्बन्धी एक क्रान्ति, एक विस्फोट पश्चिम म हुआ है जिसके झटके अब हम भारत मे भी अनुभव कर रहे है।

इस बडे विषय को विचार की प्रक्रिया मे समेटन के लिए कुछ नुक्ते कायम किए जा सकते हैं और व य हैं—

कलागत अश्लीलता गभीर और सादृश्य कला मे अश्लीलता या खुलेपन का क्या स्थान है और किस हद तक उस जायज करार दिया जा सकता है ?

अश्लील कला क्या ऐसी कला नही हो सकती जिसका खुला उद्देश्य कामो द्दीपन हो और क्या उत्पादक को ऐसी चीज बनाने और उपभोक्ता को उसका निजी उपयोग करने की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिए ?

समाज और अश्लीलता सामाजिक नतिकता और कानून किस हद तक उपरोक्त दोनो प्रकार की चीजो पर रोक लगाने के हकदार हैं ? सैंसरशिप यदि हो तो कैसी होनी चाहिए ?

कला में अश्लीलता का प्रश्न आज तीन स्तरो पर या तीन रूपो म हमारे सामने हैं एक ईमानदार और उच्चकोटि के महत्वपूर्ण साहित्य और कला मे स्त्री पुरुष-सम्बन्धो के चित्रण म सोद्देश्य खुलापन, दो, सफल साहित्यकार और कलाकारो द्वारा कुल मिलाकर गभीर या गभीर सी लगने वाली रचना म अश्लील

प्रसगा का जान-बूझकर किया गया व्यापारिक उपयोग, और तीन, विशुद्ध और ठेठ अश्लीलता।

इन तीना प्रकार की स्थितिया ने ढेरा उदाहरण हमारे सामने हैं। भारत म मध्य युग की मूतिकला और चित्रकारों द्वारा निवसनाप्रा का चित्रण इत्यादि पहली श्रेणी म आते है। हालांकि मन्दिरा म जितना और जसा काम चित्रण ग्यारहवी से तरहवी शताब्दिया म हुआ उतना और वैसा दसवी शताब्दी तक नही और इसका कारण उन शैव और शाक्त मता म ढूढा जा सकता है जो मध्य युग म उभरे और प्रभावशाली बने। साहित्य के क्षेत्र मे कालिदास के कुमार-सम्भवम स लेकर विद्यापति और जयदेव की रचनाम्रा तक मे बीसियो उदाहरण मौजूद हैं। पश्चिम म लेडी चेटरलेज लवर" हैनरी मिलर की पुस्तकें, जेम्स जायस की यूलिसिस' इत्यादि इसी श्रेणी मे आती है। काम विज्ञान की गभीर पुस्तकें जैसे वात्सायन का 'कामसूत्र' मरी स्टाप्स व हैवलाक एलिस के हिदायत-नामे और डा० डेविड रूबेन की बहुचर्चित पुस्तक 'एवरीथिंग यू वा टेड टू नो अबाउट सैक्स" भी इसी श्रेणी म आयेंगे।

ऊपर के सभी उदाहरणो मे व्यापार या मनुष्य की काम-वासना को भडकाना या उसके लिए खुराक जुटाने का कोई "कारस' उद्देश्य नही है। लेकिन पिछले दशका म एसे उदाहरण भी अधिकाधिक सख्या मे सामने आये हैं जिनमे विभिन्न स्तरा की कला सजना के साथ जान बूझकर सैक्स का पुट देने का मन्तव्य रहा है। उदाहरणस्वरूप 'पीटन प्लेस" व रिटन टू पीटन प्लेस और हैराल्ड रोबिन्स क कारपेट बगर्स" प्रभृति उपन्यासा का गिनाया जा सकता है जिनमे काम प्रसगा के विस्तत विवरण हैं हालांकि उनके बिना भी काम बखूबी चल सकता था। इस प्रकार के साहित्य और कला ने काम-सम्बन्धा और उनके चित्रण के क्षेत्र म पिछले वर्षों मे आई अभूतपूर्व स्वतन्त्रता और खुलेपन का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ हमको गभीर उद्देश्य, कुशल व्यापारिकता तथा सामयिक रीति विश्वासा का मजमूआ मिलता है। जाहिर है कि इस प्रकार के उदाहरणों म कलात्मक सौन्दर्य और सोद्देश्यता के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं। इस दूसरे वग की सीमा पर ही हम दि स सुअस मल" मार्का तथाकथित गभीर हिदायत नामे रखने पडेंगे जो लगभग पूणतया हालांकि प्रच्छन्न रूप म अश्लील हैं। ऐसी ही पुस्तकें हैं 'वुमैन' 'मैन' अस' इत्यादि जिनम कुछ नकली कुछ असली 'केस स्टडोज'-नुमा किस्सो क जरिये एक प्रकार के नये वैज्ञानिक सैक्सुअल काड की स्थापना की गई है लकिन जिनका असली उद्देश्य काम प्रसगो के विस्तत चित्रण देते चलना है हालांकि उनके प्रारम्भ और अन्त म नर नारी सम्बन्धा को लेकर कुछ वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और इतिहास सम्बन्धी बातें कहकर असलियत पर पर्दा डालने का प्रयास भी किया गया है। नाटक के क्षेत्र में इस

समय तक बाज़ी "ओह कैलकटा' के हाथ मे लगती है जिसने खुलेपन के नए प्रतिमान स्थापित किये हैं और जिसके सामने अब तक का 'हाट" कहा जाने वाला मसाला गीला स्पज नज़र आने लगता है।

लेकिन चूकि "ओह कैलकटा" मे आधुनिक जीवन की विसगतियो एव विद्रूपो को लेकर एक गम्भीर चिंतन भी कहीं-कहीं झलकता है इसलिय उसे तीसरी श्रेणी मे भी नही डाला जा सकता जिसमे वे ढेरा सस्ती महगी किताबे आयेंगी ना हर युग मे वयस्क मनोरजन के रूप मे पढी जाती रही है लकि जिनसे हर पिता ने अपने बच्चा का बचाना चाहा ह। इस वग का बहुत अच्छा उदाहरण इग्लैंड मे 17वी शताब्दी मे लिखी गई पुस्तक फनीहिल ' है। एसी और भी अनेका किताबें रही ह —चीन मे 'दि मिडनाईट स्वातर, भारत म 'अानगरग, ईरान मे 'परफ्यूमड गार्डेन इटली म डैकैमरन' इत्यादि इत्यादि। जापान मे नव विवाहिता को सचित्र पुस्तके दने की परम्परा चली आई है।

तो फिर क्या मचमुच कुछ भी नया नही है? है, सैक्स की अभूतपूव अतिरजना नई है। मेरी स्टाप्स से श्रीमती "एल तक का सक्रमण नया है, नग्नता स विकृति तक का सफर और सैक्स के नाम पर गलाज़त का धधा नया है। सयुक्त राज्य अमरीका मे अबाध बच्चो को लाखो रुपयो का एसा साहित्य डाक द्वारा भेजा जाना नया है, जो पहले शयनकक्ष के लिए था उसका चौराहे पर आ जाना नया है। वी० एस० नाइपाल ने एक जगह "पौर्नोग्राफी" और 'आब्सीन" मे अतर करते हुए यह कहा है कि 'पौर्नोग्राफी' म परिहास या विनोद रहता है जबकि 'आब्सीन' अरुचि पैदा करता है। डाम मोरस ने 'फैनीहिल' और आज धडल्ले से छपने—बिकन वाली और हर तरह की विकृति दर्शाने वाली पुस्तको की तुलना करते हुए लिखा है कि "फनीहिल' जो करती है और जिनसे करती है उसे और उत्तेपस द करती है जबकि इन दूसर प्रकार की किताबा म मात्र हिंसक और यात्रिक पाशविकता है।

कला या कला के नाम पर कहाँ और कसे कितनी अश्लीलता है इसका यह एक सक्षिप्त सर्वेक्षण है, लेकिन जैसा नामवर सिंह ने अपनी एक रडियो वार्ता म कहा था, अश्लीलता को समाज और सामाजिक नतिकता निरपेक्ष और विशुद्ध कलागत मामला मानने से काम नही चलेगा—निणय का वस्तुनिष्ठ सामाजिक आधार सदव रहेगा।

जहा तक मेरा प्रश्न है मैं खुशवन्त सिंह की बात दोहराना चाहूँगा—लेखन का विभाजन गदे और साफ मे नही अच्छे और बुरे मे होना चाहिए। मैं कहना चाहूँगा कि हमारा विरोध नग्नता से नही क्रूरता और फूहड़ता से होना चाहिए, कि सक्स बुरा नही है सैक्स मे एकातिक आसक्ति, उसकी अति, उसकी विकति बुरी है। विदेशो मे यदि खाज कोढ हुई जाती है तो हमारे यहा खाज को दबाकर

प्रसंगों का जान-बूझकर किया गया व्यापारिक उपयोग, और तीन, विशुद्ध और ठेठ अश्लीलता।

इन तीनों प्रकार की स्थितियों के ढेरों उदाहरण हमारे सामने हैं। भारत में मध्य युग की मूर्तिकला और चित्रकारों द्वारा नियसनाओं का चित्रण इत्यादि पहली श्रेणी में आते हैं। हालांकि मंदिरों में जितना और जैसा काम चित्रण ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दियों में हुआ उतना और वैसा दसवीं शताब्दी तक नहीं और इसका कारण उन शैव और शाक्त मतों में ढूंढा जा सकता है जो मध्य युग में उभरे और प्रभावशाली बने। साहित्य के क्षेत्र में कालिदास के कुमार-सम्भवम् से लेकर विद्यापति और जयदेव की रचनाओं तक के बीसियों उदाहरण मौजूद हैं। पश्चिम में 'लेडी चैटरलीज लवर", हैनरी मिलर की पुस्तकें, जेम्स जायस की 'यूलिसिस' इत्यादि इसी श्रेणी में आती हैं। काम विज्ञान की गंभीर पुस्तकें जैसे वात्स्यायन का 'कामसूत्र' मरी स्टाप्स व हैवलाक ऐलिस के हिदायत-नामे और डा० डेविड रूबेन की बहुचर्चित पुस्तक 'एवरीथिंग यू वांटेड टू नो अबाउट सेक्स' भी इसी श्रेणी में आयेंगे।

ऊपर के सभी उदाहरणों में व्यापार या मनुष्य की काम-वासना को भड़काना या उसके लिए खुराक जुटाने का कोई 'खास' उद्देश्य नहीं है। लेकिन पिछले दशकों में ऐसे उदाहरण भी अधिकाधिक संख्या में सामने आये हैं जिनमें विभिन्न स्तरों की कला सर्जना के साथ जान बूझकर सेक्स का पुट देने का मन्तव्य रहा है। उदाहरणस्वरूप 'पीटन प्लेस' व 'रिटर्न टू पीटन प्लेस" और हैरोल्ड रोबिंस के 'कारपेट बैगर्स' प्रभृति उपन्यासों को गिनाया जा सकता है जिनमें काम प्रसंगों के विस्तृत विवरण हैं हालांकि उनके बिना भी काम बखूबी चल सकता था। इस प्रकार के साहित्य और कला ने काम सम्बन्धों और उनके चित्रण के क्षेत्र में पिछले वर्षों में आई अभूतपूर्व स्वतन्त्रता और खुलेपन का भरपूर उपयोग किया है। यहां हमको गंभीर उद्देश्य, कुशल व्यापारिकता तथा सामयिक रीति विश्वासों का मजमूआ मिलता है। जाहिर है कि इस प्रकार के उदाहरणों में कलात्मक सौंदर्य और सोद्देश्यता के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं। इस दूसरे वर्ग की सीमा पर ही हम 'दि सुप्रसिद्ध मेल' मार्का तथाकथित गंभीर हिदायतनामे रखने पड़ेंगे जो लगभग पूर्णतया हालांकि प्रच्छन्न रूप से अश्लील हैं। ऐसी ही पुस्तकें हैं 'वुमैन" "मैन' 'अस" इत्यादि जिनमें कुछ नकली कुछ असली केस स्टडीज'-नुमा किस्सों के जरिये एक प्रकार के नये वैज्ञानिक सैक्सुअल कोड की स्थापना की गई है लेकिन जिनका असली उद्देश्य काम प्रसंगों के विस्तृत चित्रण देते चलना है हालांकि उनके प्रारम्भ और अन्त में नर नारी सम्बन्धों को लेकर कुछ वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय और इतिहास सम्बन्धी बातें कहकर असलियत पर पर्दा डालने का प्रयास भी किया गया है। नाट्य के क्षेत्र में इस

समय तक बाजी "ओह् कैलकटा' के हाथ मे लगती है जिसने खुलेपन के नए प्रतिमान स्थापित किए हैं और जिसके सामने अब तक का "हाट" कहा जाने वाला मसाला गीला स्पज नजर आने लगता है।

लेकिन चूकि "ओह् कैलकटा' मे आधुनिक जीवन की विसगतियो एव विद्रूपो का लेकर एक गम्भीर चिंतन भी कहीं-कहीं झलकता है इसलिए उसे तीसरी श्रेणी मे भी नही डाला जा सकता जिसमे वे ढेरो सस्ती महगी किताबें आयेंगी जो हर युग म वयस्क मनोरजन के रूप मे पढी जाती रही हैं लेकिन जिनसे हर पिता ने अपने बच्चा का बचाना चाहा है। इस वग का बहुत अच्छा उदाहरण इग्लैंड मे 17वी शताब्दी म लिखी गई पुस्तक 'फैनीहिल है। ऐसी और भी अनेको किताबें रही ह—चीन म 'दि मिडनाईट स्कालर, भारत म 'अनगरग, ईरान मे 'परफ्यूम्ड गार्डेन, इटली म डैकैमरन' इत्यादि, इत्यादि। जापान मे नव विवाहितो को सचित्र पुस्तकें देने की परम्परा चली आई है।

तो फिर क्या मचमुच कुछ भी नया नही है? है सैक्स की अभूतपूर्व अति रजना नई है। मेरी स्टोप्स से श्रीमती "एल" तक का सक्रमण नया है, नग्नता स विकृति तक का सफर और मैक्स के नाम पर गलाजत का धधा नया है। सयुक्त राज्य अमरीका म अबाध बच्चा को लाखो रुपयो का ऐसा साहित्य डाक द्वारा भेजा जाना नया है, जो पहले शयनकक्ष के लिए था उसका चौराहे पर आ जाना नया है। वी० एस० नाइपाल ने एक जगह "पौर्नोग्राफी' और 'आब्सीन" म अन्तर करते हुए यह कहा है कि "पौर्नोग्राफी" म परिहास या विनोद रहता ह जबकि "आब्सीन' अरुचि पदा करता है। डाम मोरेस ने "फैनीहिल' और आज धडल्ले स छपन—बिकने वाली और हर तरह की विकृति दर्शाने वाली पुस्तका की तुलना करते हुए लिखा है कि 'फैनीहिल" जो करती है और जिनसे करती है उसे और उन्ह पसन्द करती है जबकि इन दूसर प्रकार की किताबो म मात्र हिंसक और यात्रिक पाशविकता है।

कला या कला के नाम पर कहाँ और कैसे कितनी अश्लीलता है इसका यह एक सक्षिप्त सर्वेक्षण है, लेकिन जैसा नामवर सिंह ने अपनी एक रेडियो वार्ता मे कहा था, अश्लीलता को समाज और सामाजिक नैतिकता निरपेक्ष और विशुद्ध कलागत मामला मानने से काम नही चलेगा—निर्णय का वस्तुनिष्ठ सामाजिक आधार सबल रहेगा।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं खुशवन्त सिंह की बात दोहराना चाहूँगा—लेखन का विभाजन गदे और साफ मे नही अच्छे और बुरे मे होना चाहिए। मैं कहना चाहूँगा कि हमारा विरोध नग्नता से नही कुरूपता और फूहडता से होना चाहिए कि सक्स बुरा नही है सैक्स मे एकान्तिक आसक्ति, उसकी अति, उसकी विकृति बुरी है। विदेशों मे यदि खाज कोढ हुई जाती है तो हमारे यहाँ खाज का दबाकर

प्रसंगों का जान-बूझकर किया गया व्यापारिक उपयोग, और तीन, विशुद्ध और ठेठ अश्लीलता।

इन तीनों प्रकार की स्थितियों के ढेरों उदाहरण हमारे सामने हैं। भारत में मध्य युग की मूर्तिकला और चित्रकारों द्वारा निवसनाओं का चित्रण इत्यादि पहली श्रेणी में आते हैं। हालांकि मंदिरों में जितना और जैसा काम चित्रण ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दियों में हुआ उतना और वैसा दसवीं शताब्दी तक नहीं और इसका कारण उन शैव और शाक्त मतों में ढूंढ़ा जा सकता है जो मध्य युग में उभरे और प्रभावशाली बने। साहित्य के क्षेत्र में कालिदास के कुमार-संभवम से लेकर विद्यापति और जयदेव की रचनाओं तक के बीसियों उदाहरण मौजूद हैं। पश्चिम में 'लेडी चेटरलेज़ लवर', हैनरी मिलर की पुस्तकें, जेम्स जायस की 'यूलिसिस' इत्यादि इसी श्रेणी में आती हैं। काम विज्ञान की गंभीर पुस्तकें जैसे वात्स्यायन का 'कामसूत्र', मेरी स्टोप्स व हैवलाक ऐलिस के हिदायतनामे और डा० डेविड रूबेन की बहुचर्चित पुस्तक 'एवरीथिंग यू वांटेड टू नो अबाउट सैक्स' भी इसी श्रेणी में आयेंगे।

ऊपर के सभी उदाहरणों में व्यापार या मनुष्य की काम वासना को भड़काना या उसके लिए खुराक जुटाने का कोई 'कांशस' उद्देश्य नहीं है। लेकिन पिछले दशकों में ऐसे उदाहरण भी अधिकाधिक संख्या में सामने आये हैं जिनमें विभिन्न स्तरों की कला-सर्जना के साथ जान बूझकर सैक्स का पुट देने का मंतव्य रहा है। उदाहरणस्वरूप 'पीटन प्लेस' व 'रिटर्न टू पीटन प्लेस' और हैराल्ड रोबिंस के 'कारपेट बैगर्स' प्रभृति उपन्यासों को गिनाया जा सकता है जिनमें काम प्रसंगों के विस्तृत विवरण हैं हालांकि उनके बिना भी काम बखूबी चल सकता था। इस प्रकार के साहित्य और कला ने काम सम्बन्धों और उनके चित्रण के क्षेत्र में पिछले वर्षों में आई अभूतपूर्व स्वतंत्रता और खुलेपन का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ हमको गंभीर उद्देश्य कुशल व्यापारिकता तथा सामयिक रीति विश्वासों का मजमूआ मिलता है। जाहिर है कि इस प्रकार के उदाहरणों में कलात्मक सौंदर्य और सोद्देश्यता के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं। इस दूसरे वर्ग की सीमा पर ही हमें 'दि सुप्रसमल', 'मार्का तथाकथित गंभीर हिदायतनामे रखने पड़ेंगे जो लगभग पूर्णतया हालांकि प्रच्छन्न रूप से अश्लील हैं। ऐसी ही पुस्तकें हैं "वुमन' "मन" अस' इत्यादि जिनमें कुछ नकली कुछ असली 'केस स्टडीज़'-नुमा किस्सों के जरिये एक प्रकार के नये वैज्ञानिक सैक्सुअल कोड की स्थापना की गई है लेकिन जिनका असली उद्देश्य काम प्रसंगों के विस्तृत चित्रण देते चलना है हालांकि उनके प्रारम्भ और अंत में नर नारी सम्बन्धों को लेकर कुछ वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और इतिहास सम्बन्धी बातें कहकर असलियत पर पर्दा डालने का प्रयास भी किया गया है। नाटक के क्षेत्र में इस

समय तक बाजी "ओह् कैलक्टा" के हाथ मे लगती है जिसने नुलेपन के नए प्रतिमान स्थापित किये हैं और जिसके सामने गव तक का 'हाट" कहा जाने वाला मसाला गीला स्पज नजर आने लगता है।

लेकिन चूकि "ओह् कैलक्टा' मे आधुनिक जीवन की विसगतियो एव विद्रूपो को लेकर एक गम्भीर चिंतन भी कहीं-कहीं झलकता है इसलिय उसे तीसरी श्रेणी मे भी नही डाला जा सकता जिसमे वे ढेरो सस्ती-महगी किताबे आयेंगी जो हर युग मे वयस्क मनोरजन के रूप मे पढी जाती रही हैं लेकिन जिनसे हर पिता ने अपने बच्चो को बचाना चाहा है। इस वग का बहुत अच्छा उदाहरण इग्लड म 17वी शताब्दी म लिखी गई पुस्तक 'फैनीहिल है। ऐसी और भी अनेका किताब रही है —चीन मे 'दि मिडनाईट स्कालर, भारत मे अानगरग ईरान मे परफ्यूम्ड गार्डेन, इटली मे डैकैमरन' इत्यादि इत्यादि। जापान म नव विवाहितो को सचित्र पुस्तके दने की परम्परा चली आई है।

तो फिर क्या सचमुच कुछ भी नया नही है? है सैक्स की अभूतपूव अति-रजना नई है। मेरी स्टोप्स से श्रीमती एल' तक का सक्रमण नया है, नग्नता स विकृति तक का सफर और सैक्स के नाम पर गलाजत का धधा नया है। सयुक्त राज्य अमरीका म अबाध बच्चा को लाखो रुपयो का ऐसा साहित्य डाक द्वारा भेजा जाना नया है, जो पहले शयनकक्ष के लिए था उसका चौराहे पर आ जाना नया है। वी० एस० नाइपाल ने एक जगह "पौर्नोग्राफी" और 'आब्सीन" मे अतर करते हुए यह कहा है कि 'पौर्नोग्राफी' मे परिहास या विनोद रहता है जबकि 'आब्सीन' अरुचि पैदा करता है। डाम मोरेस ने "फैनीहिल" और आज धडल्ले से छपने—बिकने वाली और हर तरह की विकृति दर्शाने वाली पुस्तको की तुलना करते हुए लिखा है कि "फनीहिल" जो करती है और जिससे करती है उसे और उन्हे पसन्द करती है जबकि इन दूसरे प्रकार की किताबो मे मात्र हिंसक और यान्त्रिक पाशविकता है।

कला या कला के नाम पर कहाँ और कैसे कितनी अश्लीलता है इसका यह एक सक्षिप्त सर्वेक्षण है, लेकिन जैसा नामवर सिंह ने अपनी एक रेडियो वार्ता म कहा था, अश्लीलता का समाज और सामाजिक नैतिकता निरपेक्ष और विशुद्ध कलागत मामला मानने से काम नही चलेगा—निणय का वस्तुनिष्ठ सामाजिक आधार सबत्र रहेगा।

जहा तक मेरा प्रश्न है मैं खुशवन्त सिह की बात दोहराना चाहूँगा—लेखन का विभाजन गदे और साफ मे नही अच्छे और बुरे मे होना चाहिए। मैं कहना चाहूँगा कि हमारा विरोध नग्नता स नहीं, कुरूपता और फूहडता स होना चाहिए कि सैक्स बुरा नही है सैक्स मे एकान्तिक आसक्ति, उसकी अति, उसकी विकृति बुरी है। विदेशो मे यदि खाज कोढ हुई जाती है तो हमारे यहाँ खाज को दबाकर

किसी भयकर अन्दरूनी रोग म जन्म देने की प्रवृत्ति है। भारत का मैक्सुग्रल शिज़ोफ्रेनिया—विभाजित व्यक्तित्व—जिसे नीरद चौधरी ने "दिमाग म सक्स और दिल मे डर" इस शीर्षक से इंगित किया है एक विडम्बना ही कही जा सकती है क्योंकि हमने समग्र जीवन के एक आवश्यक उपादान के रूप मे काम का अस्तित्व बहुत पहले स्वीकार लिया था।

सक्स के नाम पर फूहड़पने और विकृति से समाज को बचाने का दायित्व यदि कानून और व्यवस्था पर है तो एक वयस्क, आत्म निर्णय लेने के अधिकारी व्यक्ति या जोड़े को भी यह हक है कि वह अपने मनोरंजन और आनन्द वृद्धि के लिये जिस साहित्य या उपकरण को चाहता है उसे प्राप्त कर सके। शयन-कक्ष की चीज़ सड़क पर नहीं आयेगी यह तो समाज कह सकता है लेकिन शयनकक्ष मे यह और ऐसे होगा यह कहने का अधिकार उसे कैसे मिलता है?

जस्टिस खोसला ने मिलियन फ्रीमन के इन विचारों को उद्धृत किया है पेट की भूख के लिए भोजन चुनने के अधिकार जितना ही नैसर्गिक है काम-सम्बन्धी भूख के लिये उद्दीपक सामग्री चुनने का अधिकार भी उतना ही है। यह दीगर बात है कि एक व्यक्ति का पकवान दूसरे का ज़हर हो सकता है।

जो व्यवस्था जो सैन्सर कलागत अश्लीलता कलात्मक अश्लीलता व जीवन म उसके स्थान बदलते हुए सामाजिक मूल्यों, वयस्कों के चयन अधिकार और बच्चों की सुरक्षा आदि के तथ्यों आग्रहों के नाजुक तवाजुन को सभाल सकती है वही सफल हो सकती है वरना बेसमझ वर्जना और निस्सीम जेलगामी के कुएँ और खाइयाँ सामने है हो।

## ध्वनि का सगीत-शास्त्र[1]

अपने मूल रूप मे सगीत एक कला है और अन्य कलाओं की भाँति उसका उद्गम और आधार मानव के सौन्दर्य-बोध और आत्मा के आनन्द का अभिव्यक्त करने और परस्पर बाँटने की कामना म है। लेकिन इस कला का भी एक वैज्ञानिक आधार व व्याकरण है जिसकी जानकारी उसको भली प्रकार समझने व उसकी सीमाओं के विस्तार के लिए आवश्यक है यह बात दूसरी है कि सगीत मे आनन्द प्राप्त करने मात्र के लिए उसका वैज्ञानिक आधार समझना ज़रूरी न हो या यह

1 आकाशवाणी जयपुर, 21 3 78

कि विज्ञान मात्र या व्याकरण मात्रसे संगीत नहीं बनता। इन्द्रधनुष का आनन्द लेने के लिए प्रकाश और रंगों के विज्ञान की जानकारी भले ही आवश्यक न हो लेकिन यदि यह समझना और दिखाना हो कि इन्द्रधनुष कैसे बनता है तो उस वैज्ञानिक *आधार व प्रक्रिया की जानकारी जरूरी है। संक्षेप में संगीत कला भी है, विज्ञान* भी हालांकि उसकी महत्ता और सार्थकता उसके विज्ञानातीत और एक अनिर्वचनीय आनन्द का स्रष्टा होने में है।

अब, संगीत का कच्चा माल ध्वनि है। यूं तो योगियों ने अनाहत या अनहद नाद की भी कल्पना की है जिसे गुरु ज्ञानी लोग सुनते हैं लेकिन संगीत की दृष्टि से केवल उस आहत नाद का महत्त्व है जो किसी मौलिक द्रव्य या वस्तु में कम्पन से पैदा होता है और जिसे हम अपने कानों के पर्दों में वैसे ही कम्पन पैदा होने पर सुन पाते हैं। संगीतोपयोगी ध्वनि अथवा नाद का उत्पादन लगातार और नियमित कम्पन से होता है जबकि संगीततर ध्वनि अथवा शोर के मामले में यह प्रक्रिया अव्यवस्थित और अनियमित होती है, इसीलिए संगीत को व्यवस्थित ध्वनि अथवा 'ऑरगनाइज्ड साउण्ड' कहा गया है। यदि शोर अनचाही आवाज या 'कानों में बदबू' है तो संगीत मनभावन आवाज है, ध्वनि की खुशबू है, ध्वनि की चित्रकला है।

एक सैकेण्ड में कोई ध्वनि उत्पादक माध्यम जितनी बार कांपता है वह उसकी आवृत्ति या फ्रीक्वैंसी कहलाती है। आवृत्ति का सम्बन्ध ध्वनि उत्पादक वस्तु की लम्बाई मोटाई, घनत्व इत्यादि से है। उदाहरण के लिए आप किसी तार को छेड़ते हैं तो तार यदि लम्बा होगा तो आवृत्ति कम होगी और छोटा होगा तो ज्यादा। कम्पनों की संख्या अधिक होने से ध्वनि ऊँची होती है कम होने पर नीची। मनुष्य का कान प्रति सैकेण्ड 20 से लेकर 38000 कम्पनों अथवा आन्दोलनों से उत्पन्न ध्वनियां ग्रहण कर सकता है हालांकि संगीत में अमूमन 30 से 4000 कम्पन प्रति सैकेण्ड वाली ध्वनियां ही काम में आती हैं।

ऊँचाई, नीचाई या तारता के पश्चात ध्वनि का दूसरा लक्षण होता है उसके छोटे बड़ेपन परिमाण अथवा तीव्रता का। घण्टी ऊँची लेकिन छोटी ध्वनि देगी, घण्टा नीची लेकिन बड़ी। ध्वनि की तीव्रता डैसिबल में नापी जाती है। एक सीमा से ऊपर की तीव्रता कान के लिए पीड़ादायक हो जाती है। पौप संगीत में ध्वनि की तीव्रता के लिए सहज आग्रह दीख पड़ता है।

ध्वनि का तीसरा लक्षण होता है जाति अथवा गुण अथवा प्रकार जिसके आधार पर विभिन्न व्यक्तियों अथवा वाद्यों की आवाजें अलग अलग पहचानी जा सकती हैं गोकि उनकी तारता एक ही हो सकती है। जाति अथवा गुण का यह भेद मूल ध्वनि के साथ उत्पन्न उपध्वनियों या आंशिकों पर निर्भर करता है। किसी ध्वनि का मीठापन और गुणवत्ता- रिचनैस —मूल ध्वनि के साथ इन उपध्वनियों

के सम्बन्ध और उनकी तीव्रता पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए तार और सुषिर वाद्यों में उपस्वर प्रावतक होते हैं और घनवाद्य के गनायनक। इसीलिए सितार सरोद अथवा बाँसुरी की ध्वनि मधुर मीठी और विपुल होती है।

संगीत की भाषा की बारहगट्टा स्वर होते हैं। स्वर की स्थिति उसकी आवृत्तियों पर निर्भर करती है लेकिन आवृत्तियों की संख्या की बजाए ज्यादा महत्त्वपूर्ण है दो स्वरों का परस्पर सम्बन्ध जो निर्भर करता है उनकी आवृत्तियों के परस्पर अनुपात और उनकी परस्पर संवादिता अथवा असंवादिता पर, जैसे अकेला चना भाड नहीं फोड सकता उसी तरह अकेले स्वर में संगीत नहीं बनता। स्वरों का परस्पर संवादिता मूल और उपस्वरों के परस्पर सम्बन्ध पर निर्भर करती है। जब परस्पर संवादिता नहीं होती तो टोन या बीटस उत्पन्न हो... पश्चिम में जिन स्वरों की आवृत्तियों का परस्पर अनुपात 4 5 6 है ... मेजर कॉर्ड या गुरु संघात व जिनकी आवृत्तियों का अनुपात 10 12 ... उनको माइनर कॉर्ड या लघु संघात माना गया है।

सप्तक चुने हुए अन्तरालों का वह सिलसिला है जो चुनी हुई आधार ध्व... व उसकी दुगुनी तारता की ध्वनि के बीच एक सीढ़ी बनाता है। पश्चिम में क... परस्पर संवादी अन्तरालों के उपयोग के कारण दो ही सप्तक मिलते हैं—मेज... और माइनर। मेजर मोड तीन मेजर कॉर्ड्स से बना है और माइनर मोड तीन... माइनर कॉर्ड्स से। इसके विपरीत भारतीय संगीत में स्वरों के बीच संवादिता... की कई स्थितियाँ सम्भव हैं जिनका निर्णय तानपूरे द्वारा प्रदत्त सतत स्वर सहनि... या हारमनी से होता है। फिर भी कुछ विद्वानों ने भारतीय संगीत में भी बारह... स्वरों वाले एक शुद्ध या आधार सप्तक की कल्पना की है जो पश्चिम के मेजर... मोड और भारत के षडज ग्राम के समान है।

इस छोटी-सी वार्ता में विभिन्न प्रकार के ग्राम अथवा स्केल्स उनसे प्राप्त मूर्छनाओं भारतीय संगीत के शुद्ध ग्राम और श्रुति सिद्धान्त की बारीकियों व तत्सम्बन्धित विवादों में जाना सम्भव नहीं है। अतः स्वरों और सप्तक के बारे में चन्द आधारभूत बातें ही सूचित की जा सकती हैं। मान लीजिए 240 आवृत्ति प्रति सेकण्ड वाले स्वर को आधार स्वर या मध्य सप्तक का स माना तो 480 आवृत्तियों पर यही स्वर दुगुनी तारता के साथ मिलेगा जिसे तार षडज कहा जाएगा। भारतीय शुद्ध सप्तक में इन दोनों के बीच छः अन्य शुद्ध स्वर माने गए हैं। स और प अचल हैं जबकि रे ग म ध व नि के विकृत रूप भी सम्भव हैं। ये पाँच विकृत व सात शुद्ध स्वर मिलकर कुल बारह स्वर का सप्तक बना। इन स्वरों का मूल्य अथवा आवृत्ति संख्या बदलने से अलग ग्राम बनेगा जबकि इनके चुनाव व उपयोग के क्रम से राग की सृष्टि होगी। गायन में मंद्र मध्य और तार सप्तक ही अधिकतर व्यवहृत होते हैं जबकि वादन में अन्य सप्तकों में भी संगीतन

घूमता है। स्वरा मे विकृति का परिमाण भी अलग अलग रागो मे भिन्न हो सकता है। प्राकृतिक सप्तक मे स्वरो के बीच परस्पर तीन निश्चित अन्तराल मिलते हैं अर्थात् गुरु, लघु और अध लेकिन सुविधा की दष्टि से सभी स्वरो के बीच एक से अन्तराल वाला टैम्पड स्केल या समसाधत ग्राम भी प्रचलित है। हारमोनियम मे हमे यही टैम्पड स्केल मिलता है। विभिन्न अन्तरालो को भिन्नो की शक्ल मे भी दिखाया जा सकता है और सैवर्टों और सैन्टो मे भी जो अधिक सुविधाजनक है।

इस वार्ता का समाप्त करने से पहले चन्द बाते पश्चिम मे पिछले कुछ दशको मे सगीत को लेकर जो प्रयोग होते रहे हैं उनके बारे मे। जैसे चित्रकला के क्षेत्र मे 'एक्शन पेंटिंग' नाटक के क्षेत्र मे एब्सड नाटक उपन्यास-लेखन के क्षेत्र मे फ्रास का नया उपन्यास और नृत्य के क्षेत्र मे पॉल टेलर इत्यादि के प्रयोग है, वैसे ही सगीत के क्षेत्र मे एलैक्ट्रोनिक सगीत, 'चास म्यूजिक' इत्यादि प्रयाग हुए हैं। राबट मिडलटन के शब्दो मे, यह नया सगीत खोज और अनुसधान का सगीत है, अवैयक्तिक और सामूहिक चेतना का सवाहक सगीत है—सगीत के शरीर और अवयवो से आगे बढकर यह प्रयास सगीत के मस्तिष्क की स्थापना का है।

जाहिर है कि इस नये आन्दोलन का प्रभाव ध्वनि के सगीतशास्त्र की प्रचलित या रुढ मान्यताओ पर बहुत दूरगामी और गहरा हाने वाला है। श्री एजनर ई० वेलू के शब्दो मे "समकालीन पाश्चात्य सगीत मे स्वरावली अर्थात मैलोडी ने अपने आपको अपनी कण्ठ सगीत मे उत्पत्ति से असपृक्त कर लिया है। अब उसमे ऐसी लम्बी फलागो और मोडो का समावेश हो रहा है जो पारम्परिक स्वर सगति और स्केल्स से बिल्कुल अलग पड जाते हैं और जो मानवकण्ठ के लिए दुष्कर है। इन प्रयोगो मे से एक जटिल लय और एक तीखी विसगत स्वर सगति उभरते हैं।"

कुल मिलाकर ये नये आन्दोलन सगीतोपयोगी ध्वनिया की सीमा और परिमाण मे अप्रत्याशित इजाफा कर रहे है और एक नये सीमाहीन सगीत को ईजाद कर रहे हैं।

## सृजन मे नवीन सौन्दर्यबोध सगीत मे

हर जीवन्त सस्कृति एक सतत सक्रमण के दौर से गुजरती रहती है। हर ऐसी सस्कृति का, उसका एक मूल रूप, एक विशिष्ट पहचान होती है और दूसरी सस्कृतिया से, कभी तेज, कभी मद्धम चलने वाले आदान प्रदानो के जरिये वह,

वही रहते हुए भी बदलती रहती है। यह बदलाव अच्छे के लिए भी होना है, बुरे के लिए भी। हालांकि समकालीन दृष्टिकोण ऐसा मूल्यांकन हमेशा कहां-कहीं कर पाये यह जरूरी नहीं और फिर कभी-कभी दूसरी संस्कृतियों के संसर्ग से जब परिवर्तन यदि इतने दूरगामी और गहरे हो जाएं कि मूल संस्कृति की विशेषताएं ही तिरोहित हो जाएं तो हम कहते हैं कि अमुक संस्कृति आक्रांत होकर विनष्ट हो गई या यह भी सम्भव है कि ऐसी कोई संस्कृति अपनी जड़ता के लिए दिए ही अपने गिर्द के चौघेरों की कीच ही पतनशील हो जाए।

अब, संगीत संस्कृति का महत्त्वपूर्ण लक्षण भी है वाहक भी। हर कला का मूल कर्म शब्द के व्यापक अर्थों में कमनीयता के सृजन, सौन्दर्य के प्रकटीकरण और प्रस्फुटीकरण का है। यहां सौन्दर्य या शृंगारिकता मात्र न समझें। कमनीयता की खोज का वास्तविकता से भागने का पर्याय न मानें। यहां इन शब्दों का अर्थ है —मनुष्यत्व, मानवीय संवेदना, उदात्त मनोभाव—इन सबकी खोज, इनकी तराश, जिन्दगी के साथ इनकी समन्विति।

हर कला की तरह संगीत के भी दो पक्ष हैं—स्थूल और सूक्ष्म। वाद्यकीय शरीर या संरचना और उसमें अंतर्निहित या उससे भी परे की उसकी आत्मा। संगीत सौंदर्य की सृष्टि कर सौंदर्यानुभूति कराए इसके लिए जरूरी है कि एक ओर तो उसमें तकनीकी श्रेष्ठता हो और दूसरी ओर वह अभीष्ट रस की सृष्टि करने में समर्थ हो।

यहां तनिक रुककर रस निष्पत्ति के क्षेत्र में संगीत और नृत्य की जो मर्यादाएं हैं थोड़ा जिक्र उनका कर लें। प्रयाग शुक्ल ने हिम्मत शाह के चित्रों पर टिप्पणी की—'सौंदर्य जो सुखद नहीं पर खींचता है।' क्या ऐसा संगीत भी हो सकता है? क्या सार्थक एब्सर्ड नाटक की तरह का एब्सर्ड संगीत मान्य बन सकता है? क्या संगीत के जरिए उदाहरण के लिए वीभत्स रस उपजाया जा सकता है? स्वरों से 'गुएर्निका' खींचा जा सकता है? पश्चिम में बर्लियोज और पैगानिनि भी हुए हैं। लेकिन बहस को छोटा रखते हुए हम कह सकते हैं कि अधिकांश में समस्त संगीत का और कम से कम भारतीय संगीत का मूल स्वर स्पृहणीय और कमनीय भावों की निष्पत्ति का ही रहा है असुन्दर, क्रूर, बीभत्स को उसने बरतने का प्रयास कम किया है।

अस्तु। संगीत का शरीर, उसके उपकरण, वही गिने चुने बारह स्वर हैं और उसकी आत्मा वही तन्मयता और वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी और उदात्त बनाने और सौन्दर्य की सृष्टि करने उसकी अनुभूति कराने से तअल्लुक रखती है। फिर संगीत में कैसा नवीन सृजन और कैसा नया सौंदर्यबोध।

लेकिन जैसा हम जानते हैं भारतीय संगीत में बहुत कुछ नया होता रहा है और अब भी हो रहा है हालांकि उस तेजी से और उतने मशीनीकरण के

साथ नही जैसा पश्चिम मे।

मध्यकाल मे मुस्लिम प्रभावो के पडने तक, भारतीय सगीत मे अचल मुकामा के स्थान पर चल मूर्च्छनाओ की प्रधानता थी। लेकिन अमीर खुसरो ने मुकाम या थाट पद्धति का प्रचलन किया और कारण चाहे जो भी रहा है—विदेशियो को वदोक्त शा से अनभिज्ञ रखन की तथाकथित मजबूरी या पुरानी परम्पराओ का जर्जरित हा चुकना या अज्ञात के गत म चला जाना, यह नई पद्धति उत्तर और दक्षिण भारत दोना म सवमान्य बन गई। अक्सर कहा जाता है कि उत्तर भारत म तो पुरातन सगीत बदल गया या भ्रष्ट हो गया लेकिन दक्षिण भारत म वह सनातन पवित्रता के साथ बरकरार रहा है। लेकिन जैसा आचाय वहस्पति ने दर्शाया ह, व्यकटमखी का मनकर्ता सिद्धात भी अचल मुकामा वाली व्यवस्था ही थी।

सजन म नवीन सौंदयबोध का एक और वडा उदाहरण उत्तर भारतीय सगीत के इतिहास स। मध्यकाल तक यहा ध्रुवपद का वालवाला था। लेकिन इब्राहीम शर्की और सदारग अदारग न ख्याल गायन प्रचलित किया और यह नया जादू कसे सिर चढकर बोला और बालता आ रहा है यह बतान की आवश्यकता ही नही।

ठुमरी का आविर्भाव कत्थक नत्य मे भाव प्रदशन के लिए हुआ। लकिन जब उसम रागदारी आडे आई तो बडी कुशलता से इस गायन प्रकार को अध शास्त्रीय व लचकीला रखकर, उससे अपेक्षित सादयानुभूति को खतर से बचा लिया गया। बडे गुलाम अली खा साहब न लोक सगीत और पूरब और पछाह अगो का मिला कर ठुमरी का अपना निराला गुलदस्ता बनाया। शोरी मिया ने ऊटो के सतारिया के गायन को टप्पे म ढाला और शास्त्रीय सगीत का एक नई विधा दी। फय्याज खा साहब न ध्रुवपद के नोम तोम अलाप को ख्याल से सपक्त कर लिया।

यह तो हुई वात विधाओ की। वैसे देखे तो हर बार जब कोई समथ भारतीय सगीतज्ञ किसी राग को उठाता है तो वह एक खाके म नये सिरे से रग भरता है—नया सजन करता है। शास्त्रोक्त परिधि के भीतर और परिधि के बाहर मचरण के बताये गए कानून कायदो को निबाहते हुए भी कल्पनाशीलता और उपज को पूरी गुजाइश देना—यह भारतीय सगीत की अपनी खासियत है। इसी प्रकार एक ही स्वर को विभिन्न रागा मे सूक्ष्म भिन्नताओ के साथ बरतने एक स्वर से दूसर तक जाने मे मीड के प्रयाग की आजादी और कण स्वरो के चलन के कारण उत्तर भारतीय सगीत, कलाकार के लिए सृजनात्मकता का वह आयाम खालता है जो पश्चिमी सगीत मे सुलभ नही है। इन्ही कारणा से एक ही राग अलग अलग घराना म अपनी अलग विशिष्टता लेकर सामने आती है।

लेकिन भारतीय सगीत के अनुगतिक या मैलोडिक होने से सजन या प्रति

पादन की जो आजादी यहां रही, वह समूह-गायन और वाद्यवृन्द के मामले में सीमायें बन गई। इस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं लेकिन राग को रखते हुए पाश्चात्य 'हारमनी' दुष्कर है और राग टूटती है तो मानो भारतीय संगीत टूटता है। आकाशवाणी वाद्यवृन्द ने महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। गायक 'क्वायर' भी अच्छा काम कर रहा है। शंकर जयकिशन ने जाज के साथ सितार बजवाया था। आनन्द शंकर भारतीय और पाश्चात्य संगीत के सम्मिश्रण अथवा, उनको साथ लेकर नए सृजन में रत है। लेकिन यह कहना कठिन है कि ऐसे किसी प्रयोग ने, रागों के पारम्परिक गायन—वादन का जो स्थान है, उसकी समता में कैसी भी स्वीकृति और सफलता पाई हो हालांकि उनके बारे में कोई फतवा देना गलत होगा। कुल मिलाकर, परम्परा के भीतर रहते हुए भी रविशंकर जी ने सितार-वादन अमीर खाँ साहब ने तराना गायन और कुमार गन्धर्व जी ने रागों को बरतने और लोक संगीत से प्रेरणा लेने के क्षेत्र में श्लाघ्य प्रयोग किए हैं। ऐसे अन्य कई उदाहरण गिनाए जा सकते हैं जैसे कत्थक में रानी करणा व डा० सक्सेना के संयुक्त प्रयास और गोपालकृष्णन का उत्तर और दक्षिण भारतीय परम्पराओं को नजदीक लाने सम्बन्धी कार्य। नवीन राग बनते ज्यादा हैं, चलते कम हैं, हालांकि यह भी एक उदाहरण है भारतीय संगीत में नवीन सृजन की सम्भावनाओं और नूतन सौन्दर्यानुभूति की सतत खोज का।

लेकिन वह पश्चिम है जहाँ संगीत के क्षेत्र में वास्तविक रूप से चमत्कारिक नया कुछ हो रहा है। पाप संगीत को एक सिर से हल्का शोर मचाऊ और बचकाना कहकर नकारना गलत है—इसमें बहुत से अच्छे तत्त्व हैं और उसकी व्यापक स्वीकृति गहरे माने रखती है। वह पारम्परिक लोकप्रिय और लोक संगीत का नया संस्करण है। इससे भी आगे जाते हैं वे प्रयोग जो यान्त्रिक या इलैक्ट्रोनिक संगीत को लेकर हो रहे हैं और सर्वथा अभूतपूर्व हैं।

देखना है, इस युग की उपज इस संगीत और हमारे युगातीत संगीत का सम्मिलन—टकराव क्या रंग लाता है।

## मेरे समय के कुछ शास्त्रीय संगीतज्ञ[1]

आज से पच्चीस वर्ष पहले तक शास्त्रीय संगीत के मेरे संस्कार और उसको लेकर मेरी अभिरुचि बचपन में दो-ढाई वर्ष तक की शिक्षा और पंडित ओंकार

---

1 'इतवारी पत्रिका', 23-5-76

नाथ ठाकुर, नारायण राव जी व्यास, गगूबाई हंगल, मनहर बर्वे इत्यादि के रेडियो से प्रसारित होने वाले साढ़े तीन मिनट के ग्रामोफोन रेकार्डों तक सीमित थी। फिर मैंने एक लांग प्लेइंग रिकार्ड खरीदा—पंडित रविशंकर और उस्ताद अली अकबर खाँ का बजाया राग बिलासखानी तोडी और धुन पलास काफी। इस बिलासखानी तोडी को मैंने बीसियों बार सुना और धीरे धीरे शास्त्रीय संगीत का अदभुत आकर्षण मुझे अपनी गिरफ्त में लेने लगा। जो लोग शास्त्रीय संगीत में रुचि लेना चाहते हैं पर ले नहीं पाते उनसे मेरा अनुरोध है कि वह इस या ऐसे ही किसी अच्छे एक ही रिकार्ड को बार-बार सुनें। शास्त्रीय संगीत 'एक्वायर्ड टेस्ट' या पैदा की गई रुचि है—लेकिन एक बार यह रुचि जागृत हो जाए तो फिर जो आनन्द उससे मिलता है, वह अद्भुत और अनिर्वचनीय है।

पंडित रविशंकर ने सितार के बाज को आधुनिक नफासत और कटाव तराश दी और उसे शिष्ट वर्ग और विदेशों में लोकप्रिय बनाने का महती कार्य किया, लेकिन अब मुझे अक्सर उनके वादन में एक प्रायोजित बनावट और चमत्कार का मोह दीखता है। जहां तक सितार-वादन के फन का सवाल है उसमें निखिल बनर्जी नये प्रतिमान स्थापित कर चुके हैं। निखिल सितार के योगी हैं—उनकी साधना विशुद्धता और संगीत के प्रति एकान्तिक निष्ठा विलक्षण है।

अगर निखिल सितार के योगी हैं तो विलायत खां उसके शहंशाह और रईस खाँ उसके वज़ीर। विलायत खां जिस दिन फार्म में हों उस दिन उनको सुनने से बढ़कर कोई दूसरा अनुभव होना मुश्किल है। उनके जैसा धाकड और दबंग कलाकार आज दूसरा कोई नहीं है। रईस खां की तरह ये भी अपने वाद्य से मानो एक चमत्कारी सहजता से खेलते हैं। दिक्कत इन लोगों के साथ यही है कि ये अतीव 'टैम्परामेंटल' कलाकार हैं और नाटकीयता, बडबोलापन और 'मूड' अक्सर उनके फन पर हावी हो जाते हैं।

अब्दुल हलीम जाफर खाँ के साथ दिक्कत मूड की नहीं, प्रदर्शनप्रियता की है। उनमें असीमित सम्भावनाएँ थीं लेकिन अफसोस उन्होंने अपनी दक्षता को संगीत के अर्द्ध शिक्षितों को समर्पित करना मुनासिब समझा। इसके उलट निष्ठा से बजाने वालों में कल्याणी राय और बलराम पाठक का नाम लिया जा सकता है तो अपनी सीमाओं में अच्छा बजाने वालों में विलायत के भाई इमरत खाँ का नाम भी लिया जा सकता है। एक और कलाकार जिन्होंने मुझे प्रभावित किया रुद्रवीणा वादक जियामोइनुद्दीन डागर हैं। सरोदिया में ही नहीं सभी वादकों में अली अकबर खाँ का विशिष्ट स्थान है। स्वर की जो सीधी पकड पवित्रता और आवाज की जो गम्भीरता उनमें है वह अन्यत्र दुर्लभ है हालांकि अमजद अली और जरीन दारूवाला भी बहुत अच्छा बजा रहे हैं। लेकिन इनसे पहले एक जमाना शरण रानी का भी रहा है। एक और वादक जिनके लिए भी मन में बड़ी इज्जत

रही है सारंगी वादक गोपाल मिश्रा हैं। उनके द्वारा शंकरलाल संगीत सम्मेलन में बजाया गया जाग भर संगीत सम्बन्धी अविस्मरणीय अनुभवों में से एक है। चौमुखे तबला वादकों में लतीफ अहमद तेजी से आगे आए हैं लेकिन सामता प्रसाद जी की बात ही कुछ और है। किशन महाराज की महारत में कोई शक नहीं है लेकिन उनके वादन का खड़ापन खलता है। मिठास में रामजी मिश्रा का जवाब नहीं है। नये वादकों में अल्लारखा के लड़के का नाम काफी सुना जाएगा। शिवकुमार शर्मा के संतूर की मिठास और शुद्धता का मैं कायल हूँ। बाँसुरी वादक हरिप्रसाद चौरसिया की सिद्धहस्तता में शक नहीं है लेकिन श्रोता को समाधिस्थ बना देने वाला संगीत उनके सामने बैठकर उनसे सुनना अभी मेरे लिए शेष है। नये कलाकारों में गिटार वादक विश्वमोहन भट्ट से बेहतर कला का होना मुश्किल है। वायलिन वादकों में एन राजम, डी० के० दातार और रामप्रसाद शास्त्री का कायल हूँ। वी० जी० जोग और शिशिर कणावर चौधरी अत्यन्त प्रतिष्ठित नाम हैं लेकिन उनके वादन की बहिर्मुखता संगीत के मेरे निजी रुझान में मेल नहीं खाती।

पुरुष गायकों में मेरे वक्त के दिग्गज ये रहे हैं—अमीर खाँ, भीमसेन जोशी, कुमार गन्धर्व और मल्लिकार्जुन मंसूर। भीमसेन जोशी इस दौर के सबसे बड़े प्राकृतिक गायक रहे हैं। उनका गायन उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में से फूटता है और अपनी रसीली सहजता के कारण सुधी और सामान्य श्रोताओं को एक-सा मोहता है। कुमार गन्धर्व का गायन बुद्धिमूलक प्रयोगधर्मिता का गाना है। कुमार ने परम्परा से हटकर एक अपना अलग मार्ग बनाया है। वे मेरे समय के सबसे बड़े प्रयोगवादी और मौलिक कलाकार रहे हैं। उनकी एक और बड़ी उपलब्धि लोक और शास्त्रीय के बीच के टूटे पुलों को जोड़ने की रही है। मल्लिकार्जुन मंसूर नये युग में पुरानी पारंगतता और रियाज की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मैंने उनके गाने में कभी सामान्यता नहीं देखी, न अपने स्तर से नीचे गाते सुना। उनके पुराने दुर्गा और तोड़ी के रिकार्ड का सुनना अपने आपमें एक अनुभव है अप्रचलित रागों के गाने में उनका सानी नहीं है।

लेकिन यदि मुझसे अपने सुने हुए कलाकारों में से किसी एक का चुनाव करने को कहा जाए तो वह नाम होगा स्वर्गीय उस्ताद अमीर खाँ का। अमीर खाँ गायकों के गायक थे। उनकी गहन गम्भीर आवाज़ ठहराव और चैनदारी अदभुत सरलता से ली गई क्लिष्ट तानें ख्याल गायकी को उस धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ मेरी दृष्टि में कोई दूसरा नहीं पहुँच पाया। अमीर खाँ ने बजाए पंडित ओंकारनाथ ठाकुर की तरह आवाज के प्रयोग से रस की निष्पत्ति के प्रयास के विशुद्ध स्वर की निस्सीम ताकत का सहारा लिया और यह साबित कर दिया कि प्रभाव पैदा करने के लिए गलेबाजी या कृत्रिम गलदश्रु भावनात्मकता की कतई

जरूरत नही है। उन्नीसवे रेडियो सगीत सम्मलन मे उनके गाय कोमल रिषभ आसावरी का टेप मेरी अनमोल निधि है। कम से कम अभी तक मैंने उससे बेहतर गाना नही सुना।

शास्त्रीय सगीत की दुनिया म मेरे जागने से पहले ही फय्याज खाँ साहब, पडित ओकारनाथ ठाकुर और बडे गुलाम अली खा का निधन हो चुका था या उनका सवश्रेष्ठ उनके पीछे था। इन महान गायको का बिना सामने बैठकर सुने, रिकार्डिग के आधार पर उनके बारे म मेरे जसे अल्पज्ञ के लिए फतवा देना धृष्टता होगी। केवल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करूगा। फय्याज खा साहब को महान् चतुर्दिक गायक कहा गया है लेकिन उनकी रेकार्डिग्ज ने मुझे कभी अभिभूत नही किया। इसी तरह ओकारनाथ ठाकुर जी के लिए मैं आरम्भ जितना ऊचा स्थान सुरक्षित नही रख पाया। बडे गुलाम अली खा साहब की ठुमरियो का जवाब नही लेकिन एक ख्यालिए के रूप म वे भी अब मुझे उतना प्रभावित नही करते जितना पहले करते थे।

उस्ताद निसार अहमद खा के स्वर के पक्केपन और आवाज़ की समृद्धि ने मुझे प्रभावित किया है। एक बात इसी सिलसिले मे पुराने गायको म प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी आधुनिक नफासत और तकनीक का अपेक्षाकृत अभाव रहता था, लेकिन रियाज, ताल, स्वर और आवाज के मामले म मूड वूड के चक्कर स मुक्त होने म वे आज के मुकाबले मे कितने अधिक धनी और ठोस थे यह बात देखनी हो तो मनीराम जी के साथ जसराज जी को या निसार हुसन खा के साथ सरफराज हुसैन को सुन लीजिए।

पुराने उस्तादो मे स्वर्गीय अब्दुल करीम खाँ साहब के गायन म जो सुकून और पारलौकिकता मैंने अनुभव किए हैं वे अ यत्र नही। किराना घराने के इस महान प्रवत्तक के चरणो मे मन श्रद्धा स झुक जाता है। स्वर्गीय पटवधन जी और वयोवद्ध व्यासजी अपने वक्त के चोटी के गायक और शास्त्रज्ञ रहे हैं लेकिन उनके गायन म क्रमश रस और विविधता का अपेक्षाकृत अभाव मैंने अनुभव किया है। कृष्णराव शकर पडित और स्वर्गीय रातनजनकर जी के गायन का रस लेने म भी रस की कमी और आवाज़ की रूक्षता मेरे आडे आती रही है।

ध्रुपद धमार की गायकी मुझे ज्यादा नही रुचती। मुझे उसमे दगल ज्यादा सगीत कम भासता रहा है। लेकिन यदि ये ध्रुपद धमार रामचतुर मल्लिक के गाये हुए हो तो मैं सौ काम छोडकर उन्हे सुनूगा। एक और कलाकार जो अब सुनने म कम आते हैं बडादा के शिवकुमार शुक्ल हैं उनकी हसध्वनि का जवाब नही है।

महिला कलाकारो म जानकार लोग हमेशा केसरबाई केरकर से बात शुरू करते हैं। उनके मैंने सिर्फ छोटे रिकाड सुने हैं और उनसे उनकी महानता का

परिचय मुझे नहीं मिल सका। लेकिन अल्लादिया ख
म ही किशोरी अमानकर के गायन में, मुझे वह सब
अकृत्रिमता लेकिन उसके साथ जुड़ा हुआ कलाकार
त्मक रंग और पैशन या जुनून—जिसकी मैं कद्र और
घराने की शुद्धता और अंतर्मुखता का श्रेष्ठतम रूप अ
उनका मारू विहाग का रेकार्ड और नेशनल प्रोग्राम
उनकी क्लास के द्योतक है। परवीन सुल्ताना का
होता तो कर्णप्रिय लगता है। लक्ष्मी शंकर का अ
संगीत सम्मेलन में उनका गाया सम्पूर्ण मालकौंस या
जितना गाती हैं संयत और मीठा गाती हैं। गिरिजा
आवाज़ अक्सर आकर्षित करते हैं। अपेक्षाकृत न
और अलका देव का गाना मुझे अच्छा लगा है। पुराने
और गंगूबाई हंगल का अपना अलग और विशिष्ट स
परिपक्वता में उनका सानी नहीं है। अर्द्धशास्त्रीय सं
जो शून्य छोड़ गई हैं उसको शायद शोभा गुर्टू कुछ ह

नई पीढ़ी के पुरुष गायकों में पंडित जसराज
मुस्तफा शराफत हुसैन खां और नसीर अहमद खां
आते हैं। जसराज जी का शुरू का रंग पटियाला से
प्रधान था जैसे उनके 1966 के हंसध्वनि और शुद्ध
बाद में उन पर आगरा घराने और अमीर खां साहब
पिछले दिनों मुझे अक्सर लगा है कि उनकी गायकी
संपुटन होकर एक निजी और विशिष्ट स्टाइल बनन
कि उनका गायन पहले की अपेक्षा सचेष्ट, सप्रयास,
और बहिर्मुखी हो गया है। लेकिन यह प्रतिभाशाली
करने से परे नहीं है।

यह आकस्मिक संयोग नहीं है कि मुझे जितेन्द्र अ
और निष्कपट गाना अच्छा लगता है और जसराज
के मौजूदा गाने में काफी साम्य है। गुलाम मुस्तफा
बहुत अच्छा गाते हैं। उनका गाया भोपाल ताड़ी' उ
हरण है। आगरा घराने की प्रदर्शनमूलक पद्धति मुझे
लेकिन शराफत हुसैन खां का गाना मुझे अच्छा लग
साबित करता है कि शैली चाहे जो हो यदि संगीत
है तो वह प्रभावित करेगा। नसीर अहमद न भारी
मुझे लगता है अब वे शायद ही पूरी हो पायें।

सच्चा सुर लगाना दुनिया के सबसे अधिक मुश्किल कामो मे से एक है। अच्छा और प्रसिद्ध गायक बनना तो फिर और भी कठिन। इसलिए, आवश्यक तौर पर, ऊपर सक्षेप मे जो कहा गया है उसके पीछे अवज्ञा का भाव नही, अपनी निजी राय देने का है। सहमति—असहमति दोनो स्थितियो मे मेरा उद्देश्य पूरा होता है—हम शास्त्रीय सगीत के प्रति उन्मुख हो, उससे जुडें, अपनी इस महान् विरासत की कद्र करें।

## मिली-जुली रोशनी सगीत मे[1]

उत्तर व दक्षिण भारत मे आज जो सगीत शैलिया प्रचलित हैं वे किस हद तक भारत और शाङ्गदेव की परम्परा मे हैं और किस हद तक मुस्लिम परम्परा से प्रभावित। उत्तरी और दक्षिणी शैलियाँ किस हद तक समान अथवा पृथक हैं, व्यक्टमखी की मेल पद्धति देशी है या विदेशी मुस्लिम काल मे सगीत के शिल्पगत सौन्दर्य मे वृद्धि के साथ साथ क्या उसका नैतिक स्तर गिर गया—इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो लम्बी बहसो के केन्द्र हैं और जिन्हे यहाँ उठाना समीचीन न होगा। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि मुसलमानो के साथ आए अचल मुकामो' या सस्थानो' और थाटा के आधार पर रागो के वर्गीकरण के सिद्धान्तो ने चल मूर्छनाओ पर आधारित राग-रागिनी वर्गीकरण की हिन्दू-परम्परा पर गहरा प्रभाव डाला। आज का उत्तर भारतीय सगीत इसी सम्मिलन का परिणाम है। अपने मौजूदा रूप मे वह न हिन्दू है न मुस्लिम, भारतीय है, और उसमे सभी वर्गों और क्षेत्रो का योगदान रहा है। और वैसे तो मुसलमानो के साथ अरबी फारसी प्रभाव भारत मे आने से पहले भी,भारत और इन देशो के बीच सास्कृतिक आदान-प्रदान की लम्बी परम्परा रही है। ध्यान रखने की बात यह है कि विदेशी प्रभाव से हिन्दू-सगीत नष्ट नही हुआ बल्कि विदेशी प्रभावो को ग्रहण और आत्मसात करके वह नये सौन्दर्य और प्राणवत्ता के साथ सामने आया। एक अरेबियन विद्वान् के शब्दो मे 'भारतीय सगीत ठीक उस सागर के समान है, जिसमे चारों ओर की सब नदियाँ मिलती हैं, और फिर भी सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोडता ।'

ऐसा जान पडता है कि मुसलमानों के आगमन से पहले यहाँ धारू, प्रबन्ध, छन्द प्रस्तुत इत्यादि का प्रचलन था जो सस्कृत या दाक्षिणात्य भाषाओ मे होते

---

1 आकाशवाणी जयपुर से 7-1-70 को प्रसारित वार्ता।

परिचय मुझे नहीं मिल सका। लेकिन अल्लादिया खां साहब की गायन परम्परा मे ही किशोरी अमोनकर के गायन मे, मुझे वह सब कुछ मिलता है—तन्मयता, अनुद्विग्नता लेकिन उसके साथ जुड़ा हुआ कलाकार का निजी व विशिष्ट कलात्मक रंग और पैशन या जुनून—जिसकी मै कद्र और तलाश करता हूँ। किराना घराने की शुद्धता और अन्तर्मुखता का श्रेष्ठतम रूप आज प्रभा अत्रे में मिलता है। उनका मारू बिहाग का रेकार्ड और नेशनल प्रोग्राम में गाये यमन और बागेश्वरी उनकी क्लास के द्योतक हैं। परवीन सुल्ताना का संगीत जब प्रदर्शनप्रिय नहीं होता तो कर्णप्रिय लगता है। लक्ष्मी शंकर का अपना अलग रंग है। रंडिया संगीत सम्मेलन में उनका गाया सम्पूर्ण मालकौंस याद रहेगा। मालविका कानन जितना गाती हैं सयत और मीठा गाती हैं। गिरिजा देवी का सीधा एप्रोच और आवाज़ अक्सर आकर्षित करते हैं। अपेक्षाकृत नये नामों में मालिनी राजुरकर और अलका देव का गाना मुझे अच्छा लगा है। पुराने लोगो में रोशन आरा बेगम और गंगूबाई हंगल का अपना अलग और विशिष्ट स्थान है। गायकी की गम्भीर परिपक्वता में उनका सानी नहीं है। अर्द्धशास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में बेगम अख्तर जो शून्य छोड़ गई हैं उसको शायद शोभा गुर्टू कुछ हद तक भर सकें।

नई पीढ़ी के पुरुष गायको मे पंडित जसराज, जितेन्द्र अभिषेकी गुलाम मुस्तफा शराफत हुसैन खां और नसीर अहमद खां के नाम सहज ही उभरकर आते हैं। जसराज जी का शुरू का रंग पटियाला से मिलता जुलता और माधुर्य-प्रधान था जैसे उनके 1966 के हंसध्वनि और शुद्ध बराड़ी रिकार्ड से स्पष्ट है। बाद मे उन पर आगरा घराने और अमीर खाँ साहब के भी प्रभाव पड़े लगते हैं। पिछले दिनो मुझे अक्सर लगा है कि उनकी गायकी मे इन विभिन्न प्रभावो का संपुटन होकर एक निजी और विशिष्ट स्टाइल बनना अभी शेष है और यह भी कि उनका गायन पहले की अपेक्षा सचेष्ट, सप्रयास, अपने स्थान के प्रति सतर्क और बहिर्मुखी हो गया है। लेकिन यह प्रतिभाशाली कलाकार अब भी अभिभूत करने से पर नहीं है।

यह आकस्मिक संयोग नहीं है कि मुझे जितेन्द्र अभिषेकी का भावना प्रधान और निष्कपट गाना अच्छा लगता है और जसराजजी के पुराने और अभिषेकी के मौजूदा गान मे काफी साम्य है। गुलाम मुस्तफा जब व कृत्रिम नहीं होते, बहुत अच्छा गाते हैं। उनका गाया 'भोपाल तोड़ी' उनकी कला का बढ़िया उदाहरण है। आगरा घराने की प्रदर्शनमूलक पद्धति मुझे ज्यादा आकृष्ट नहीं करती। लेकिन शराफत हुसैन खाँ का गाना मुझे अच्छा लगता है और य इस बात को साबित करता है कि शैली चाहे जो हो, यदि संगीत ईमानदार और कौशलयुक्त है तो वह प्रभावित करेगा। नसीर अहमद ने भारी अपेक्षायें जगाई थी लेकिन मुझे लगता है अब वे शायद ही पूरी हो पावें।

सच्चा सुर लगाना दुनिया के सबसे अधिक मुश्किल कामो मे से एक है। अच्छा और प्रसिद्ध गायक बनना तो फिर और भी कठिन। इसलिए आवश्यक तौर पर, ऊपर सक्षेप मे जो कहा गया है उसके पीछे अवज्ञा का भाव नही, अपनी निजी राय देने का है। सहमति—असहमति दोनो स्थितियो मे मेरा उद्देश्य पूरा होता है—हम शास्त्रीय सगीत के प्रति उन्मुख हो, उससे जुडें, अपनी इस महान् विरासत की कद्र करे।

## मिली-जुली रोशनी सगीत मे[1]

उत्तर व दक्षिण भारत मे आज जो सगीत शैलियाँ प्रचलित है वे किस हद तक भारत और शार्ङ्ग देव की परम्परा मे हैं और किस हद तक मुस्लिम परम्परा से प्रभावित। उत्तरी और दक्षिणी शैलियाँ किस हद तक समान अथवा पृथक हैं, व्यकटमखी की मेल पद्धति देशी है या विदेशी, मुस्लिम काल मे सगीत के शिल्पगत सौन्दर्य मे वृद्धि के साथ साथ क्या उसका नैतिक स्तर गिर गया—इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो लम्बी बहसो के केन्द्र है और जिन्हे यहाँ उठाना समीचीन न होगा। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि मुसलमानो के साथ आए अचल 'मुकामो' या 'सस्थानो' और थाटो के आधार पर रागो के वर्गीकरण के सिद्धान्तो ने चल मूर्छनाओ पर आधारित राग-रागिनी वर्गीकरण की हिन्दू परम्परा पर गहरा प्रभाव डाला। आज का उत्तर भारतीय सगीत इसी सम्मिलन का परिणाम है। अपने मौजूदा रूप मे वह न हिन्दू है न मुस्लिम, भारतीय है, और उसमे सभी वर्गों और क्षेत्रो का योगदान रहा है। और वैसे तो मुसलमानो के साथ अरबी फारसी प्रभाव भारत मे आने से पहले भी,भारत और इन देशो के बीच सास्कृतिक आदान-प्रदान की लम्बी परम्परा रही है। ध्यान रखने की बात यह है कि विदेशी प्रभाव से हिन्दू-सगीत नष्ट नही हुआ बल्कि विदेशी प्रभावो को ग्रहण और आत्मसात करके वह नये सौन्दर्य और प्राणवत्ता के साथ सामने आया। एक अरेबियन विद्वान् के शब्दो मे 'भारतीय सगीत ठीक उस सागर के समान है, जिसमें चारो ओर की सब नदियाँ मिलती हैं, और फिर भी सागर अपनी मर्यादा को नहीं छोडता।'

ऐसा जान पडता है कि मुसलमानो के आगमन से पहले यहाँ ध्रुव, प्रबन्ध, छन्द, प्रस्तुत इत्यादि का प्रचलन था जो सस्कृत या दाक्षिणात्य भाषाओ मे होते

---

1 आकाशवाणी जयपुर से 7-1-70 को प्रसारित वार्ता।

थे। भरत के 'जाति गीतों' से 'राग' तक का सफर तय हो चुका था। 13वीं शती तक संस्कृत ग्रन्थों में ध्रुपद का उल्लेख नहीं मिलता। उधर, 13वीं शताब्दी में ही लिखे गये शार्ङ्ग देव के प्रसिद्ध ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में तुरुष्कगौड़ इत्यादि रागों के उल्लेख में मुस्लिम प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी के आसपास सूफी संत बहाउद्दीन जकरिया ईरानी और भारतीय रागों के मेल से मुलतानी जैसे नये राग बना रहे थे। अमीर खुसरो ने इस प्रक्रिया को तेज किया। उन्होंने यमन, भीलफ सरपरदा जैसे अनेक मिश्र राग बनाये और कौल तराना कव्वाली और ख्याल प्रणालियों का प्रचलन किया। दक्षिणी वीणा का परिष्कार करके सितार के पूर्वज 'सहतार' और तबले का आविष्कार भी या तो इन्होंने या बाद में सदारंग के भाई खुसरो खाँ ने किया।

हिन्दू परम्परा वाले प्रबन्ध से ध्रुपद उद्भूत हुआ जिसे बाद में ग्वालियर के राजा मानसिंह ने नवजीवन दिया। इसी के समानान्तर और ध्रुपद में से ही निकली, लेकिन उसकी अपेक्षा कम आध्यात्मिक और अधिक रूमानियत और फिरत की गुंजाइश रखने वाली, मुस्लिम परम्परा की ख्याल गायकी को जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की, मालवा के बाज बहादुर और दिल्ली के सदारंग अदारंग ने आगे बढ़ाया। अरबी प्रभाव से अनेक नये वाद्ययन्त्रों जैसे, स्वरमण्डल रबाब शहनाई और नौबत का प्रचलन हुआ। अकबर से लेकर मुहम्मदशाह रंगीले तक दिल्ली से यह नई रोशनी तेजी से विकीर्ण होती रही। बाद में क्रमशः लखनऊ, रामपुर जैसी प्रान्तीय राजधानियाँ उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होती गईं। 19वीं शती के प्रारम्भ में लखनऊ के शोरी मियाँ ने पंजाबी लोक संगीत के आधार पर टप्पे का आविष्कार किया।

इस प्रकार एक तो राजाओं—महाराजाओं के प्रश्रय में दरबारी संगीत विकसित हुआ, और दूसरी ओर, देशी संगीत जिसमें भक्ति भाव और लोक-शैलियों का प्राधान्य था। बाद में जब दरबारी संगीत महज दिमाग और गले की कसरत हो चला तो, जवाब में, लखनऊ में ठुमरी-दादरा का आविर्भाव हुआ हालांकि तत्कालीन परिस्थितियों ने उनमें शृंगारिकता का आधिक्य कर दिया। परिणामस्वरूप संगीतज्ञों के चाल चलन और प्रतिष्ठा का स्तर गिर गया और 19वीं शती के पूर्वार्द्ध में शायर मोमिन ने उसी तनख्वाह पर कपूरथला जाना, जो वहाँ के एक गायक को मिल रही थी, अपमान समझा। इसकी तुलना में दक्षिण में नियमों का पालन ज्यादा कड़ाई से हुआ, संगीत सर्वसाधारण के जीवन का अंग बना रहा और उसमें आध्यात्मिकता का गहरा पुट भी बरकरार रहा।

उत्तर भारत में हिन्दू मुस्लिम परम्पराओं के सम्मिलन का कारण यह भी रहा कि बहुत से मुस्लिम गायक प्रारम्भ में हिन्दू ही थे। पेशेवर गायक जाति ढाढ़ी, पहले हिन्दू थी। अब्दुल्लाहीन और अल्लाबन्दे के पिता बेराम खाँ ऐसी जाति

के थे और उनका रहन सहन बिल्कुल हिंदुआना था। ग्वालियर के शकर पडित और एकनाथ पडित को निसार हुसैन ने उनके घर पर पडितो की भाति रहकर ही सिखाया। तानसेन, चाद खा—सूरज खा, नत्थन खा, अल्लादिया खा अमीर खा—इन सबके पूवज हिंदू थे। ग्वालियर के प्रसिद्ध हद्दूहस्सू और उनके चचेर भाई नत्थे खा माथे पर चन्दन लगाकर हिंदुओ की तरह रहते थे।

असल मे धम और राजनीति ने भले ही हिंदू-मुसलमानो को लडाया हो, कम से कम सगीत के क्षेत्र मे तो वे दूध-पानी की तरह घुले-मिले हैं। ज्यादातर सगीतज्ञ धर्मांधता और सकीणता के दोष स मुक्त थ। ब्रज के प्रसिद्ध ग्वारिया बाबा ने मत्यु स पूव कहा था—'ग्वारिया किसी सम्प्रदाय का नही है, मुझे कोई जलावे नही।' रहीमुद्दीन खा न पिता अलाब दे खाँ से पूछा कि आप नमाज वगरा क्यो नही करते तो उत्तर मिला मेरा मजहब गाने से अलग नही है। गाना मैं हर वक्त गाता रहता हूँ, तो फिर नमाज की क्या जरूरत है? शकरन नम्बूदरीपाद अल्लाउद्दीन खा को शिव-मदिर म ले गय जहाँ बाबा ने त मयता से सगीतांजली भेंट की भगवान को। बाबा ने अपनी लडकी का नाम 'अन्नपूर्णा' रखा जो पन्डित रविशकर को ब्याही गई। अली अकबर के लडको के नाम हैं—ध्यानेश और आशिष। तानसेन मुसलमान होकर भी हरिदास के प्रिय पात्र रहे। अब्दुल करीम खा ने स्कूल खोला तो उसका नाम जानते हैं क्या रखा—आय सगीत विद्यालय। कहा तक गिनायें? धम आखिर हुआ क्या क्या सगीत काफी नही था? फिराक के शब्दो मे कहने को जी करता है—

मजहब कोई लौटा ले और उसकी जगह दे दे।
तहजीब सलीके की, इसान करीने के॥

पिछले छ सौ वर्षों मे हिंदू और मुसलमान सगीतज्ञो मे मुक्त आदान प्रदान और सहयोग हुआ है। फकीरुल्ला ने 'मानकुतूहल' को फारसी म अनूदित किया, ख्याल मुसलमानो और ध्रुपद हिंदुओ की चीजें समझी जाती थी। सो, शोरी मिया से टप्पा सीखे, प्रसिद्धो जी—मनहर जी ने ध्रुपद को ख्याल म ले लिया। जाकिरुद्दीन और अल्लाबदे ने ध्रुपद को आकाश तक उठा लिया और फैय्याज खाँ नोम तोम आलाप को ख्याल म ले आए। हद्दू-हस्सू की गायकी विष्णु दिगम्बर म परवान चढी, मुहम्मद अली 'कोठीवाल' की सगीत सम्पदा को भातखण्डे न जगजाहिर किया अल्लादिया की गायकी केसरबाई ने धन्य की।

राजस्थान ने न केवल इस मिली जुली परम्परा को प्रश्रय दिया बल्कि उसके विकास मे भी महत्त्वपूण योगदान दिया। 'विश्व के इतिहास की डायरी' म अज्ञमत ने लिखा है कि राजपूत जितने शूरवीर थ, उतने ही बडे सगीतप्रेमी भी थ।' महाराणा कुम्भा और उनके सगीतराज को कौन नही जानता? भावभट्ट ने बीकानेर के अनूपसिंह जी के सरक्षण मे रहकर ग्रन्थ रचे। पुण्डरीक विट्ठल न

जयपुर के राजा मानसिंह के आश्रय में रहते हुए 'राग मंजरी' लिखा। जयपुर के प्रतापसिंह देव (1779 1803 ई०) ने संगीतज्ञों का एक सम्मेलन बुलाया जिसके आधार पर 'संगीतसार' का प्रणयन हुआ और बिलावल को उत्तर भारत का शुद्ध ठाठ माना गया। 1860 के आसपास, रामसिंह जी के समय में तो जयपुर में संगीत की धूम थी। उस्ताद विलायत खाँ के पिता नत्थन खां उनके दरबार में रहे। मुहम्मद अली खां कोठीवाल भी जयपुर के थे। बैराम खाँ जयपुर के दरबारी गायक थे और उनके वंशज डागर ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी संगीतजगत में राजस्थान का नाम फैलाया है। अल्लादिया खाँ का घराना जयपुर का कहलाता है और रजब अली खाँ ने जयपुर रहकर अल्लादिया खाँ से बीन सीखी थी। असद अली खाँ के पिता सादिक अली बीनकार 1897 में जयपुर में ही जन्मे थे।

शास्त्रीय संगीत में ही नहीं, राजस्थान के लोकसंगीत में भी हिन्दुओं और मुसलमानों की शैलियाँ घुली मिली हैं। प्रसिद्ध लंगा जाति में दोनों जातियों का सम्मिश्रण दीख पड़ता है। सारंगिया लंगों का रहन-सहन बहुत कुछ हिन्दुआना है। तुर्रा कलंगी का खेल नामक ख्यालों में तुर्रा के खिलाड़ी हिन्दू होते हैं, कलंगी के मुसलमान। दोनों की कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्धित हैं। मारवाड़ के कलावन्त भी धर्मपरिवर्तन के बाद मुसलमान बने हैं। 'ढोलामारू' लोक-काव्य की रचयिता ढाढी जाति का जिक्र पहले ही आ चुका है। उनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही मिलते हैं।

इस तरह जाहिर है कि पिछले छः सौ साल में हिन्दुस्तान में और राजस्थान में भी, संगीत ने बालबाट की है और दिलों को मिलाया है जबकि सियासत और मजहब ने बन्दरबाट की है और दिलों को भी बाँटा है। इतिहास का इशारा साफ है यदि हम वास्तव में इत्तेहाद चाहते हैं तो जोड़ने वाली शक्तियों को उभारें, तोड़ने वालियों को दबायें। गांधीजी ने कहा था "हममें आज जो अनबन दिखाई देता है, उसका कारण यही है कि हमने संगीत को त्याग दिया है। जहाँ संगीत नहीं, वहाँ स्वराज्य भी नहीं।"

## सांस्कृतिक समन्वय के साधक वादक कलाकार[1]

सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से भारत के वादक कलाकारों के योगदान को तीन स्तरों पर आंका जा सकता है, पहला, भारत के विभिन्न प्रदेशों विशेषतः

1 आकाशवाणी जयपुर से 10-2 72 को प्रसारित वार्ता।

उत्तर एव दक्षिण के बीच सास्कृतिक-सेतु निर्माण का, दूसरा भारत के विभिन्न समुदायो और खासतौर पर हिन्दुओं एव मुसलमानो के बीच सास्कृतिक सहयोग, सौहाद का और, तीसरा, भारत तथा विदेशो, मुख्यत समकालीन यूरोप और अमेरिका, के मध्य सास्कृतिक विनिमय का।

भारतीय सस्कृति के बहुत से अन्य पहलुओ की तरह यहाँ के सगीत का आधार भी वेदो यानी वैदिक सामगान मे मौजूद है। वैदिक सस्कृति, जिसने हिन्दुस्तान को एक सूत्र मे पिरोने में महत्त्वपूण भूमिका अदा की, और उसके सगीत के साथ वाद्यो और उनके वादको के नाम प्रारम्भ मे ही जुड़े हुए है। सामगान के साथ ताल देने वाले पाणिघ और ताडघ कहलाते थे। वशी, डमरू मृदग, भेरी, वीणा जैसे नाना प्रकार के घन सुषिर, तत और अवनद्ध वाद्य लम्बे समय से बजाए जाते रहे है। एक मत यह भी है कि सामगान की परम्परा मे वाद्यवृन्द तथा आधुनिक वाद्यवादन मे प्रचलित कतिपय कौशलो का भी उल्लेख है।

अस्तु इतना तो तय है कि अत्यन्त प्राचीन काल स विभिन्न प्रकार के, और लगभग मिलते-जुलते वाद्य यन्त्र भारत के विभिन्न भागो म विद्यमान रहे हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण म मृदग था तो उत्तर म पखावज और पूव मे खोल जिनका घरलू सस्करण, जानी-पहचानी ढोलक, हर मागलिक और धार्मिक अवसर पर गूजती रही है। उत्तर मे शहनाई थी तो दक्षिण मे नागस्वरम। उत्तर म सितार-सरोद से पहले तक बीन और रबाब का बोलबाला था तो दक्षिण मे वीणा का। उत्तर भारत मे भले ही पखावज और बीन ध्रुपद गायन के अपेक्षाकृत अप्रचलन के कारण पष्ठभूमि मे चले गए हो लेकिन दक्षिण मे आज भी मृदग और वीणा सगीत के अपरिहाय अग है।

भारत के सास्कृतिक और राजनीतिक एकीकरण के अनन्य सजक समुद्रगुप्त विक्रमादित्य की ख्याति एक कुशल नितन्री वीणावादक के रूप मे विदेशो तक मे थी और इतिहास से परे, धम विश्वासो और धमकथाओ मे भी वाद्यो और उनके वादको का बडा माहात्म्य रहा है। विष्णु का शख, शिव का डमरू सरस्वती और नारद की वीणायें और कृष्ण की बासुरी भारत के सास्कृतिक प्रागण मे बल्कि जन-जन के मन-प्राणो मे, अनहद नाद से अनवरत गूजते आए है।

नाद मे चलकर भारतीय सस्कृति पर मुस्लिम तहज़ीब और सगीत का प्रभाव पडने लगा तब भी, दोनो पक्षो के वादक कलाकारो ने एक नये सागीतिक पथ का सधान करने और सास्कृतिक समन्वय का काय सुगम बनाने मे महत्त्वपूण योगदान दिया। इस दष्टि से अमीर खुसरो, जो तेरहवी शताब्दी मे हुए और एक सवतोमुखी सागीतिक प्रतिभा के धनी थे, का योगदान सचमुच महान था। जनश्रुति के अनुसार आज के सुपरिचित सितार को, वीणा के चार तारो मे स

एक कम करके उन्होने ही बनाया था। इसी तरह तबला के बारे में प्रसिद्धि है कि खुसरो ने पखावज को दो हिस्सों में काटकर बजाया तब भी बोला, मानो तबला। इसी तरह सरोद की उत्पत्ति अरबी शहरूद या अफगानी रबाब से मानी गई है। यह दूसरी बात है कि भारत में अनेक प्रकार की वीणायें पहले से प्रचलित थी, याकि नाट्य शास्त्र में दायें व बायें तबलों जैसे वाद्ययन्त्रों का उल्लेख है और सरोद से मिलते जुलते एक वाद्य का अंकन मूर्तिकला में मिलता है। बहरहाल, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुगलों के बाद से लगभग सारे उत्तरी भारत में प्रचलन पाने वाले आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत के निर्माण और संवर्धन में अनेकों हिन्दू और विशेषतः मुसलमान वादकों ने चिरस्मरणीय काम किया। जब तक ध्रुपद का बोलबाला रहा तब तक बीन और पखावज का भी महत्त्व रहा और अनेकों महान् हिन्दू और मुस्लिम पखावजियों, बीनकारों, और रबाबियों ने दूध पानी की तरह आपस में घुल मिलकर न केवल वाद्यों को जीवित रखा बल्कि नए वाद्य भी बनाए और अपने फन को अनवरत साधना से आकाश तक उठा दिया।

एक और भी मार्के की बात ध्यान में आती है। इसके तो अनेक उदाहरण हैं कि फलां खान साहब ने हुनर को बाँटा नहीं, अपने साथ कब्र में ले गए। बल्कि रामपुर का एक किस्सा तो और भी आगे जाता है। यानी कि एक भाई ने बहन के लड़के को सुरशृंगार सिखाया तो दूसरे भाई इतने नाराज हुए कि भाई की मृत्यु के अवसर पर भी खिंचे रहे, मय्यत उठने के वक्त भी उसकी चौखट पर न गए। यह सब था। लेकिन ऐसा कोई विरला ही उदाहरण रहा होगा जब किसी उस्ताद ने धर्म के आधार पर गुण बाँटने में गुरेज किया हो। अनेकों उदाहरण हैं पहुँचे हुए वादकों की धार्मिक सहिष्णुता के। बिस्मिल्लाह खां के गुरु और मामू ने 18 वर्ष तक गंगा के किनारे बाला जी के मन्दिर में साधना की और बिस्मिल्लाह जब भी अपने गाव डुमराव जाते हैं तो वहाँ के मन्दिर में बजाना नहीं भूलते। बड़े गुलाम अली के एक पुरखे ने देवी से इष्ट प्राप्त किया, ऐसी कथा है। उस्ताद अलाउद्दीन खां जो कहते हैं कि हमने जिसको सिखाया, वही हमारा बच्चा है, को मैहर के हिन्दू शासक के प्रेम और श्रद्धा ने बाँध लिया था। इसी तरह जब उस्ताद इनायत खां की पत्नी ने उस्ताद द्वारा जितेन्द्र मोहन को तालीम देने पर आपत्ति की तो उस्ताद का कहना था यह भी तो बेटा के माफिक है । हमने ऊपर संकेत दिया है कि 13वी शताब्दी के बाद से क्रमशः उत्तर भारतीय अर्थात् हिन्दुस्तानी और दक्षिण भारतीय अर्थात् कर्नाटक संगीत पद्धतियों में कुछ सैद्धान्तिक और कुछ व्यावहारिक अन्तर आते गए। यहाँ यह विचारने के लिए समय नहीं है कि ऐसा क्यों हुआ ये पद्धतियाँ किस हद तक देशी अथवा विदेशी हैं या कि प्राचीन ग्राम मूर्च्छना जाति प्रणालियों का कोई भी सम्बन्ध अर्वाचीन मुकाम, मेल अथवा ठाठ सिद्धान्तों से है या नहीं। मुद्दे की बात यह है कि आज

आधारभूत समानता के बावजूद व्यवहारगत रूप से उत्तर और दक्षिण के संगीत में कई विभिन्नताएँ हैं। लेकिन रविशंकर और एम० एस० गोपालकृष्णन इत्यादि कुछ सिद्धहस्त वादक ऐसे भी हैं जो दोनों पद्धतियों के प्रति समन्वयवादी दृष्टि रखते हैं भले ही कुछ विद्वान् इस अनुचित और ऐसे समन्वय को असंभाव्य मानते हो। लेकिन यह तय है कि आभोगी, वसंतमुखारी, हंस ध्वनि इत्यादि राग उत्तर-भारतीयों को प्रिय हो गए हैं और जब गोपालकृष्णन तोडी बजाते है तो ऐसा समा बंधता है कि कुछ न पूछिए। इन समन्वयवादियों को हमारी शुभकामनायें तो मिलनी ही चाहिएँ क्योंकि एक ही देश की दो पद्धतियाँ होते हुए भी आज उत्तर और दक्षिण भारतीय संगीत एक-दूसरे से काफी अलग थलग हो गए है। निश्चय ही भाषा इसमे एक कारण रही है और दूसरा कारण यह भी रहा है कि दोनों पद्धतियों ने अपने व्याकरण और चलन ऐसे बना लिए है जो परस्पर मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए दक्षिण मे अपेक्षाकृत अधिक अनुशासन और मानकीकरण है जबकि उत्तर मे कलाकार को प्रयोग करने की अधिक आजादी मिली हुई है और एक ही राग को विभिन्न घराने अलग अलग तरह से बरतते पाये जाते हैं।

इसीलिए समन्वयवादियों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि एक ओर तो वे दूसरी पद्धति की राग रागनियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते और, दूसरी ओर, अपनी पद्धति के नियमों और कायदों का उल्लंघन करते हैं। जो भी हो, यह आवश्यक है कि लोगों को परस्पर भिन्न पद्धति के संगीतज्ञों को अधिकाधिक सुनने-समझने के मौके मिलें और यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से ऐसा सम्भव होने भी लगा है।

हमारे वाद्य कलाकारों ने संस्कृति समन्वय सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है उसका तीसरा पहलू आधुनिक काल मे विदेशों में भारतीय संगीत के प्रचार-प्रसार से सम्बन्ध रखता है। आज रविशंकर और अली अकबर पश्चिम में लगभग घरेलू नाम बन चुके हैं। सितार की आवाज़, हिप्पी और रौक संगीत के आन्दोलनों से जुडकर एक आंधी की तरह उठकर पश्चिम मे छा गई थी। निश्चय ही इसमे बहुत कुछ क्षणिक, उथला और अस्थायी था और अब शायद ज्वार उतार पर है। वैसे भी मलोडी पर आधारित भारतीय संगीत और हारमोनी पर बल देने वाला पाश्चात्य संगीत इतने अलग है, स्वयं रविशंकर के शब्दों मे, तेल और पानी की तरह, कि इनके सम्मिलन के प्रयास असफल ही होंगे। विलायत खां की मान्यता है कि पाश्चात्य दर्शन जैसे भारतीय दर्शन को न समझ पाया, वैसे ही पश्चिम के लोग हमारे संगीत को कभी समुचित रूप से नहीं समझ पायेंगे। पश्चिमी संगीत प्राच्य संगीत प्रेमियों को क्यों और किस प्रकार नितान्त भिन्न लगता है उसका एक विद्वान ने अच्छा वर्णन किया है, इन

आधारभूत समानता के बावजूद व्यवहारगत रूप से उत्तर और दक्षिण के संगीत में कई विभिन्नताएँ हैं। लेकिन रविशंकर और एम० एस० गोपालकृष्णन इत्यादि कुछ सिद्धहस्त वादक ऐसे भी हैं जो दोनों पद्धतियों के प्रति समन्वयवादी दृष्टि रखते हैं भले ही कुछ विद्वान् इसे अनुचित और ऐसे समन्वय को असमान्य मानते हों। लेकिन यह तय है कि आभोगी, बसंतमुखारी, हंस ध्वनि इत्यादि राग उत्तर-भारतीयों को प्रिय हो गए हैं और जब गोपालकृष्णन् तोड़ी बजाते हैं तो ऐसा समां बंधता है कि कुछ न पूछिए। इन समन्वयवादियों को हमारी शुभकामनायें तो मिलनी ही चाहिएँ क्योंकि एक ही देश की दो पद्धतियाँ होते हुए भी आज उत्तर और दक्षिण भारतीय संगीत एक दूसरे से काफी अलग थलग हो गए हैं। निश्चय ही भाषा इसमें एक कारण रही है और दूसरा कारण यह भी रहा है कि दोनों पद्धतियों ने अपने व्याकरण और चलन ऐसे बना लिए हैं जो परस्पर मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए दक्षिण में अपेक्षाकृत अधिक अनुशासन और मानकीकरण है जबकि उत्तर में कलाकार को प्रयोग करने की अधिक आजादी मिली हुई है और एक ही राग को विभिन्न घराने अलग-अलग तरह से बरतते पाये जाते हैं।

इसीलिए समन्वयवादियों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि एक ओर तो वे दूसरी पद्धति की राग रागनियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते और, दूसरी ओर, अपनी पद्धति के नियमों और कायदों का उल्लंघन करते हैं। जो भी हो यह आवश्यक है कि लोगों को परस्पर भिन्न पद्धति के संगीतज्ञों को अधिकाधिक सुनने-समझने के मौके मिलें और यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से ऐसा सम्भव होने भी लगा है।

हमारे वाद्य कलाकारों ने संस्कृति समन्वय सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है उसका तीसरा पहलू आधुनिक काल में विदेशों में भारतीय संगीत के प्रचार-प्रसार से सम्बन्ध रखता है। आज रविशंकर और अली अकबर पश्चिम में लगभग घरेलू नाम बन चुके हैं। सितार की आवाज़, हिप्पी और रौक संगीत के आन्दोलनों से जुड़कर एक आंधी की तरह उठकर पश्चिम में छा गई थी। निश्चय ही इसमें बहुत कुछ क्षणिक, उथला और अस्थायी था और अब शायद ज्वार उतार पर है। वैसे भी मेलोडी पर आधारित भारतीय संगीत और हारमोनी पर बल देने वाला पाश्चात्य संगीत इतने अलग हैं, स्वयं रविशंकर के शब्दों में, तेल और पानी की तरह, कि इनके सम्मिलन के प्रयास असफल ही होंगे। विलायत खाँ की मान्यता है कि पाश्चात्य दर्शन जैसे भारतीय दर्शन को न समझ पाया, वैसे ही पश्चिम के लोग हमारे संगीत को कभी समुचित रूप से नहीं समझ पायेंगे। पश्चिमी संगीत प्राच्य संगीत प्रेमियों को क्यों और किस प्रकार नितान्त भिन्न लगता है उसका एक विद्वान ने अच्छा वर्णन किया है, इन

शब्दो मे—"प्राच्य श्रोता को एकाधारित संगीत सुनने की आदत रहती है—जिसमे सभी वादक इस तरह एकसाथ वाद्य आदि बजाते हैं, माना वे सब मिल कर एक ही कविता का पाठ कर रहे हो। वह पाश्चात्य संगीत के परस्पर विरोधी और ऊपर से आरोपित स्वरो के विचित्र मेल को सुनकर अश्रद्धा से चकित हो जाता है"। और वाद्यसंगीत तक तो फिर भी गनीमत है। यह बात और भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय कण्ठ संगीत आमतौर पर पश्चिम म कतई जनप्रिय नही हो पाया है।

लेकिन इस सबका यह अर्थ भी नही कि रविशंकर, अली अकबर, अल्लाह रखा, बिस्मिल्लाह, निखिल बार्जी, गुदई महाराज जस स्वनामधन्य वादको के इस दिशा मे किए गए प्रयास और प्राप्त की गई सफलताओ को हम एकदम ही नकार दें। यदि एक ओर सच्चे संगीत प्रेमियो और कला ममज्ञो को, फिर भले ही उनकी संख्या कम क्यो न हो, भारतीय संगीत की ओर आकृष्ट कर पाना अपने आपमे कम नही है तो दूसरी ओर एक बडे पैमाने पर लोगो म भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी जिज्ञासा जगाना और चेतना पैदा करना खुद मे बडी उपलब्धियाँ हैं। शर्त यही है कि ऐसा करने के लिए खुद अपनी कला और उसके मूल तत्त्वो के बारे मे समझौते न किए जायें जैसा, अफसोस स कहना पडेगा, कुछ बडे और छोटे कलाकार करने लगे हैं।

## 'मेरा नाम जानकी बाई इल्लाबाद' उर्फ कथा पुराने ग्रामोफोन रैकर्डों की[1]

सन 1907 मे एक घटना हुई। इग्लैण्ड की ग्रामोफोन कम्पनी ने रैकर्ड बनाने का एक कारखाना, डमडम, कलकत्ता मे स्थापित किया। इस प्रकार वर्ष 1982 में भारत का ग्रामोफोन उद्योग अपने जीवन के पिचहत्तर वर्ष पूरे कर रहा है।

भारत मे रैकर्ड 1907 मे बनने शुरू हुए। लेकिन इसका यह अर्थ नही कि इससे पहले हम तवेनुमा रकर्डों या उनके पूववर्ती बेलननुमा रैकर्ड स मे अपरिचित या महरूम थे। राजस्थान मे कानोता के अमरसिंह की 21 जनवरी 1902 की डायरी मे यह प्रविष्टि मिलती है—'जावरा के नवाब साहब ने अपना फोनोग्राफ

---

1 साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 31 10 82—6 11 82 का अक

सुनने के लिए बुला भेजा था। यह सचमुच बडा अच्छा है। मैं भी अपने लिये ऐसा ही मगवाने की सोचता हूँ।' यह फोनोग्राफ सन् 1877 मे एडीसन ने ईजाद किया था। इसके लिए बेलन या चूडिया उनकी कम्पनी सन् 1929 तक बनाती रही।

लेकिन इससे बहुत पहले 1888 मे एमिल बर्लिनर अपना डिस्क या तश्तरी वाला ग्रामोफोन बना चुके थे। 1898 मे हैनोवर, जमनी म रैकड बनाने का प्रसिद्ध कारखाना लगा और उसी वष इग्लैण्ड मे ग्रामोफोन कम्पनी बनी। 1903 मे बर्लिन मे ओडियन कम्पनी बनी। इससे पहले लन्दन और न्यूयोर्क मे कोलम्बिया कम्पनी की स्थापना हो चुकी थी।

तो, 1907 तक और उसके बाद भी भारतीय सगीत के रैकड जरमनी और इग्लैण्ड मे तैयार करवाकर मँगवाये जाते रहे। ये रैकड 7 इच 10 इच और 12 इच व्यास के होते थे। उस जमाने के बहुत से रैकड सिफ एक ओर ध्वनिमुद्रित किये हुए और 'प्रेस्ड इन बर्लिन, जरमनी' या 'रिप्रोड्यूस्ड इन हनोवर' जैसी इबारतो से युक्त मिलत हैं। टॉकिंग मशीन और इण्डियन रैकड कम्पनी, बम्बई और बम्बई की ही वल्लभदास लखमीदास एण्ड कम्पनी अपने रैकड 'बेका ग्राण्ड' लेबल के अन्तगत बनवाकर बेचती थी। इन रैकर्डों म एक बगुला, रकड सुन रहा ह। बम्बई के टी० एस० रामचन्द्र एण्ड ब्रदस 'रामाग्राफ डिस्क रैकड' नाम मे जमनी मे रैकड बनवाने रहे जिनम पश्चिमी वाद्ययन्त्र पर कोयल बैठी हुइ दिखाई जाती थी। मोर की आकृति से युक्त सिगर रैकड भी जमनी म बने थे। इसी तरह पार्लो फोन रैकड इग्लैण्ड म बने।

उधर ग्रामोफान कम्पनी भी, पहले, रैकड पर पत्त पकडे बैठे फरिश्ते, और फिर, मालिक की आवाज सुनते कुत्ते के ट्रेड मार्कों से युक्त, ग्रामोफान कसट और ग्रामोफोन मोनक रैकड, पहले विदेशा म बनवाकर और फिर भारत मे ही बनाकर बेचती रही। (जानकी बाई के एक रैकड मे एक ओर फरिश्ता ट्रेडमाक और दूसरी ओर कुत्ता ट्रेड माक ह) 1920 के आसपास तक एक और प्रचलित लेबल जोनोफोन का था जिसके अन्तगत पहले इग्लैण्ड मे और फिर भारत मे बने रैकड बाजार मे आए। जिस ट्विन ट्रेडमाक के अन्तगत बाद म भारत मे ढेरो रैकड बने वह भी जानोफोन के इग्लैण्ड म बन एक रैकड म उपलब्ध है। कोलम्बिया कम्पनी ने भी भारत मे अपनी शाखा खोली। बाद मे इग्लैण्ड मे ग्रामोफोन और कोलम्बिया कम्पनियाँ एक हो गइँ और विश्व प्रसिद्ध ई० एम० आई० ग्रुप का जन्म हुआ।

1907 से 1939 तक भारत म रकड बनाने का कारखाना तो वही दमदम वाला रहा लेकिन कम्पनियाँ कई खुली और बन्द हुइ जिन्होंने अपने ट्रेडमार्कों के तहत रैकड बनवाये और बेचे। भाँति भाँति के रगबिरगे लेबल वाले रैकड

मिलते हैं। 'सनोला' का मोर, 'शहशाह' के नवाब, 'चारमीनार' का हैदराबाद वाला स्मारक, 'य एक्सेलसियर, का घोडा विक्टोरिया फोन' का हाथी, फिल्म ग्रो फोन' का बन्दर, कोहिनूर' का ग्लोब 'ब्रॉडकास्ट' का सागर और उगता सूरज —आज भी पुराने रकर्डों के ढेरो म से झाँकते हुए यदा-कदा मिल जाते हैं। कुछ फिल्म कम्पनियो ने भी अपने लेबला पर अथवा अपने लेबलो को एच० एम० वी० से सपृक्त करके रैकड बनवाये। 1930 से 1940 के दशक म स्थापित हुई जो कम्पनियाँ अपेक्षाकृत अच्छी चली वे थी लाहौर की 'जीनोफोन, जोधपुर की 'मारवाडी, और कलकत्ते की मैगाफोन' और 'हिन्दुस्तान। जीनोफोन रकर्डों पर उडता हुआ फरिश्ता—एक हाथ म ग्रामाफोन, दूसरे मे एक रैकड, मारवाडो पर झपटता हुआ बाघ, मैगाफोन पर हरिण और उगता सूरज और हिन्दुस्तान पर बासुरी बजाता हुआ बालक शोभा पाते थे।

लेकिन इन सभी कम्पनियो को डमडम वाला के नाज-नखरे उठाने पडते थे और कलाकारो को भी उक्त कम्पनी की शर्तों मे बधना पडता था। विदेशी कम्पनी के इस एकाधिकार को तोडने का पहला सफल और साहसिक प्रयास 1939 मे स्थापित नशनल रैकड्स मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी के रूप मे सामने आया। इस कम्पनी ने यग इण्डिया' और तिरगे झण्डे वाले लेबल के साथ अपने स्वय के कारखाने म रैकड बनाये। बाद म यह कम्पनी भी बन्द हो गई और पालिडोर कम्पनी के भारत म आने तक फिर ई० एम० आई० की हिज मास्टर्स वायस का एकाधिकार रहा। लेकिन इस बीच पुराने 78 चक्कर फी मिनट की चाल वाले रकर्डों का जमाना लद चुका था। स्टीरियो ध्वनि और धीमी चाल वाले—45 या 33 1/3 चक्कर प्रति मिनट, बारीक कटान (माइक्रोग्रूव) और देर तक बजने वाले (लौगप्ले) रैकर्डों की बाढ आ चुकी थी। तकनीक और गुण—दोनो दृष्टियो से सगीत, उसके प्रस्तुतीकरण और उसके ध्वनिमुद्रण मे भारी बदलाव आ चुका था।

पश्चिम मे माइक्रोग्रूव रकर्डिंग 1948 मे प्रारम्भ हुई। हालाकि इसके बहुत बाद तक भी 78 आर० पी० एम० रैकड बनते रहे हम सन 1948 को एक प्रतीकात्मक अन्त मान सकते हैं पुराने रकर्डों के युग का।

आइये कुछ चर्चा हो जाय लगभग पाच दशको तक चले इस युग के पुराने रैकर्डों की।

पुराने ग्रामोफोन रैकर्डों का एक मनोरजक पक्ष वे उदघोषणाएँ हैं जो इन रैकर्डों के आरम्भ अथवा अन्त म की गई हैं। कलकत्ते की गौहर जान बडे ठसक से बोलती है—'माई नेम इज गौहर जान।' मल्हार के रैकड म वे यह भी बताती है कि यह एक नई बन्दिश है—'दिस इज न्यू सौंग'। भैरवी ठुमरी 'रसीली मनवालिया' मे वे उसके रचयिता भय्या गणपतराव का उल्लेख करती हैं।

ठुमरी खमाज के रकड मे यह घोषणा है—'माई नेम इज गौहर जान। यह ठुमरी लिखी है और मैंने इसको गाया है। आगरे वाली मलका जान तो अपना पता भी दज कराती ह '27 मौस्क नेन, कलकटा।' 'रमदाद खाँ सितारिय ' और 'इनायत खा सितारिये, विलायत खा के बाप —य उदघोषणाएँ एक महान् परम्परा की तीन पीढिया का बोध कराती हैं।

इलाहबाद वाली जानकी बाई एक कदम आग जाती हैं। जब वे बडी अदा से 'मरा नाम जानकी बाई इल्ला—बा द' कहती है ता यह 'बा द भी सुर म व धा होता है और उनके साथ वाले उस्ताद जी हारमानियम पर भी वही सुर देते ह। भाई छैला भी बडे लोकप्रिय गायक थे और उनका 'भाई छैला, पटियाल वाला' भी गीत का एक हिस्सा मालूम पडता था।

मौजुद्दीन खा क कुछ रैकर्डों के अन्त मे आवाज आती ह— वाह, मौजुद्दीन वाह ! यानी नाम भी दज हा गया, दाद भी मिल गई। एकाध रैकड म मुख्य कलाकार के बाद सगतिकार भी फुर्ती से अपना नाम बाल गया ह।

सन् 1934 का एक रकड है 'गवय्या का जमघटा' जिसमे बाकायदा उद्घाषणाग्रा के साथ, मिस दुलारी, प्यारु कव्वाल, जाहरा अम्बालेवाली इ दुबाला, जमीर खा और अँगूरबाला को पश किया गया ह। 1934 के ही एसे ही दूसरे रैंकड म कमला भरिया फख्रे आलम बब्बार, ऊषारानी और यूसफ एफेंडी उपस्थित हैं।

लोकसगीत की विशुद्धता बनाय रखने के मामले म रैकडिंग कम्पनियाँ जितनी उदासीन आज ह उतनी ही पहल भी थीं। राजस्थानी माड क साथ 'चमचक-चमचक-चमचक' वाला आरकेस्ट्रा सुनकर खासी तकलीफ होती है। फिर भी, इन पुराने रैकर्डों की बदालत ही क्षेत्रीय और लोकसगीत के कुछ अलभ्य नमूने आज भी सुरक्षित है। कुलँथ की सरदार बेगम ने मेवात की बगडी शैली के गीत बहुत सुदर गाये हैं। रामगढ शेखावाटी क सल्लानाई 'खिलाडी' व चिडावी शैली के ख्याला के गीत 1920 के आसपास के हाल ही के। इनम पीलू काफी और परज कालिंगडा जैसी रागो का उपयोग महत्त्वपूण हैं। जोनाफान के ढनल के साथ ही, गाकल दत्तन और जानकी का गाया ह्या 'नाग जी भी 1920 के आसपास आया। जोधपुर की मारवाडी रिवाड कम्पनी 1934 म आरम्भ हुई और अब तक चल रही हैं। जम्सी धापी बाबूडी कलू खुशाली, लछछू सिकर लाल, रमजान खाँ, वजीर खा, इमामुद्दीन और अल्लाजिलाई जैसे अनेरो प्रतिष्ठित पशेवर लोकगायक गायिकाओं की कला के नमूना इन रकर्डों मे सुरक्षित हैं। य कोठेवालियों म अमृतलाल जी नागर न गौनहारिनो की चर्चा भी की है। बनारस की गौनहारिना की गाई कजरिया का एक रैकड मिलता है। इसी तरह और सास्कृतिक अँचलो की गायकिया के नमून जैसे अभग लावणी और गर्बा गीत भी इन रैकडों

चन्दा कारवारिन, मौजुद्दीन खाँ और प्यारा साहब के रैकड भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनहर बर्वे, नारायण राव व्यास और गगूबाई हगल के रैकडों से तो सभी परिचित होगे। पुरानी वशो और अब अप्रचलित हो चली रागो की दृष्टि से भी शास्त्रीय सगीत के इन पुराने रैकडों का एक विशेष स्थान है।

वाद्य सगीत के क्षेत्र मे इमदाद खा, इनायत खाँ के अतिरिक्त बुन्दू खाँ के सारगीवादन व पटियाला के अब्दुल अज़ीज़ खाँ के विचित्र वीणा वादन के रैकड महत्त्वपूर्ण हैं। पुराने सितारिया मे मोहम्मद खाँ, शफीकुल्ला, रहमत खा, फजल हुसैन और बरकत उल्ला के रैकड उल्लेखनीय हैं। सखावत हुसैन खाँ के सरोद-वादन के रैकड यह दर्शाते हैं कि इस वाद्य के वादन की पद्धति किस प्रकार विकसित हुई है। अलाउद्दीन खा साहब और हाफिज अली खा साहब के रैकड भी मिलते हैं। वी०आर०दवधर के निर्देशन मे, 1933 के आसपास बना, जागिया और सोहनी मे वाद्यवृन्दो का रैकड पारम्परिक वाद्यवृन्द की पद्धति का परिचायक है। हबीबुद्दीन और अहमदजान के तबला और चामू मिश्रा, हामिद हुसन और भिरेखाँ के सारगीवादन के रैकड भी सग्रहणीय हैं।

एक रोचक तथ्य यह है कि स्वतन्त्र हारमानियम वादन के बहुत से रैकड बने थ। भास्कर बुआ बखले के शिष्य, गोविन्दराव टेम्बे के हारमानियम वादन के अनेक रैकड हैं। उनका 'तज कर्नाटकी' का रैकड 1927 का है। अमृतलाल दवे और बशीर खा के रैकड भी है। अनेका सगीतज्ञा के नाम के साथ हारमानियम मास्टर की उपाधि जुडी हुई मिलती है।

पुराने ग्रामोफोन रैकडों का एक बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे उस *समय की कोठे और मुजरे की गायिकी को सुनने और समझने के शायद एकमात्र* उपलब्ध स्रोत हैं। वह ज़माना ही 'बाईयो का था। इनमे से बहुतो का तो गाने-बजाने से बस नाममात्र का ही वास्ता रहा होगा लेकिन, दूसरी ओर, इस वग मे अनेको प्रशिक्षित और पारगत गायिकाएँ भी थी जिनके रैकड एक अमूल्य निधि और सगीत के इतिहास के बेजोड दस्तावेज है। कलकत्ते की गौहर जान, आगरे की मलका,|विलविले की मलका, आगरे और अम्बाले वाली—जोहराबे, शोलापुर की महबूब जान, बनारस की काशीबाई, सिद्धेश्वरी और रसूलन, इलाहाबाद की जानकी बाई लखनऊ की दुलारी पानीपत की अमीर जान दिल्ली की कालीजान फैजाबाद की अख्तरी बाई (बगम अख्तर) नर्गिस की माँ जद्दनबाई और मुश्तरी बाई ऐसी ही गायिकायें थी। बनारस की विद्याधरी का रैकड तो मैं अब तक नही पा सका हूँ लेकिन बडी मोती बाई का एक रैकड मरे देखन मे आया है।

पेशेवर गायिकाओ से अलग दीखने के लिए बहुत सी महिला कलाकार तब अपने नाम के आग अमेच्योर' लिखवाती थी जबकि आज ऐसा सम्बोधन अपरि-पक्वता का सूचक माना जायेगा। दूसरी ओर गौहर के एक पुराने रैकड पर 'फस्ट

म उपलब्ध हैं। राजस्थान की माड राजस्थान के बाहर के भी अनेक कलाकारों की गाई—बजाई हुई मिलती हैं।

पारसी थियेटर के नमूने भी इन रैकर्डों म मिलते हैं। मास्टरजी भार डोडी, राधा, उमर फीरोज फातमा मास्टर छगन, असगर अली इत्यादि के गाये, 'भूल भुलय्या चतरा बकावली' 'नैला तिलिस्मात मुलेमा', 'असीर ए हिर्स','सौभाग्य सुदरी इत्यादि नाटकों के गीतों के रेकड बन थे। पारसी रगमच की शैली म ही अनेक कम्पनियों न अनेक नाटक रेकड किय जो अवसर वई-कई भागों म होत थे। इनम से कुछ ये ह— सत्यवान सावित्री (कोलम्बिया ड्रामेटिक पार्टी) 'सुहाग की रात अधी दुनिया बिल्वमगल', कृष्णावतार' 'यहूदी की लडकी','महा भारत' और शीरी फरहाद (ग्रिन ड्रामा पार्टी)। मराठी नाट्य सगीत के भी रैकड बने थे जिनकी बदौलत हम बाल गन्धव, छोटा गन्धव और दीनानाथ मगेशकर जसे कलाकारों को सुन सकते हैं।

कव्वाली और भजन आज की तरह तब भी बहुत लोकप्रिय थे। कल्लू कव्वाल कल्लन खा अजीम प्रेम रागी इत्यादि के सैकडों रैकड बने थ। गहर साहब के भजनो प० भरतलाल के कृष्ण चरित्र' गोस्वामी नारायण और नाथूलाल के रामायण पाठ के रैकड अनेक सग्रहों म थे।

जहाँ तक शास्त्रीय सगीत का सम्बन्ध ह सभी बडे गवय्यों की कद्र तत्कालीन रैकर्डिंग कम्पनियों ने की हो एसा नही लगता। यह भी सम्भव है कि कुछ बडे कलाकारो ने रैकड बनवान म इनकार कर दिया हो। कारण जो भी रहा हो, भय्या गणपत राव, अमान अली खाँ रजब अली खाँ गणेश रामचद्र बहरेबुआ राजा भय्या पूछवाल अल्लादिया खाँ, भास्कर राव बखल, बालकृष्ण बुआ इचलकरजीकर प्रभृति गायकों के रैकड अब तक मरे देखने मे नही आय हैं। हद्दू खाँ के सुपुत्र रहमत खाँ के रैकड जरूर 1920 मे बन थे लेकिन जानने वालों के अनुसार वे उनकी प्रतिभा के अच्छे नमूने नही बन पाये। इसके विपरीत रामकृष्ण बुआवझे के कई रैकड हैं। अल्लादिया खाँ साहब की शिष्या केसरबाई केरकर और हैदर खाँ की शिष्या, बडौदा की लक्ष्मीबाई जाधव के रेकर्डों के लिए भी हम रैकर्डिंग कम्पनियों के शुक्रगुजार हैं। अब्दुल करीम खाँ फय्याज खाँ, बडे गुलाम अली खाँ और ओकारनाथ ठाकुर के रकर्डों के बारे म तो खैर सभी जानते हैं। कुमार गन्धव का दुर्गा और भैरव का रैकड तब का है जब वे उम्र से भी कुमार' थे। मल्लिकार्जुन मसूर का तोडी और दुर्गा वाला रैकड उनके उत्कर्ष का अच्छा पूर्वाभास कराता है। अमीर खाँ के पुराने रैकड उनके क्रमश अमीर खा बनने की कहानी कहते हैं। मजमत हुसैन खाँ लताफत हुसैन खाँ और विलायत हुसैन खा के अनेको रेकड हैं। उम्मेद अली, आशिक अली, मोहम्मद हुसैन बिब्बे खा, मिस्टर खैराती बाई सुन्दरा बाई सरदार बाई मोधूबाई,

च दा कारवारिन, मौजुद्दीन खाँ और प्यारा साहब के "कड भी वहुत महत्त्वपूण हैं। मनहर वर्वे, नारायण राव व्यास और गगूवाई हगल के रैकर्डों से तो सभी परिचित होंग। पुरानी ब न्दिशो और अब अप्रचलित हो चली रागो की दृष्टि से भी शास्त्रीय सगीत के इन पुरान रैकर्डों का एक विशेष स्थान है।

वाद्य-सगीत के क्षेत्र मे इमदाद खा, इनायत खा के अतिरिक्त बुन्दू खाँ के सारगीवादन व पटियाला के अब्दुल अज़ीज़ खाँ के विचित्र वीणा-वादन के रैकड महत्त्वपूण है। पुराने सितारियो मे मोहम्मद खाँ, शफीकुल्ला, रहमत खाँ, फजल हुसैन और बरकत उल्ला के रैकड उल्लेखनीय हैं। सखावत हुसैन खाँ के सरोद-वादन के रैकड यह दर्शाते हैं कि इस वाद्य के वादन की पद्धति किस प्रकार विकसित हुई है। अलाउद्दीन खा साहब और हाफिज़ अली खाँ साहब के रैकड भी मिलते हैं। बी०आर०दवघर के निर्देशन मे, 1933 के आसपास बना, जागिया और सोहनी मे वाद्यवृ दा का रैकड पारम्परिक वाद्यवृ द की पद्धति का परिचायक है। हबीबुद्दीन और अहमदजान के तबला और चामू मिश्रा हामिद हुसैन और झिरेखाँ के सारगीवादन के रैकड भी सग्रहणीय हैं।

एक रोचक तथ्य यह है कि स्वत त्र हारमानियम वादन के बहुत से रैकड बन थे। भास्कर बुआ बखले के शिष्य, गोवि दराव टेम्ब के हारमानियम वादन के अनेक रैकड हैं। उनका 'तज़ कर्नाटकी' का रैकड 1927 का है। अमृतलाल दवे और बशीर खा के रैकड भी हैं। अनेका सगीतज्ञा के नाम के साथ 'हारमानियम मास्टर' की उपाधि जुडी हुई मिलती है।

पुराने ग्रामोफान रैकर्डों का एक बहुत महत्त्वपूण पक्ष यह भी है कि वे उस समय की कोठे और मुजरे की गायिकी को सुनने और समझने के शायद एकमात्र उपलब्ध स्रोत हैं। वह ज़माना ही बाईयों' का था। इनम स बहुता का तो गाने-बजाने से बस नाममात्र का ही वास्ता रहा हागा लेकिन, दूसरी आर, इस वग म अनेको प्रशिक्षित और पारगत गायिकाएँ भी थी जिनके रैकड एक अमूल्य निधि और सगीत के इतिहास के बेजोड दस्तावेज हैं। कलकत्ते की गौहर जान, आगरे की मलका चिलबिले की मलका, आगरे और अम्बाले वाली—ज़ाहराये, शालापुर की महबूब जान, बनारस की काशीवाई, सिद्धेश्वरी आर रसूलन इलाहाबाद की जानकी बाई लखनऊ की दुलारी पानीपत की अमीर जान, दिल्ली की कालीजान फ़ैज़ाबाद की अख्तरी बाई (बेगम अख्तर) नर्गिस की माँ जद्दनबाई और मुश्तरी बाई ऐसी ही गायिकायें थी। बनारस की विद्याधरी का रैकड ता मैं अब तक नहीं पा सका हूँ लेकिन बडी मोती बाई का एक रैकड मेरे देखन मे आया है।

पशेवर गायिकाओ से अलग दीखने के लिए बहुत-सी महिला कलाकार तब अपने नाम के आग 'अमच्योर' लिखवाती थी जबकि आज ऐसा सम्बोधन अपरिपक्वता का सूचक माना जायेगा। दूसरी आर, गौहर के एक पुराने रैकड पर प्रस्ट

डासिंग गर्ल' यह विशेषण दर्ज है अर्थात नाटी की नाचने गाने वाली। नाम के आगे 'फिल्म स्टार' जुड़ना भी इज्जत की बात समझी जाती थी। कुछ नामों के आगे रेडियो स्टार भी लिखा मिलता है। 'मेल सांग', 'फीमेल सांग', 'गजल कव्वाली' जैसे विवरण आज विचित्र लगते हैं लेकिन तब धड़ल्ले से चलते थे। इमदाद खाँ के एक रेकर्ड में सितार को इण्डियन गिटार कहा गया है। कई रेकर्डों में 'वाहवाह' और दाद देने की आवाजें हैं।

असल में जैसे आज है वैसे ही उस समय भी सब प्रकार के रेकर्ड बनते थे और उनमें उस समय का जीवन और रुचियाँ और घटनायें प्रतिबिम्बित रहते थे। यदि 'एम्पायर डे' के रेकर्ड में 'गॉड सेव द किंग' मौजूद है तो दिसम्बर, 1946 में कंस्टिटुएण्ट असेम्बली में दिया गया नेहरूजी का भाषण भी उपलब्ध है। एक ओर जी० एन० जोशी की गाई, बांसवाड़ा 'दरबार' की प्रशस्तियाँ हैं तो दूसरी ओर दशवंदना और गांधी महिमा के भी रेकर्ड हैं। कमलदास गुप्ता के निर्देशन में मातृसेवक-सेविका दल ने 'वंदे मातरम' और 'मेरी माता के सिर पर ताज रहे' जैसे गीत गाये। मिस दुलारी का गाया राधेश्याम कथावाचक का गीत—'नाथ फिर डूबते भारत को बचाने आओ' बहुतों को आज भी याद होगा। ओंकारनाथ ठाकुर के मुलतानी में निबद्ध 'वंदे मातरम्' फिल्म 'बंधन' के 'चल चल रे—नौजवान', फिल्म 'किस्मत' के 'दूर हटो ए दुनिया वालो' को कौन भूल सकता है। मास्टर वसंत ने गाया था—'गांधी तू आज हिंद की इक शान बन गया।' 1938 में बनी 'ब्रह्मचारी' फिल्म में गीत था—'जहाँ चर्खा चले मतवाला, वहाँ होगा सदा बोलबाला।' गीत के साथ 'महात्मा गांधी की जय' और 'आज हमारे देव मन्दिरों में नहीं चर्खे में विद्यमान हैं', जैसे उद्बोधन थे। 'निराला हिंदुस्तान' में गीत था—'भारत नया बसेगा सारी चीजें यहीं बनेंगी दौलत सारी यहीं रहेगी' इत्यादि।

दूसरी ओर, 'धीरज धरो बालमा, छाटी से बड़ी हो जाइब' (हीराबाई), 'प्यारे प्यारे जोबनवा पे जान है निसार' (पद्मारानी), 'पटवारी के लड़के ने जुलुम किया' और 'सम्याँ तोरी गोदी में गेंदा बन जाऊँगी (मिस दुलारी) 'काहे ताके जोबन निम्बुआ, काचे ना तोड़ो' (जवाहर बाई) जैसे गीतों की भी कमी नहीं है। लोकगीतों के नाम पर 'जीजाजी वालो सा सही, साली तो सिरहाने खड़ी' जैसी गलाजत भी बाजार में फेंकी गई थी। पशु पक्षियों की बोलियों के रेकर्ड हैं तो मिस रेशम, विठ्ठलदास पाँचोटिया, मास्टर मोहन और मुराद अली के कॉमिक भी हैं। मुराद अली के एक रेकर्ड में एक ओर 'बिराण्डी' में मौजूद गुणों का बखान है तो दूसरी ओर नशे-पत्ते और दूसरे फैलों पर लानत भेजी गई है। मास्टर हाफी, 'अगर हर घर में ऐसे इश्क का प्रचार हो जाए' के साथ 'लटक जाय न जाने कितने मर्द फाँसी पर अगर एक औरत भी थानदार हो जाए' की तुक मिलाते हैं।

मोहम्मद हुसैन 'अरे वाह मेरी घावन, तेरे नखरे मे गरम मसाला और तुझे बुलाये मुकन्दीलाल लाला' गाते हैं तो साथ में वैश्यागमन की निस्सारता भी बखानते हैं—

'रण्डी नही किसी की यार
आ घरबार लुटाने वाले।
इनका झूठा है सब प्यार
इनका खोटा है व्यवहार।
जब तक पैसा तब तक रण्डी
जब तक जिन्स है तब तक मण्डी
वो तो खा खा हुई मुस्टण्डी वगैरह।

जिस सामाजिक चेतना के दर्शन बाद में साहिर के नग्मों में होते हैं, वही फिल्म 'बाला जीवन' मे मारुतिराव पहलवान के गाये इस गीत मे भी मौजूद मिलती है—

खुली सड़का के बिस्तर पर
खाली पेट सोते हैं।
हमारे खूने दिल से हर कोई
होली मनाता है।'

पुराने रेकर्डों मे उपलब्ध पुराने फिल्मी गीतों की चर्चा तो एक अलग, विशद विषय बनाती है। लेकिन यहाँ उमराजिया बेगम और वहीदन बाई जैसी विस्मृत की जा चुकी गायिकाओं को याद कर लेने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। वहीदन बाई का फिल्म 'कामरेडस' मे गाया 'मोपे डार गए सारी रंग की गागर' एक क्लैसिक था और इसकी नोटेशन 'संगीत (हाथरस) मे 1938 मे छपी थी। नलिनी जयवन्त, शोभना समर्थ, अशोक कुमार, लीला चिटणीस, मानीनाना, प्रेम अदीब, देविका रानी, स्नेहप्रभा प्रधान, माया बनर्जी इत्यादि को भी अब इन रेकर्डों मे ही सुना जा सकता है। इन्हीं रेकर्डों में यदि सहगल के 'देवदास' का अमर गीत 'बालम आय बसो मोरे मन मे' है तो इन्हीं मे मास्टर घूलिया द्वारा फिल्म 'एशियाई सितारा' मे गाई गई इस गीत की पैरोडी भी उपलब्ध है— भय्या, आन फँसे अब बन मे। अगर लता मंगेशकर 'लाजो' नाम से 'बावरा' फिल्म में गा रही हैं तो 'धर्मवीर' मे 'आओ आओ, कदम बढाओ, प्रेमनगर के वासी'—इस गीत के साथ, अँग्रेजी म संसार के सभी प्रेमियों का आवाहन करने वाला अलग ढंग का एकमात्र प्रयोग भी इन्हीं रेकर्डों की बदौलत हम तक आ गया है।

और प्रसंगवश थोड़ी चर्चा उस समय के ग्रामोफोनों और रेकर्डों के मूल्यों की। आज एक लौंग प्लेयिंग रेकर्ड 48 रुपय का पड़ता है। जून 1939 के 'संगीत' म स्विन ग्रामोफोन माडलो—'डबल स्प्रिंग वाले—एक बार चाबी देने से दोनों

तरफ का रेकार्ड बज सकता है। 10 इंच व 12 इंच दोनों के रेकार्ड बजते हैं'— का मूल्य 25 रुपये से 50 रुपये तक विज्ञापित है। टिवन रेकार्ड था एक रुपये साढे चार आने का, 'कुत्ता मार्का' दो रुपया चार आने का और जापानी ग्रामाफोन तो मात्र 20 रुपये में मय 5 रेकार्डों और 200 सुइयों के आता था। और अप्रैल, 1937 में छपा यह विज्ञापन का विज्ञापन, चुटकले का चुटकला—

'मुर्दे जिन्दा हो गये।'

ग्रामोटैक्स नं० 1 पुराने से पुराने रेकार्डों की आवाज नये के मानिन्द करता है मूल्य—

ग्रामोटैक्स नं० 2 टूटे फूटे चटके रेकार्डों को जोड देता है मूल्य—

पायरो टेण्ट पायरिया के मरीजों के लिए अक्सीर

× × ×

तो साहब यह है पुराने रेकार्डों की अनन्त गाथा के कुछ पहलू। मेरी और मेरे पहले की पीढ़ी की जिन्दगियों का तो, खैर, वे हिस्सा थे। (मेरे एक मित्र के संग्रह में बेगम अख्तर का एक रेकार्ड है जिस पर दर्ज है कि किस प्रकार उनके दिवंगत पितामह ने अपनी मृत्यु के एक दिन पूर्व इस रेकार्ड को अन्तिम बार सुना था)। लेकिन शायद नई पीढ़ी भी, जिसने 'स्टीरियो और क्वाड्रो' और 'लौंग प्ले', 'माइक्रोग्रूव' और कम्प्यूटराइज्ड म्यूजिक' की दुनिया को ही जाना और जिया है, इन पुराने कच्चे शकोरों में भरे शर्बत का स्वाद ले सके, उनके रोमांस और उनके महत्त्व से दो चार हो सके और मेरे जैसे शैदाइयों की दीवानगी को राज पा सकें जो तमाम खिस्सखिस्स और खट खटाक' के बावजूद, रेशों से सनी-लिपटी नारियल की गिरी सरीखे इन पुराने रेकार्डों के मर्म की तलाश में रहते हैं।

अज्ञान और लापरवाही के कारण अनेकों अनमोल रेकार्ड समाप्त हो चुके हैं और हो रहे हैं। इसको रोकने के लिए इनमें रुचि रखने वालों का परस्पर सहयोग जरूरी है।

/

राजस्थान की र

मुगल साम्राज्य अन्तिम दिन
विभिन्न रज होने

इसे प्रदान किए। राजस्थान मे मध्ययुगीन सगीत की दोना प्रमुख धाराग्रो—ध्रुपद जो मर्यादित, रचना प्रधान और भक्तिपरक था और ख्याल जो अधिक उन्मुक्त, सौन्दर्योन्मुख, लचीला और लौकिक था—को भरपूर प्रश्रय व बढावा मिला।

डागर वाणी के महान ध्रुपदिए, उस्ताद बहराम खा 1857 ई० मे दिल्ली से अलवर होते हुए जयपुर आए और सवाई रामसिंह द्वितीय ने उन्हे बडे सम्मान से रखा। बहराम खा साहब के पडपोते, रियाजुद्दीन 1947 मे अपनी मत्यु के समय तक जयपुर के गुणीजनखाने मे रहे। बहराम खा के भतीजो, प्रसिद्ध जाकिरुद्दीन और अल्लाहबन्दे ने क्रमश उदयपुर व अलवर मे ध्रुपद की ज्योति जलाए रखी। अल्लाहबन्दे के सुपुत्र तानसन पाण्डे' भी अलवर मे रहे। जियाउद्दीन के सुपुत्र, रुद्रवीणा वादक जिया मोइनुद्दीन का नाम अभी हाल तक उदयपुर से जुडा हुआ रहा है। लेकिन यह खेद का विषय है कि कत्थक की भाति ही, ध्रुपद भी आज राजस्थान से पलायन कर गया है हालाकि एक समय था जब यह प्रदश उसका घर, प्रमुख केन्द्र और आश्रय-स्थल था।

उत्तरी भारतीय सगीत घरानो मे पटियाला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस घराने के मिया कालू व प्रसिद्ध अली बख्श फतेह अली ने भी जयपुर म बहराम खाँ से सबक हासिल किया था। 'अलिया फत्तू' का 'जनरल कर्नल की पदवी टोंक नवाब इब्राहीम खा से मिली थी और पटियाला लौटने से पहले, दोना टोंक-दरबार म बहुत दिन तक रहे थे।

बहराम खा साहब के साथ ही उन दिनो जयपुर मे मुबारक अली खाँ कव्वाल-बच्चे, रजब अली खाँ, इमरत सेन घग्घे खुदाबख्श, हैदरबख्श जैसे गुणियो का जमघटा था। हर माह दरबार मे गवय्यो को एक डेढ लाख रुपये—याद रखिए यहाँ सौ साल पहले के डेढ लाख से मुराद है—तनख्वाह मिलती थी। रजब अली खाँ का वीन बजाने मे सानी नही था और महाराज रामसिंह भी उनके शागिर्द हुए थे।

आगरा घराने के घग्घे खुदाबख्श अलवर व जयपुर मे पलको पर उठाए गए। उनकी परम्परा के गुनाम अब्बास, कल्लन खा और नत्थन खा भी कमोबेश राजस्थान से जुडे रहे। मुबारक अली खा बडे मुहम्मद खा के तीसर पुत्र थे और अलवर रियासत के खास गवय्ये थे। बाद म महाराज रामसिंह ने इन्हे जयपुर बुला लिया और बडी इज्जत से रखा। कव्वाल बच्चा मे से ही हुसैन खाँ जयपुर रहे और फूलजी भट्ट का उन्होने सिखाया। इमरत सेन और उनके बाद निहाल सन जयपुर मे दरबारी सितारिये रहे।

राजस्थान को उस्ताद अल्लादिया खाँ साहब की जन्मभूमि और प्रशिक्षण-क्षेत्र होने का भी गौरव मिला और खाँ साहब उनके पुत्रो और शिष्यो के प्रताप

तरफ का रेकड वज सकता है। 10 इच व 12 इच दोना के रेकड वजते हैं'— का मूल्य 25 रुपये से 50 रुपये तक विनापिन है। ट्विन रेकड था एक रुपये साढे चार ग्राने का, 'कुत्ता मार्का दो रुपया चार ग्रान का ग्रौर जापानी ग्रामोफोन तो मात्र 20 रुपये मे मय 5 रेकर्डों ग्रौर 200 सुइयो के ग्राता था। ग्रौर ग्रप्रल, 1937 मे छपा यह विज्ञापन का विज्ञापन, चुटकले का चुटकला—

'मुर्दे जिन्दा हो गये।

ग्रामोटैक्स न० 1 पुराने से पुराने रेकर्डों की ग्रावाज नय के मानिन्द करता है मूल्य—

ग्रामोटैक्स न० 2 टटे-फूटे चटके रकर्डों को जोड देना है मूल्य—

पायरो डेण्ट पायरिया के मरीजा के लिए ग्रक्सीर

× × ×

ता साहब यह है पुराने रेकर्डों की ग्रनन्त गाथा के कुछ पहलू। मेरी ग्रौर मरे पहले की पीढी की जिन्दगियो का तो, खैर, वे हिस्सा थे। (मेरे एक मित्र के सग्रह म वेगम ग्रख्तर का एक रकड है जिस पर दज है कि किस प्रकार उनके दिवगत पितामह ने ग्रपनी मृत्यु के एक दिन पूव इस रेकड को ग्रन्तिम बार सुना था)। लेकिन शायद नई पीढी भी, जिसने 'स्टीरियो ग्रौर 'क्वाड्रो' ग्रौर 'लौंग प्ले', 'माइक्रोग्रूव ग्रौर कम्प्यूटराइजड म्यूजिक की दुनिया को ही जाना ग्रौर जिया है, इन पुराने कच्चे शकोरा मे भरे शवत का स्वाद ले सके, उनके रोमास ग्रौर उनके महत्त्व से दो चार हो सके ग्रौर मेर जसे शैदाइया की दीवानगी का राज पा सके जो तमाम घिसघिस' ग्रौर 'खट खटाक' के वावजूद, रेशा से सनी लिपटी नारियल की गिरी सरीखे इन पुरान रेकर्डों के मम की तलाश म रहते हैं।

ग्रज्ञान ग्रौर लापरवाही के कारण ग्रनेकों ग्रलभ्य रेकड समाप्त हो चुके हैं ग्रौर हो रहे हैं। इसको रोकने के लिए इस म रुचि रखने वाला का परस्पर सहयोग करना जरूरी है।

## राजस्थान की सास्कृतिक सम्पदा सगीत[1]

मुगल साम्राज्य के ग्रन्तिम दिनो मे जब उसके ग्राश्रय म विकसित हुग्रा सगीत, विभिन्न रजवाडों मे वन्दित होने लगा, ता राजस्थान ने ऐसे कई नये ग्राश्रय-स्थल

1 ग्राकाशवाणी जयपुर से प्रसारित।

इसे प्रदान किए। राजस्थान मे मध्ययुगीन सगीत की दोनो प्रमुख धाराग्रो— ध्रुपद जो मर्यादित, रचना प्रधान और भक्तिपरक था और ख्याल जो अधिक उन्मुक्त, सौदर्योन्मुख, लचीला और लौकिक था—को भरपूर प्रश्रय व बढावा मिला।

डागर वाणी के महान ध्रुपदिए, उस्ताद बहराम खा 1857 ई० मे दिल्ली से अलवर होते हुए जयपुर आए और सवाई रामसिंह द्वितीय ने उन्हे बडे सम्मान से रखा। बहराम खा साहब के पडपोते, रियाजुद्दीन, 1947 मे अपनी मत्यु के समय तक जयपुर के गुणीजनखाने म रहे। बहराम खा के भतीजा, प्रसिद्ध जाकिरुद्दीन और अल्लाहबन्दे ने क्रमश उदयपुर व अलवर मे ध्रुपद की ज्याति जलाए रखी। अल्लाहबन्दे के सुपुत्र 'तानसेन पाण्डे' भी अलवर मे रहे। जियाउद्दीन के सुपुत्र, रुद्रवीणा वादक जिया मोइनुद्दीन का नाम अभी हाल तक उदयपुर से जुडा हुआ रहा है। लेकिन यह खेद का विषय है कि कत्थक की भाति ही, ध्रुपद भी आज राजस्थान से पलायन कर गया है हालाकि एक समय था जब यह प्रदेश उसका घर, प्रमुख केन्द्र और आश्रय स्थल था।

उत्तरी भारतीय सगीत घरानो म पटियाला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस घराने के मिया कालू व प्रसिद्ध अली बख्श फतेह अली ने भी जयपुर म बहराम खाँ से सबक हासिल किया था। 'अलिया फत्तू' का 'जनरल कर्नल' की पदवी टौक नवाब इब्राहीम खा से मिली थी और पटियाला लौटने से पहले, दोनो टोंक-दरबार मे बहुत दिन तक रहे थे।

बहराम खा साहब के साथ ही उन दिनो जयपुर मे मुबारक अली खा कव्वाल-बच्चे रजब अली खा, इमरत सेन घग्घे खुदाबख्श, हैदरबख्श जैसे गुणियो का जमघटा था। हर माह दरबार मे गवय्या को एक डेढ लाख रुपये—याद रखिए यहाँ सौ साल पहले के डेढ लाख से मुराद है—तनख्वाह मिलती थी। रजब अली खाँ का बीन बजाने मे सानी नही था और महाराज रामसिंह भी उनके शागिद हुए थे।

आगरा घराने के घग्घे खुदाबख्श अलवर व जयपुर मे पलको पर उठाए गए। उनकी परम्परा के गुलाम अब्बास, कल्लन खाँ और नत्थन खाँ भी कमोबेश राजस्थान से जुडे रहे। मुबारक अली खा, बडे मुहम्मद खा के तीसर पुत्र थे और अलवर रियासत के खास गवय्ये थे। बाद मे महाराज रामसिंह ने इन्हे जयपुर बुला लिया और बडी इज्जत से रखा। कव्वाल बच्चो मे से ही हुसैन खाँ जयपुर रहे और फूलजी भट्ट को उन्होने सिखाया। इमरत सेन और उनके बाद निहाल सेन जयपुर मे दरबारी सितारिये रहे।

राजस्थान को उस्ताद अल्लादिया खाँ साहब की जन्मभूमि और प्रशिक्षण-क्षेत्र होने का भी गौरव मिला और खाँ साहब, उनके पुत्रो और शिष्यो के प्रताप

से आज जयपुर घराना सारे भारत म जाना जाता है। इस सम्बन्ध म महाराष्ट्र की भावना डा० ना० र० मारुलकर ने यू व्यक्त की है—

'राजस्थान ने आज तक हम पर बहुत उपकार किए हैं। देश के लिए प्राणो की बलि चढाने वाले राणा प्रताप जैसे अनगिनत वीरो को जन्म देकर राजस्थान ने हमारी रक्षा की है। उसी राजस्थान न सगीत सम्राट अल्लादिया खाँ साहब जैसे प्रतिभाशाली कलाकार भी हमे दिए जिसका महाराष्ट्र सदा ऋणी रहगा।"

जयपुर म ही जुडे हुए थे मुहम्मद अली खाँ कोठीवाल जिनसे भातखण्डे जी न बहुत कुछ सीखा और प्राप्त किया।

जयपुर के सवाई प्रतापसिंह न सन् 1800 ई० के आस पास ब्रजभाषा मे राधा गोविन्द सगीत-सार नामक ग्रन्थ की रचना करवाई थी। प्रतापसिंह ने गुणीजनखाने को व्यवस्थित किया और अन्य क्षेत्रो के गुणीजनो के साथ 'गधव बाईसी' को भी प्रश्रय दिया।

और भी क्षेत्र हैं जिनमे राजस्थान का योगदान प्रमुख रहा है। अपने नृत्य अग और लयकारी के लिए प्रसिद्ध, कत्थक के जयपुर घरान के बारे म कौन नही जानता ? जयलाल जी, नारायण प्रसाद जी और सुन्दर प्रसाद जी जैसे महान् कलाकारो ने इस घराने को यश दिलाया बल्कि एक सम्भावना यह भी है कि लखनऊ घरान के आदि-पुरुष भी राजस्थान से ही निकले थे। बनारस घराना अलग मानें तो उसके बारे मे भी यही सम्भावना व्यक्त की गई है। दूसरा क्षेत्र है नाथद्वारा के हवेली सगीत व उससे जुडे हुए पखावज-वादन का। घनश्याम दास और पुरुषोत्तम दास जैसे पखावजी सगीत जगत को राजस्थान की ही देन है।

फिल्म सगीत को अक्सर गम्भीरता से नही लिया जाता तो उचित नही है। यह जिक्र करना नामुनासिब न होगा कि गुलाम मोहम्मद जमाल सेन और खेमचन्द्र प्रकाश जैसी प्रतिभाएँ राजस्थान की ही देन रही है।

प्रसगवश, जयपुर म सगीतज्ञो को जो आश्रय और कद्र मिली उसकी चर्चा अधिक हुई है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि रजवाडो के युग मे अलवर, टोंक, जोधपुर उदयपुर इत्यादि रियासतो म भी सगीतज्ञो का बडा मान-सत्कार था और इन कलाकारो ने राजस्थान की सगीत परम्परा को वैभवशाली बनाया। मेवाड-गौरव महाराणा कुम्भा ने स्वय 'सगीत राज' जैसे ग्रन्थ की रचना की थी। समय बदल चुका है। राजा और रजवाडे इतिहास की चीजें हो गए हैं। लेकिन हमारे सगीत के इतिहास मे इन रजवाडो की एक विशेष और निर्णायक भूमिका रही है। उस समय की एक बानगी खुद अल्लादिया खा साहब के शब्दो म यू है

"जोधपुर म महाराजा जसवन्त सिंह जी के दरबार मे मैंने अपनी आँखो से यह हाल देखे हैं महाराजा, महारानी या उनके बेटो की सालगिरह का गाना हो रहा है और दरबार एक तरफ हजार हजार रुपयो की थैलियाँ चुनवाकर रखते थे।

गवैये गा रह हैं उनके फिरने पर या किसी ी अच्छी वात पर महाराजा या उनके परिवार का कोई व्यक्ति प्रसन्न होता ता थैलिया मे स एक थरी उठाता और महाराजा की तरफ रख करके गवैया की ओर आधा देता। ऐसा हाल महफिल म कई वार होता यहाँ तक कि मारा फश ही रुपयो से भर जाता '

यू तो एक ओर बडे मुहम्मद खाँ, मुबारक अली प्रभति कव्वाल बच्चा और अस्थायी अथवा ख्याल के गायका, तथा, दूसरी ओर, ध्रुपद के गायका मे अन्तर करन की परम्परा रही ह और अल्लादिया खाँ साहब के पौत्र अजीजुद्दीन खा न अपनी परम्परा को डागर—ध्रुपदिया बतात हए उस, जटिल और पेचीदा गाने वाले ख्यालियो से अलग बताया है। फिर भी, जाहिर है कि इस तरह की हद बदिया व्यवहार मे एक हद तक ही कारगर रही होगी। उदाहरण के लिए जयपुर के प्रसिद्ध कव्वाल स्वर्गीय मुहम्मद सिद्दीक 'मुतरिब ने बहराम खा साहब की परम्परा से फैज हासिल किया। सिददीक साहब के जमाने म राजस्थान म कव्वाला और गवय्यो का क्या नक्शा था यह उनके ही शब्दो मे सुनिए

जोधपुर मे कोई कव्वाल नही रहा, गवय्ये थे। बीकानेर म गवय्य मुलाजिम थे, कव्वाल कोई नही था। अलवर मे भी बाहर म ही कव्वाल बुलाय जाते थे वहाँ का कोई कव्वाल नही था। उदयपुर मे भी यही हाल था। टोंक मे कुछ कव्वाल थे। हमने अपने बचपन मे पार्टी देखी काले मम्भू की। बाद मे एक नामी पार्टी पैदा हुई वहा बुद्दू कव्वाल की। ये बहुत अच्छे कव्वाल थे। जितने मिरासी थे वे कव्वाली करने थे। शेखावाटी के मिरासी भी कव्वाली करते थे और अब भी करते हैं।"

यह तो बात हुई बडे दरबारो की। निश्चय ही हजारो छाटे-छोटे रजवाडे और 'ठिकाने' भी थे और उनके भी अपने अपन 'राजगायक' थे जिनके यजमान शासका और आम जनता दानो मे थे। ये छोटे बडे आधे पूरे दरबारी गायक विभिन्न पेशेवर सगीतजीवी जातिया मे से थे यथा मिरासी, ढाढी, कलावन्त, ढोली राणा कत्थक, नक्कारची लगे, मागणियार, नायक थोरी इत्यादि। इनमे से कुछ विभिन्न दवी देवताओ और उपासना पद्धतिया स भी जुडे हुए थे। जसे—जोगी पाबूजी रामदेवजी देवनारायणजी के भोप, भैरुजी के भोप इत्यादि। कुल मिलाकर ये सभी सगीतजीवी जातिया, विशुद्ध शास्त्रीय और विशुद्ध लोक सगीत के बीच का सेतु बनाती थी। उनम स जो अच्छे और सुशिक्षित गायक थ। उन्ह उस्तादो का दर्जा मिला और सामाजिक और आर्थिक दष्टि स भी वे समादत और सुखी रहे और जो मामूली थे, उतने गुणवान या उतने भाग्यशाली नही थे वे गाँव के 'एटरटेनर' और वशावलिया रखने वाले रहे और तत्कालीन पूवाग्रहो के अन्तगत उनको 'डूम, ढाढी कहकर उनके नीचे दर्जे और विपन्नता को उभारा गया। जैसा कनल टाड ने लिखा है, यह वह जमाना था जब सगीत सुनना-

समझना ता ग्राभिजात्य का सूचक था लेकिन खुद गाना-बजाना नीचा काम माना जाता था।

जो भी हो, यह निर्विवाद है कि इन पशेवर, सगीतजीवी जातियो ने हमारी सगीत की परम्परा का न केवल जीवित रखा बल्कि उसे समृद्ध ग्रौर विविधता-पूर्ण भी बनाया। दूसर, उन्होने लोक ग्रौर शास्त्रीय का सम्मिश्रण करके कुछ ग्रनूठे कलारूप भी प्रस्तुत किए जिनका सवश्रेष्ठ उदाहरण माड गायिकी है। माडा म प्रमुखत खमाज पीलू ग्रौर देश के स्वर लगत हैं ग्रौर उसकी गायिकी व प्रकृति ठुमरी जैसी है। खूबसूरती के लिए परम्परा मे हटकर सुर भी गायक माड म लगाते रहे हैं जस 'फूलाणी न कद्यो जी, लागा ग्राव छै परभात'—इस माड म। माड ग्राज एक क्षुद्र शास्त्रीय रागनी बन चुकी है लेकिन वतमान शास्त्रीय रूप ग्रहण करन स पहल शायद यह एक लोक धुन थी जिसे पशेवर गायको ने उठाया सजाया ग्रौर सँवारा।

पशेवर जातियो का उद्यम ग्रौर प्रसाद लोकगीतो म ही नही लोकनाट्यों ग्रौर सगीत दगल तुर्रा कलगी हेले का ख्याल इत्यादि स्वरूपो म भी परिलक्षित है। इस सदर्भ म से ग्रलवर व ब्रज क्षेत्र क 'सगीत दगल ग्रौर हेले का ख्याल' का एक विशेष महत्त्व यह है कि शास्त्रीय भूमि पर खडे रहकर भी, य लोक की दिशा म ग्रौर ग्रागे जाते हैं यानी कि उनम भाग लेने वाले ग्राम काम-काजी ग्रौर विभिन्न धधो म लग लोग रहत हैं।

लोकनाट्यो के क्षेत्र म कुचामणी चिडावी ग्रौर ग्रलीबख्शी शैलियाँ प्रसिद्ध हैं। दूला राणा, गिरराज—मनोहर जैसे लोकनाट्य कलाकार राजस्थान मे हुए हैं।

सगीत के इन्द्रधनुष के सिरे पर, इस प्रकार हम दिग्गज गायको गुणीजनो, गुण-ग्राहको ग्रौर घराना के दशन होत हैं जबकि बीच म हम विभिन्न शास्त्रीय ग्रौर ग्रधशास्त्रीय स्वरूप मिलत हैं जो कमोवेश लोक के लिए थे ग्रौर जिनमें से कुछ मे लोक केवल तटस्थ श्रोता दशक न रहकर स्वय भाग भी लेता था, ग्रौर इस इन्द्रधनुष के बिल्कुल दूसरे सिरे पर रहा ग्राया है विशुद्ध लोक—चक्की पीसती पानी भरती त्योहार मनाती महिला का गीत, चरस खीचते, हल चलाते हलवाहे का गीत, पशु चराते चरवाहे का गीत—सगीत के शास्त्र स बेखबर लकिन उसके ग्रानन्द ग्रौर उसकी सजना से पूरी तरह बाखबर। यहाँ सगीत की नव्य प्रकारो की परम्परा तो हैं लेकिन व्याकरण ग्रौर शास्त्र नही है। राग रागनियो के बीज तो हैं लेकिन उनको पल्लवित करने, उभारकर सामने लाने की चेष्टा नही है। उदाहरण के लिए 'ऊँचा राणा जी रा गोमटा रे नीची पीछोला री पाल'—इसी लोकगीत को लगो से सुनिये तो शिवरजनी उभर ग्राएगी। प्रच्छ-न्न ग्रौर बीच क गायक नतक वादक की श्रेणियाँ यहाँ भी हैं ग्रौर यह नितान्त

स्वाभाविक है। लेकिन पशेवरी नही है—सब मिलकर गात हैं—बजाते हैं या उनम से बेहतर जानने वाले नाचते-गाते है लेकिन शेष सब भी साझीदार रहते है—कला के दूरस्थ खरीददार या प्रेक्षक मात्र नही।

चाहे भीलो का घूमरा हो चाहे पचवाडे का अलगोजे के साथ का गाना चाहे महिलाओ का गायन चाहे सामूहिक भजन-कीतन चाह चरस खीचते समय का नारा चाहे गणगौर की घूमर—यह अकृत्रिम अभिव्यक्ति और यह सम्पूण सहज सलग्नता-कला के जीवन का अग होन की यह बात हम विशुद्ध लोक के इस छोर पर बखूबी दीख पडती है।

उपलब्ध समय और अपन सीमित ज्ञान के आधार पर राजस्थान की सागीतिक परम्पराओ की कुछ चर्चा मैने आपस की। लकिन सच पूछें ता परम्परा मात्र सम्पदा नही ह। कालार म जो सोना निकल चुका है वह उन खाना की परम्परा है लेकिन सम्पदा तो वह सोना ही है न जो अब भी वहा धरती के गभ म उपलब्ध है। उस दष्टि से दखे तो आज राजस्थान सगीत जगत को बहुत कुछ देत रहते हुए भी बहुत समद्ध नही है। कत्थक गए ध्रुपदिए गए कव्वाल गए पेशेवर जातियो के बच्चे बाप दादाओ का काम छोड रहे हैं। लोक म सपक्वता और रचनात्मकता कम होकर ट्राजिस्टर भक्ति प्रबल हो रही है। बचा खुचा माल वणसकर एव भ्रष्ट हो रहा है। अभी उस दिन एक मव बालक न मुझसे कहा पढाई और पेली मेव बाँसुरी का क्या साथ? जाहिर है कि इस दार म बदलते हुए परिवेश म बहुत स रूप जाती हुई बहार हैं। राजस्थान और शायद पूरे दश के लिए यह आखिरी मौका है कि परम्परा का कुछ भाग सम्पदा के रूप में रख लें और उसको दोबारा करन का जतन कर।

## राजस्थान की सास्कृतिक धरोहर मन्दिर[1]

विभिन्न धर्मों के पूजा-स्थलो की भाँति ही हिन्दू और जन मन्दिर धार्मिक महत्त्व ता रखते ही है लेकिन व कला क अनुपम तीथ भी है। गुप्तकाल की समाप्ति से लेकर लगभग 1500 ई० तक राजस्थान, उत्तर भारतीय मन्दिर निर्माण और मूतिकला का एक प्रमुख केन्द्र रहा। इस वार्ता म इस सास्कृतिक धरोहर पर एक विहगम दष्टि डालने का प्रयास किया जायगा।

राजस्थान के मन्दिरा की बात शुरू करने स पहले बहुत सक्षेप म चर्चा कर लें मन्दिर के पीछे जो कल्पना रही है उसकी ओर मदिर स्थापत्य क घटका या

1 आकाशवाणी जोधपुर से प्रसारित।

अवयवों की।

एक कल्पना के अनुसार, मन्दिर उपास्य देव या देवी का शरीर है और उस देव या देवी की प्रतिमा उसकी आत्मा। इसी प्रकार, एक कल्पना यह भी है कि मन्दिर देवता का निवास स्थान या महल है और इसी से जुड़ी हुई है मन्दिर को पूरे ब्रह्मांड का प्रतिरूप मानने की कल्पना।

मन्दिर व्यक्ति और समाज की कई आवश्यकताओं को पूरा करता था। एक आवश्यकता थी आराध्य देव के विग्रह को आवास प्रदान करने की। अतः एक गर्भगृह बनाया गया। इस गर्भगृह में प्रवेश करने के लिए एक द्वार बनाया गया जिसके साथ एक मुखालिन्द या बराण्डा जुड़ा। कालान्तर में इस बराण्डे के आगे एक मण्डप जुड़ा भक्त-समुदाय के एकत्रित होने के लिए। इसके और बाद, पहले मण्डप के आगे, जो अक्सर चारों ओर से बन्द होने के कारण गूढ़मण्डप कहलाता था, एक दूसरा खुला हुआ सभामण्डप या नृत्यमण्डप जोड़ा गया। मण्डपों के दोनों बाजू गवाक्ष रखे गए और सामने प्रवेश के लिए मुखचतुष्की। गर्भगृह के चारों ओर ढंका हुआ परिक्रमा पथ रहा तो मन्दिर सान्धार कहलाया अन्यथा निर-धार।

जिस प्रकार तलच्छन्द या ग्राउण्ड प्लैन का विकास होता गया वैसे ही उर्ध्व-च्छन्द या एलीवेशन का भी। जगती के ऊपर भिट्ट और पीठ का आयोजन हुआ। उसके ऊपर मण्डोवर का और उसके ऊपर शिखर का। मूलतः शिखर भेद के अनुसार मन्दिर स्थापत्य की विभिन्न प्रादेशिक शैलियाँ बनीं। उत्तर भारत की शैली नागर कहलाती है और राजस्थान के मन्दिर इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। राजस्थान के पुराने मन्दिरों में लतिन अथवा एकाण्डक शिखर का प्राधान्य था। बाद में अनेकाण्डक यानी कई छोटे छोटे शिखरों से मिलकर बने शिखर का प्रचलन अधिक रहा। इसके विपरीत दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली में शिखर पिरेमिड के आकार के होते थे।

मन्दिर आस्था और सामाजिक जीवन का केन्द्रबिन्दु तो था ही वह समाज की कला चेतना और सौंदर्य-भावना के प्रकटीकरण का भी माध्यम था। अतः उसके अन्दर बाहर को विभिन्न प्रकारों से देवी-देवताओं किन्नरों—गन्धर्वों—अप्सराओं—मुनियों—मनुष्यों—पशुओं—काल्पनिक पशुओं इत्यादि के रूपाकनों और डिज़ाइनों से सजाया गया। और चूंकि मन्दिर ब्रह्माण्ड और उसमें घटने वाले सभी व्यापारों का दिग्दर्शन कराने वाला था अतः मिथुन मूर्तियाँ भी उसमें बनीं और चीज़ों के अलावा विभिन्न रूपाकारों और अलंकरणों वाले खम्भे और छतें बनीं। मन्दिर राजा भी बनवाते थे व्यापारी भी और सामान्य प्रजाजन भी। स्थापतियों के दल या गिल्ड्स, पीढ़ी दर पीढ़ी, विभिन्न स्थानों पर विभिन्न संरक्षकों के लिए मन्दिर बनाती रहती थीं। इसी कारण विभिन्न क्षेत्रीय शैलियों का जन्म हुआ। लेकिन सभी शैलियों का मूलाधार वास्तुविद्या के ग्रन्थों में रहता

था जिनमे प्रतिमाओं के लक्षणो से लेकर मन्दिर-निर्माण के सभी पक्षो का निरूपण उपलब्ध था।

राजस्थान म सातवी शदी से पूव के मन्दिर अब लगभग नही के बराबर हैं। दर्रा नगरी, चार चौमा, केशोरायपाटन मे कुछ गुप्तकालीन अवशेष मिलते हैं। लेकिन सातवी शदी से पूव की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूण पाषाण प्रतिमायें और पकाई हुई मिटटी की मृण्मूर्तिया यानी टैराकोटाज अनेक स्थाना से प्राप्त हुई है। नोह की यक्ष मूर्तिया, लालसोट के रेंलिंग के खम्भे, नगर और रैढ के टेराकोटाज शुग और कुषाण काला के हैं यानी ईसा से पहली-दूसरी शताब्दी पूव और पहली-दूसरी शताब्दी बाद के। इसके तुरन्त बाद की मण्मूर्तिया नगरी, नलियासर-साम्भर और पुरानी सरस्वती और आज की घग्घर के तटवर्ती रगमहल, बडोपल पीर सुल्तान प्रभति स्थानो से मिली है। ये मूर्तिया धार्मिक भी हैं और गर धार्मिक भी। यह माना जा सकता है कि धार्मिक मूर्तिया किन्ही देवालयो मे लगी रही हागी। गुप्तकाल के ही विशाल तोरण स्तम्भ भी मिले हैं मण्डोर से।

राजस्थान का पहला मन्दिर जिसके काल के बारे म निश्चय से कहा जा सकता है झालरापाटन का सीतलेश्वर महादेव मन्दिर है जिसका मूल भाग 689 ई० मे बना लेकिन यह मन्दिर मूलत मालवा की परवर्ती गुप्तकालीन परम्परा म आता है। अत राजस्थान की पहली बडी और व्यापक मन्दिर निर्माण परम्परा के उद्गम और विकास के लिए हम अयत्र देखना होगा यानी मारवाड की ओर।

मण्डोर—मेडता और जालार म राज्य करने वाले गुजर प्रतिहारो के साथ जुडे इस कला-आन्दोलन का महामारु शैली कहा गया है। लेकिन मारवाड के बाहर भी इस शैली के मन्दिर दो और दिशाओं मे दूर तक मिलते है—एक ओर सपादलक्ष मे बादी कुई के निकट स्थित आबानेरी तक और दूसरी ओर चित्तौड-बाराली वाली, उत्तरी मेदपाट और उपरमाल पटटी तक।

आठवी—नवी—दसवी शताब्दियो मे इस शैली ने सैकडो सुन्दर देवालय, जैन और हिन्दू दोनो परम्पराओं के राजस्थान का दिए। इस शैली के प्रारम्भिक उत्कष काल के तीन प्रकाश-स्तम्भ क्रमश चित्तौड ओसिया और आबानेरी हैं।

राजस्थान म मन्दिरा की स्थापत्य कला के अध्ययन के लिये चित्तौड का दुग बहुत महत्त्व का स्थल है। कालिका माता जो पहले सूय मन्दिर था, और कुम्भ-स्वामी जो पहले शिव-मन्दिर था दोना बाप्पा रावल अर्थात गुहिला के समय से भी पूव के हैं यानी लगभग 700 ईस्वी के हालाकि बाद म काफी रददोबदल और जीर्णोद्धार का काम इनमे हाता रहा। ये दोनो मन्दिर काफी विशाल हैं और महामारु शैली की मेदपाट उपरमाल शाखा के अन्तगत आते हैं। इन दोना के बीच मे समाधीश्वर मन्दिर है जो बारहवी शताब्दी म बना और जिस पर गुजरात के सोलकियो के सरक्षण मे पनपी कला का प्रभाव स्पष्ट है। इस मन्दिर के पास ही

राणा कुम्भा द्वारा पन्द्रहवीं शताब्दी मे बनवाया गया कुम्भमेरु है जो विजय स्तम्भ नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रोसियाँ के पुराने मन्दिर यथा सचियामाता समूह का पुराना सूर्य मन्दिर, महावीर-मन्दिर, तीनों हरिहर मन्दिर तथा सूर्य और पीपलाद माता मन्दिर 750 से 825 ई० के बीच बने। ये मन्दिर गुप्तकाल की परम्परा मे अवश्य हैं लेकिन ओसियाँ की कला की अपनी अलग पहचान है। उसमे अभिजात्य के साथ साथ एक प्रकार की लोक-कला वाली उत्फुल्लता और सहजता है जो शायद स्थानीय आभीर प्रभाव की द्योतक है। एक और बात ओसियाँ के बारे मे स्थापत्य और मूर्तिकला का ऐसा तवाज़ुन कम ही देखने को मिलता है। स्थापत्य ने अलंकरण को सहजता के साथ प्रसाधन की तरह धारण किया हुआ है। गुर्जर प्रतिहार परम वैष्णव थे। स्वाभाविक है कि कृष्ण विष्णु और सूर्य को ओसियाँ के पुराने मन्दिरो मे प्रमुखता मिली।

अभिजात्य और लोक के सम्मिलन की जो बात ओसियाँ के सन्दर्भ मे कही गई है वही आभानेरी पर भी लागू होती है। 800 ई० के लगभग बने इस देवालय के भग्नावशेष राजस्थान मे मूर्तिकला के चरमोत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

महामारु शैली के प्रारम्भिक मन्दिरो मे ही हम गिन सकते है मारवाड़ मे ओसियाँ के लगभग समकालीन अन्य अनेक मन्दिर जैसे लाम्बा, बुचकला और मण्डोर। 836 ई० मे मिहिरभोज ने कन्नौज को राजधानी बना लिया और इसके बाद 10वीं शती मे मरुमण्डल और सपादलक्ष मे जो शक्ति उभरी वह थी चौहानो की। चौहानो के उत्कर्ष काल मे कॅकीद सीकर, नाडोल इत्यादि मे अनेक भव्य मन्दिर बने। इन सबमे अब केवल कॅकीद का मन्दिर लगभग मूल रूप मे है लेकिन दुर्भाग्यवश उसकी देख रेख का कोई प्रबन्ध नही है। चौहानो से ही जुडी हुई है कथा बघेरा और अजमेर की जहाँ 10वीं से 12वीं शती तक सुन्दर देवालय अथवा मूर्तियाँ बनीं। उधर अलवर जिले मे राजगढ के पास परानगर मे 10वीं—11वीं शती मे बने जैन व हिन्दू मन्दिरो के अवशेष मिलते हैं।

उत्तरी राजस्थान के मध्यकाल तक के मन्दिरो के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के बाद आइये अब पुन दक्षिणी राजस्थान चलें। चम्बल के किनारे बारोली का भव्य मन्दिर नवी शताब्दी का है। लेकिन स्पष्ट है कि उसे हम सीधे-सीधे महामारु परम्परा मे नही रख सकते। यह असमंजस 950 ई० के लगभग बने उदयपुर के दक्षिण मे अवस्थित जगत के मन्दिर के साथ भी है। यहा हम पाते है कि मूर्तिकला और अलंकरण स्थापत्य पर हावी होने लगते हैं—समूचा मन्दिर एक उत्कीर्ण मूर्ति समूह जैसा लगने लगता है। एक जगमगाऊ काम वाली सायास और कलात्मक सघनता यहाँ दीख पडती है जो ओसियाँ के सहज और मुक्त रूपाकार से काफी अलग जा पडती है। जाहिर है कि यहा महामारु से भिन्न कुछ दूसरी कला-चेतनायें

और मान्यतायें प्रभावी हैं। मालवा और गुजरात, दोनों का प्रभाव है बारोली, नागदा और जगत इत्यादि के मन्दिरो मे। ये मन्दिर एक ओर तो मध्यभारत के उदयश्वर और खजुराहो के मन्दिरो तक के विकासक्रम की कडिया हैं दूसरी ओर वे गुजरात की सोलकी शैली का मार्ग प्रशस्त करते हुए लगते है।

इसके पश्चात् अगला महत्त्वपूर्ण कलातीर्थ है बाडमेर जिले मे किराडू जहाँ 1010 ई० के लगभग, महामारु व महागुर्जर शैलियो के सम्मिलन से एक नई शैली—मारु गुर्जर—उभरकर सामने आती है जिसे गुजरात के सोलकियो का सरक्षण प्राप्त था। अगले ढाई सौ वर्षों मे यानी लगभग 1300 ई० तक राजस्थान और गुजरात के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण मन्दिर इसी शैली म बने। किराडू मे अलकरण की प्रचुरता होते हुए भी स्थापत्य की गरिमा कायम रहती है। अनेक विद्वानो की राय म यह तवाजुन या सतुलन माउन्ट आबू के 11 वी और 13 वी शताब्दियो के भव्य मन्दिरो मे कायम नही रह पाया। इस दृष्टि से 15 वी शताब्दी मे बने रणकपुर के चौमुखे जन मन्दिर का विशेष महत्त्व है जिसम स्थापत्य का पक्ष फिर और बहुत बडे पैमाने पर उभरकर आता है।

मन्दिर पन्द्रहवी शताब्दी के बाद भी बने जसे उदयपुर आमेर और केशोरायपाटन मे और आज भी बन रहे है। लेकिन कुल मिलाकर 13 वी शती के बाद का काल गिरावट और भ्रष्ट होती रुचि का है। यह पतन खासतौर पर मूर्तिकला के क्षेत्र मे देखा जा सकता है क्योकि धन और कौशल से बडे बडे भवन तो बनाये जा सकते हैं लेकिन अच्छी मूर्ति बनाने के लिए सवेदनशीलता चाहिए और वह खास गुण भी जिसने विषय की आत्मा को उसके बाह्याकार पर तरजीह देनेवाली भारतीय मूर्तिकला को उसकी विशेषता दी थी। हमने क्या खोया है और क्या पाने के लिए जतन जरूरी है यह समझने के लिए हम पुराने मन्दिरो और अपने सग्रहालयो मे बार-बार जाना होगा बाहर और अन्दर दोनो की आखें खोलकर।

## हाडौती के कलावशेष[1]

कोटा तो मैं कई बार जा चुका हूँ। कोटा से दक्षिण पश्चिम 30 मील पर बारोली के मन्दिर भी एकाधिक बार देखे है। पूर्व मे 63 मील पर अटरू भी एक बार गया था। पिछले दिनो की कोटा-यात्रा मे अटरू दुबारा जाने के अलावा

1 'इतवारी पत्रिका'

बिलास, शाहाबाद ग्रार रामगढ भी जान का अवसर मिला। कोटा स 4 मील पर व सुग्रा भी देखा। छीपाबडीद से 10 12 मील दूर अवस्थित काकूनी खारथल फिर भी रह गया। अटरू जाकर भी शेरगढ न जा सका।

कोटा क्षेत्र का नक्शा सामन रखिये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बाद के राजनीतिक—प्रशासनिक मानचित्र कैसे भी क्या न रहे हो, भौगोलिक और सास्कृतिक दृष्टिया स यह पूरा क्षेत्र मालवा का भाग रहा है। मध्य युग म उत्तर से दक्षिण जान वाले कई महत्त्वपूण माग, शाहाबाद बिलास और अटरू चन्द्रावती होते हुए गुजरते हाग। मध्य युग मे जब उडीसा म गुजरात और कर्नाटक से कश्मीर तक मन्दिरा के निर्माण का अभूतपूव दौर चला तो इस क्षेत्र के परमार राजाग्रा ने भी उसम अपना योगदान दिया। इन्ही मे से कुछ मन्दिरा के अवशष शाहाबाद से बारोली और काकूनी से रामगढ तक भग्नावस्था की विभिन्न स्थितिया म बिखरे हुए हैं। चम्बल काला सिध, पारवती, आहू और परवन नदियो द्वारा सिंचित यह हरा भरा अचल मध्ययुग की सस्कृति के विशिष्ट लीलाधामो म से रहा है।

व सुग्रा म 738 ई० का जा शिव मन्दिर है उसका स्थापत्य के इतिहास की दृष्टि से भले ही महत्त्व हो, मूर्तिकला की दृष्टि से देखने योग्य उसम कुछ भी नही है। अटरू मे पुरान गणेश मन्दिर के स्थान पर नया मन्दिर अधूरा बना है और 4-5 अच्छे नमून मध्ययुगीन मूर्तिकला के अब भी वहाँ विद्यमान हैं। लकिन अटरू की विशिष्टता निश्चय ही उस खण्डहर से है जो बारा—छबडा सडक की बाई ओर एक टीले के रूप मे विद्यमान है। अपने समय म यह मन्दिर कितना सन्तुलित और सुन्दर रहा होगा, यह वहा बतरतीब पडे विशाल खम्भो और मेहराबो से भली प्रकार प्रतीत होता है। शेरगढ जाते हुए औरगजेब की सेना न मन्दिर का विध्वस कर दिया था। धम और राजनीति की लडाइया म कला की दुगति ऐसी लडाइया के दौरान नारी-जाति पर ढाये जान वाले जुल्मा की तरह ही बेमानी और उदास बनान वाली रही है।

बिलास जाने के लिए आज आपका बारा से पावती के किनारे बसे किशनगन से शाहाबाद जाने वाली सडक पर रामपुरिया गाव जाना पडता है और वहाँ से दक्षिण ऊबड खाबड मे चारेक मील चलकर क्यादेह पहुँचना पडता है—जहाँ पश्चिम की ओर बहकर पावती मे मिलने वाली बिलासी नदी को बाधकर एक गहरे सरोवर की शक्ल दे दी गई है और जहाँ स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा स्थापित विद्यालय, सन दम्पती द्वारा चलाया जा रहा है। लेकिन निश्चय ही पहले पावती पार करके अटरू से सीधे बिलास का नजदीक का माग रहा होगा। आज पुराने बिलासगढ से नए बिलास गाँव तक बिलासी के किनारे किनारे जो खण्डहर मीलो मे फैले हैं व निश्चय ही उस समय एक समृद्ध और बडी नगरी क रूप म

रहे होंगे। भैंसाशाह का नाम अटरू और बिलास दोनों से जुड़ा हुआ है। क्योंकि इस नाम का सम्बन्ध, रणथम्भौर के शासक से बचने के लिए भैंसाशाह की लड़की द्वारा उस कुंड मे डूबकर प्राण दे देने से बताया जाता है।

आज बिलास मे चार प्रसिद्ध खम्भों और एक कुएं के पास एकत्रित कुछ मूर्तियों को छोड़कर स्थापत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय कुछ विशेष नहीं है। वहा की कला के अच्छे नमूने अब कोटा म्यूजियम मे है—सिवाय हनुमान की राक्षसी का वध करते हुए एक सुन्दर आदमकद मूर्ति के जिसमे दोनों हाथों की नृत्य मुद्रायें बरबस ध्यान खींचती हैं—और नृत्यमुद्रा मे ही खड़े हुए गणेश की एक छोटी मूर्ति के। खण्डहर के किनारे, गजेन्द्र-मोक्ष का एक निरूपण भी ज़िक्र के काबिल है। लेकिन बिलास की प्राकृतिक सुषमा अब भी अनूठी है। थोड़ा ध्यान देने से, नदी के किनारे किनारे टूरिस्ट काटेजेज़ बनाने पर यह एक अच्छा केन्द्र बन सकता है।

काकूनी, अटरू और बिलास की मूर्तिकला मे काफी साम्य है और उसका काल 8वी से 10वी शताब्दी तक बताया जाता है। बारां और शाहाबाद मे आज मौके पर मध्ययुगीन स्थापत्य और मूर्तिकला के नाम पर विशेष कुछ बचा नहीं है लेकिन वहाँ के जो नमूने कोटा म्यूजियम मे हैं वे उच्चकोटि के और उक्त तीनों स्थानों की टक्कर के है।

मांगरोल से दसेक मील पूर्व मे, चारों ओर से पहाड़ियों से घिरे एक तश्तरीनुमा स्थल मे, रामगढ का पुराना मन्दिर—भण्ड देवरा—आज भी खड़ा है हालांकि ज्यादातर लोगों के लिए रामगढ का महत्त्व बाद के उस माता जी के मन्दिर के लिए है जो पहाड़ के शिखर पर 700 से ज्यादा सीढ़ियां चढ़ने के बाद आता है। किसी ज़माने मे भण्डदेवरा एक विशाल तालाब के किनारे मध्यभारत के उदयपुर और खजुराहो के मन्दिरों की टक्कर का एक भव्य देवालय रहा होगा। हालांकि उसकी मूर्तिकला अटरू इत्यादि की तुलना मे निम्न स्तर की और परवर्ती लगती है लेकिन मन्दिर का आकार काफी बड़ा और उसका मंडप विशेष रूप से दर्शनीय है। मंडप की छत मे टर्रेसिंग के ज़रिये अतिरिक्त ऊँचाई का जो आभास पैदा किया गया है वह उल्लेखनीय है। मन्दिर के बाहर कुछ मूर्तियां एकत्रित हैं जिनमे चतुर्देव—बीच मे ब्रह्माण्ड के प्रतीक शिवलिंग के चारों ओर हरि हर, पितामह और मार्तण्ड की मुखाकृतियां—उल्लेखनीय हैं। मन्दिर मे कई मिथुन मूर्तियां भी हैं।

मैंने बार-बार इस बात का लक्ष्य किया है कि जहा हमारे पूर्वज देवालयों के स्थान चुनने से लेकर उनको बनाने तक मे शाश्वत प्रकृति प्रेम और अचूक सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय देते थे मगर, हम उनकी सतानें अपनी फूहड़ता का ही उजागर करते आये हैं। रामगढ मे ही इस बेहूदा ढंग से मरम्मत की गई है कि मन्दिर के कुछ हिस्से पानी की टंकियाँ नजर आते है। एक चौकीदार भी है जो

रात का रामगढ़ चला जाता है।

जसलमर के बारे मे कहा जाता था कि काठ का घोड़ा हो और पत्थर का शरीर—तब जैसलमेर देखने का हौसला करो। कोटा की हालत भी ऐसी ही है। बारा से मागरोल सडक से ज्यादा खराब सड़क मैंने जिंदगी मे नही देखी। मागरोल मे रामगढ़ तो खैर सडक है ही नही। क्या राज्य सरकार ध्यान देगी राईट बैंक कैनाल से रामगढ तक कोई छ मील और रामपुरिया से कृयादेह तक कोई चार मील—इन दस मीलो मे सड़क बन जाये तो इन कलातीर्थों का उद्धार हो जाये। इसी तरह रामगढ़ के दोनों फूटे बंधे बन जायें तो गाँव की पीने के पानी की समस्या के निवारण के साथ साथ, मंदिर को भी उसका स्थल सौन्दर्य फिर से मिल जाये।

लेकिन जब तक यह नही होता तब तक ग्राम दर्शक कोटा म्यूजियम जाकर भी बहुत कुछ देख समझ सकता है। यहाँ की मूर्तियो मे स्थानक देवता, बारा, त्रिमूर्ति विष्णु-वाराह, विष्णु, नृसिंह शाहाबाद, ग्रीव सपत्नीक वायु, शिव, शनि, और वरुण दम्पत्ति, अटरू तथा शिव, यमराज और विष्णु विलास विशेष दर्शनीय हैं। अटरू और विलास के नमूना के साथ रामगढ से प्राप्त पुरषोत्तम को देखने पर रामगढ की कला के अपेक्षाकृत परवर्ती स्टाईलाइज्ड और स्पदनहीन होने की बात की ताईद होती है। कोटा म्यूजियम मे ही बारोली के शेषशायी विष्णु को देखा जा सकता है। यह भी जानकर खुशी हुई कि धडल्ले से चोरी या 'पार' की गई मूर्तियो मे से कुछ पिछले दिनो कोटा सग्रहालय मे वापस पहुँची हैं।

## इतिहास के मुखरित स्रोत मूर्तियाँ

इतिहास उसका लेखा है जो था। फिर उसमे भी वह खास तौर पर लेखा है मनुष्य के क्रिया कलापो का। मनुष्य के ज्यादातर कायकलाप या तो कोई मूर्त-रूप ग्रहण नही करते या करते भी हैं तो क्षणभगुर होते हैं। मूर्तिकला मनुष्य की रचनात्मक ऊर्जा और कलात्मक चेतना मे जन्मने वाले अनेको कला रूपो मे से एक है और चूंकि उसके उपादान आमतौर पर ज्यादा स्थायित्व रखने वाले और काल की उठापटक और तोड-फोड को सहन मे ज्यादा सक्षम होते हैं इसलिए उसके काफी नमूने बचे रहते हैं और कालातर मे सम्बन्धित काल और उनके मनुष्यो के इतिहास के मूल्यवान स्रोतो मे से एक बनते हैं।

विषय के विस्तार को वार्ता के सीमित कलेवर मे समेटने के उद्देश्य से यहाँ

हम मुख्यत भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य म भारतीय मूर्तिकला का थोडा विवेचन करेंगे।

सारे ससार म आदिमकाल से ही पूजा के उद्देश्य से सजावट या खेलन के लिए या फिर बिना किसी विशेष उद्देश्य के, केवल मानव की अतिरिक्त ऊर्जा के कलात्मक प्रस्फुटीकरण के रूप मे मूर्तियाँ बनाई जाती रही हैं। ये मूर्तिया मिट्टी की भी थी, लकडी और हडडी की भी, विभिन्न धातुओ और पत्थरो की भी। आज से पाँच हज़ार वष पहल सिन्ध नदी के किनार किनारे और उससे काफी दूर दराज़ तक के क्षेत्रो म एक आर्येतर शहरी और विकसित सभ्यता फल फल रही थी जिसे सिन्धुघाटी की सभ्यता कहते हैं। उसकी समकालीन दजला-फरात घाटिया की सुमेर सभ्यता से, सिन्धु सभ्यता के साम्य के कारण इस सभ्यता को "हिन्दसुमेरी' सभ्यता भी कहते है। उपलब्ध प्रमाणो से पता चलता है कि यह सभ्यता आय-सस्कृति से नितान्त भिन्न थी। आर्यों न जो उन लोगो को 'अनास ' शिश्न पूजक" इत्यादि हीनता के द्यातक नामो से सम्बाधित किया है, उसम लगता है कि घुमक्कड, गर्वीले और सुशोभन आय उनको अपने से हीन मानते थे। लेकिन मार्के की बात यह है कि वाद के हिन्दू धम और उसकी मूर्ति कला के लगभग सारे गुणो, विधि विधानो और आलम्बनो का मूल उत्स हमे सि धु सभ्यता की अवशिष्ट, उकेरी हुई, घढी हुई और ढाली हुई मूर्तियो मे मिल जाता है।

भारतीय मूर्तिकला की कीर्ति और वैशिष्टय के दो मूल आधार ह। एक तो यह कि हमारी मूर्तिकला मे ढलकर मनुष्य और प्राणीमात्र मात्र हाड और चाम नही रहते, मात्र शरीर नही रहते बल्कि चराचर प्रकृति का एक जीवन्त और साथक हिस्सा वन जाते है। उदाहरण के लिए सिन्धु घाटी की साँड की आकृति वाली सील को ले वह साड मात्र नही है वह खुद वपभ का रूप धर समष्टि है, रूपायित स्पन्दन है। पश्चिम मे भी मूर्तिकला ने उत्कृष्टना की हदें ठुई है लेकिन कुल मिलाकर वहाँ शारीरिक सौष्ठव दिखान और 'गोचर सामग्री के आदर्शीकरण" पर ज़ोर रहा है। कला के बजोड नमूनो के पीछे के माडेल साफ दीखत है। यह भारतीय मूर्तिकार के ही हिस्से मे था कि उसने माडेल नही, मनुष्य को घढा और उसको उसक सम्पूण परिवेश स जाडा। ज़ाहिर है यह कमाल सम्भव न होता यदि उसके पीछे जड चेतन सभी म व्याप्त एक ब्रह्म अथवा परम तत्त्व की सत्ता मानने वाला विशिष्ट दाशनिक और धार्मिक चिंतन न हाता। विभिन्न पौराणिक पशुआ और अध मानवा का रूपायन पश्चिम मे भी खूब हुआ है, लकिन उदयगिरी के वाराह मे जैसे पशु मानव और देवता और जगत को गतिवान बनाने वाले तेजस का समायोजन हुआ है वैसा अन्यत्र दुलभ है। भारतीय मूर्तिकार की नारी साची और दीदार गंज की यक्षिणो नारी मात्र नही

है, पुष्ट पयोधरों और पृथुल नितम्बों वाली उर्वर और उदार माँ प्रदर्शित है।

दूसरा विशिष्ट तत्त्व भारतीय कला का उसमें प्रतिबिम्बित जिजीविषा और जीवन के खुले स्वीकार का है। यहाँ की नग्नता, नग्नता नहीं है सहजता है। न कोई पापभाव है न कोई 'कलुषमानस', और यह विशिष्टता भी हिन्दू धर्म और भारतीय जीवन-दर्शन में जीवन के चारों सोपानों और शरीर के सभी सहज धर्मों के मुक्त स्वीकार से सम्बन्ध रखती है।

मौर्य और शुंग कालों में जो लघु और गुप्त था वह बृहत और भव्य भी बना और जो अनगढ़ परन्तु फिर भी उद्धत और आदिम जीवेषणा की प्रतीक यक्ष-मूर्तियों वाली लोकधारा थी, उस पर पॉलिश और निखार चढ़ा। शुंग युग की मूर्तियों में नगरीय और ब्राह्मण संस्कृति का परिष्कार झलकता है।

ईसा की पहली से तीसरी शताब्दियों का काल कुषाण काल है। इस काल में एक ओर तो यूनानी प्रभाव लिये गंधार कला चल रही थी दूसरी ओर मथुरा की विशुद्ध भारतीय शैली और तीसरी ओर दक्षिण की आंध्र-सातवाहन कला। गंधार कला कुल मिलाकर यह दिखाती है कि भारतीय कला के चर्मोत्कर्ष के बिन्दु वे रहे हैं *जिनमें बाहरी प्रभाव अपने नए बोध और शिल्प के साथ भारतीय* कला चेतना और परम्परा में पूरी तरह सम्मिलित हो गया। गंधार कला में यह प्रक्रिया अधूरी रही, बाहरी प्रभाव पैबन्द की तरह रहा आया।

सांची मथुरा, अमरावती और नागार्जुनकोंडा के सोपानों में से गुजरती भारतीय मूर्तिकला गुप्त-युग के स्वर्णयुग में पहुँचती है जो लगभग 300 से 600 ईसवी तक रहा। गुप्त युग में आदिम मांसलता, पौरुषपूर्ण कमनीयता में ढल जाती है। देह का आनन्द आत्मा के आह्लाद के साथ समरस होता है—दोनों एक-दूसरे को साधते हैं। यह सन्तुलन उस युग के राजनीतिक जीवन के स्थायित्व और सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक उत्थान का प्रतिफलन है।

दक्कन और दक्षिण में सांची, मथुरा और अमरावती का उत्तराधिकार बादामी, महाबलीपुरम, कांची, एलौरा, और एलिफेंटा ने सम्भाला सवारा और परवर्ती राजवंशों को सौंपा। पल्लवों का स्थान चोलों ने लिया और कालान्तर में, चोलों का पण्ड्य और फिर होयसला और नायकों ने। बादामी के चालुक्यों की जगह राष्ट्रकूटों ने ली और, बाद में, राष्ट्रकूटों की कल्याणी के चालुक्यों ने। दक्षिण में मन्दिर और मूर्ति निर्माण का आखिरी बड़ा दौर विजय नगर का रहा।

उधर उत्तर भारत में, गुप्त-युग के बाद 600 ई० से 1200 ई० तक भारतीय मूर्तिकला गुप्त-युग की उत्तुंगता पर न टिकते हुए भी शिखरों और ऊँची घाटियों में विचरती रही। फल ज्यादा पकने लगा था लेकिन सड़ा भी न था। आडम्बर बढ़ रहा था—ठीक कर्मकाण्ड और अनुष्ठान की जकड़नों की तरह—और

सहजता पर सायासता छाने लगी थी। लेकिन एलारा, एलिफैंटा और महाबली-पुरम वाली महाबली कलाक्षमता शेष थी। उत्तर-मध्ययुग के उत्तुग शिखर है खजुराहो और कोणाक। एक मायने मे कोणाक जैसा निर्माण सारे भारत म दूसरा नही है और उसकी मूर्तिया जैसे म दिर का हिस्सा बनती हैं, उसका अपने स्पदन से जिलाती हैं, वैसा शायद सारे विश्व मे कही नही होगा। वे मूर्तिया अलकरण नही, म दिर की भगिमाय है।

लेकिन कुल मिलाकर 13वी-14वी शताब्दियो मे भारतीय मूर्तिकला मर गई। बेलूर-हैलेबिद माऊँट आबू की महीन पच्चीकारी तक आते आते भारतीय मूर्तिकला का आत्म तत्त्व तिरोहित हा चुका था। मूर्तिया यू जकडी हुई खडी की जाने लगी मानो उ ह यू खडे रहन की सजा मिली हो। त्रिभग मुद्रा एक रूढि बन गई। जयपुर की भदेस मूर्तिया धम प्राणो को भले ही लुभाये, कला पारखियो को चमत्कृत करने का तत्त्व उनमे नही है और यह फिर एक बार परिचायक है सस्कृति मात्र के मूल्यो और मापदण्डो के ह्रास का। 19वी 20वी शताब्दी के सास्कृतिक पुनर्जागरण न भारतीय मूर्तिकला को उकसाया जरूर लेकिन वह कोई नई जीव त धारा बनकर सामन नही आ पाई है।

खण्ड चार

# लोक कला

## कला के चरण लोक-कला

मै समझता हूँ कि इस वार्तामाला को सुनने वाले श्रोतागण कला की परिभाषायें सुनते सुनते परेशान हो गए होगे या हो जाएँगे लेकिन मज्बूरी है। आज भी लोक कला की बात करने से पहले, उसके लिए भाव भूमि और परिप्रेक्ष्य बनाने के लिए हमे थोडी चर्चा कला क्या है, इसकी करनी होगी। मैं कोशिश करूँगा कि यह चर्चा किताबी और परम्परागत मात्र न रहे।

कला भी एक प्रकार का कौशल है। उस रूप म रेडियो पर बोलना कला है फिल्म सगीत सुनने को आतुर श्रोताओ के आग्रह या दुराग्रह के बीच आपका इस वार्ता को सुन पाने का जुगाड बैठा लेना कला है। युद्ध भी कला है व्यवहार कला है राजनीति भी कला है अपने पेशे को भली प्रकार निबाहना कला है।

तो फिर कुशलता या दुनिया के किसी भी काय को भली-भाँति सम्पादित करने और विशुद्ध कला के बीच अतर क्या रह जाता है? एक अच्छे सगीतज्ञ या चित्रकार और मनोज वसु ने अपने उपन्यास "रात का मेहमान' मे जो चौयकम मे पारगत महाशय निरूपित किए हैं या भगवती चरण जी के 'सबसे बडा आदमी" के कुशल जबकतरे के बीच म फिर अतर क्या है?

अतर है उद्देश्य और नतीजे का। मूलत कला का उद्देश्य उपयोगिता या अनुपयोगिता के आम और स्थूल तकाजा और मानदण्डो के पर—सौदय की रचना और उसको उभारना है। उदाहरण के लिए ताजमहल को लें। एक या दो कब्रा को ढकने मात्र के उद्देश्य से ताजमहल नही बना उसके पीछे एक समथ और धनी व्यक्ति की कला भावना थी। राम की कथा मात्र कहने के लिए तुलसी के मानस की जरूरत नही थी। पानी भरकर रखने का काम एक टीन के डिब्बे से भी चल सकता है और एक कलात्मक सुराही से भी।

तो मानव के मन की सौन्दय भावना को प्रकट करने उसको उभारने, उसको आलबन देने मे कला का उद्गम है और उसके विविध रूप और प्रकार बनते है इस मूल प्रवृत्ति और उद्देश्य उपकरण विधा काल, जनरुचि और माँग इत्यादि अन्यान्य तत्त्वा के बीच की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया या इटरएक्शन से।

जैसा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है जीवन के स्थूल व्यापारो को निबटाने

के बाद मानव मे जो अतिरिक्त ऊर्जा रहती है वह कला के रूप मे प्रकट होती है। सोने, जागने, पेट भरने का जुगाड करने, खान, मैथुन और शौच की सहज पशु क्रियाओ के परे कला है। आमतौर पर यह परे होना और व्यापारो से ऊपर होना और ऊर्ध्वगामी होना भी होता है लेकिन अक्सर वह जीवन के सामान्य उद्देश्यो और अभिप्रायो को अनुप्राणित करता और उन्हे सामान्य से ऊपर उठाता हुआ भी होता है।

तो साहब, यह तो हुई कला। अब बात करें लोक कला की। यहा मामला ज़रा पेचीदा और बहस बखेडे वाला बन जाता है।

अगर मैं आपसे एक सीधा सवाल करू कि लोककला क्या है, तो जहा तक मैं समझता हूँ कि आपका उत्तर कुछ कुछ यू होगा—

हमारे गाव मे लडकियाँ लूर खेलते समय या स्त्रिया विवाह के समय गीत गाती है। ये गीत लोकगीत है। यह लोक-कला है।

मेरी दादीजी त्यौहारो पर बडे सुदर माडणे बनाती हैं। यह लोक कला है। मेरी भाभी हथेली पर मेहदी बडी सुदर माँडती है। यह भी लोक कला है।

हमारे गाव मे एक बूढा जागी है। वह सारगी पर गज फेर फेरकर निहालदे सुल्तान गाता है। यह लोकगाथा का लोकगायन है, यानी लोक कला है। एक सुथार भी है—क्या कलात्मक तोरण बनाता है। वह भी लोक-कलाकार है।

और हा, अबकी बार नागौर के मेले मे मैने एक ख्याल पार्टी का कार्यक्रम देखा। और बहुत कुछ के बीच उन्होने जगदेव पवार का ख्याल खेला। यह लोक नाट्य ह, लोक-कला है।

और बताऊँ ? हा, याद आया। मेरे गाव मे एक वयोवृद्ध बा सा चारण-जाति के हुआ करते थे। क्या बात थी उनकी ! कहानी कहने मे जवाब नही था साहब ! यह लोककथा है जी—यानी लोक कला। और हाँ, गाँव मे निनाण करते और छत कूटते हुए भी कुछ कुछ गाते हैं। होली के मौके पर डडिया भी खूब जमता है। नट और कठपुतली वाले भी आ निकलते हैं कभी कभी। यह सब, लोक-कला है। लेकिन अब क्या है साहब ? सिनेमा ने सब बटाधार कर दिया। जिसे देखो वही ट्राजिस्टर लटकाये और हमारे अगने मे अलापता हुआ नजर आता है। शहरी छोरे-छोरिया के या तो गले मे सुर ही नही है या नाचते-गाते शरम आती है।

तो यह सब आप बोले या आपने सोचा या मेरा मानना रहा कि आप यू सोचते होगे या यू बोलते।

आपके इस कल्पित कथन म से लोक-कला सम्बन्धी क्या धारणा बनती है, आइये तनिक विचार करें।

नम्बर एक लोक-कला पारम्परिक है। 'हमारे अगन मे' जसे गीत लोक-गाता मे भी मिल सकते हैं लेकिन इस फिल्मी गीत को हम लोकगीत नही मानते।

नम्बर दो कुल मिलाकर लोक-कला पारम्परिक ग्रामीण जीवन की चीज है। शहर में पाबूजी या निहालदे गाता लोकगायक वैसे ही अटपटा लगता है और अनुभव करता है जैसे गाँव में टेलीविजन पर होना भरतनाट्यम।

नम्बर तीन शहरीकरण, मशीनीकरण और आधुनिक शिक्षा लोक-कला के लिए घातक है और लोक कला एक जाती हुई बहार है जिसके दिन बस इने गिने ही समझिए।

तो क्या 'लोक" का अर्थ है ग्रामीण विशेषतः कृषक जन और क्या 'लोक-कला" केवल गाँव की चीज है—शहर की लोक कला न थी न होगी और वह लोक-कला, शहरीकरण और शिक्षा के व्यूह में फँसकर, दम तोड़ देगी—कोई नया रूप धरकर जीवित नहीं रहेगी ?

और इसी तरह, लोक-कला के भूतकाल में जायें तो कब और कैसे हुआ उसका जन्म ? क्या वह आदिम या प्रिमिटिव और आदिवासी या ट्राइबल कला से एकदम भिन्न है ? क्या अब विलुप्त या भ्रष्ट हो जाने के खतरे झेलती लोक कला सतत प्रवाहमान नहीं रही है, धीरे धीरे करके बनी बदली-बढ़ी नहीं है और ऐसी परिस्थितियों से पहले भी सफलतापूर्वक जूझ नहीं चुकी है ?

इन सवालों के जवाब आसान नहीं है। मैं अपने मन का चोर आपके सामने रखूँ, लोककला के मामले में मैं परम्परावादी हूँ। मुझे उसके साथ छेड़छाड़ अच्छी नहीं लगती और पारम्परिक अर्थों वाली लोककला की जगह लेने वाली उतनी गहरी, उतनी सच्ची लोक के लिए लोक की, लोक के द्वारा की गई परिभाषा पर उतनी खरी उतरने वाली, जिस मिट्टी में वह जन्मी है उसकी उतनी सोंधी गंध रखने वाली और उतनी व्यापक कोई कलाचेष्टा मुझे उभरकर आती नहीं दीखती, न गाँवों में न शहरों में।

लेकिन जरूरी नहीं है कि आप मेरे यथास्थितिवाद और जो हो रहा है उसके प्रति नैराश्यभाव को लाजिमी या सही मानकर चलें।

मनुष्य बदलता है लेकिन फिर भी मनुष्य रहता है। इसी तरह, विद्वानों का कहना है कि आम आदमी के अर्थों में 'लोक' और इन आम आदमियों की सहज कलात्मक अभिव्यक्ति के अर्थों में 'लोक-कला' भी सनातन है भले ही उसके रूप आकार और आलम्बन बदलते रहें। इस विचारधारा के अनुसार, लोक-कला को आदिम और शहरी भद्र लोक के बीच की, गाँव के अनपढ़ कृषकों की कला मानने की 19वीं शती की प्रवृत्ति दकियानूसी और गलत है। ऐसे ही एक विद्वान् एलन डंडेस ने अपने लेख हू आर दी फोक अर्थात लोक समुदाय कौन बनाते हैं में एक सहज प्रवृत्ति अर्थात प्रचलित मज़ाकों या हास्य-कथाओं का उदाहरण देते हुए स्थापित किया है कि विभिन्न लोक समुदाय अब भी है। ये समुदाय पेशे धर्म रिश्ते निवास-स्थान, रुचि के आधार पर गठित है। मशीनीकरण और शहरीकरण

लाक जीवन और कला को समाप्त नही कर रहे बल्कि उनके सचरण का और द्रुतगामी बना रहे हैं।

इस दृष्टि से देखे तो ट्रैक्टर चलाता किसान बल हाँकते किसान से ज्यादा दूर नहीं है घर मे मिक्सी से लस्सी बनाती महिला दही बिलाती दादी है रडियो पर बालकथा सुनाती उदघोषिका परिवार की नानी है, ट्रक पर मवेशी ढाता ड्राइवर पुराना बाउत्राय है पाप सगीत लाकगात है, सिनेमा लाकनाट्य है डिस्का नृत्य लोकनत्य ह। पहल बारात के आगे ढोली ढोल-बाँकिय बजात थे, अब बैण्ड फिल्मी या लोकगीता की धुने बजाते ह। पहले घाघर वाली पातुरें थी, अब तग पतलूना वाले लडके भागडा टाईप डिस्को करते है।

इसी तरह पीछे जायें तो आदिम जातिया की कला उस जमान की लाक-कला थी। आदिवासिया की कला उनकी लाक कला ह। लाक कला वह सहज, सतत जीवन्त, हर युग के हर परिवेश के हर अचल के आम आदमी की कला है जो विशेषज्ञो की शास्त्रीय और सीखी पढाई व्याकरण-सम्मत और नियमबद्ध कला से इतर है।

इस दष्टि से दखें तो लोक-कला, कला के विकास के क्रम मे एक सोढी, एक दौर या एक सोपान नहीं ह एक सनातन-समानान्तर प्रवृत्ति है जो बदल बदल कर भी वही की वही रहती है।

## राजस्थानी लोक-सगीत का सग्रह कुछ अनुभव[1]

अनेक वष बीत गए है मुझे राजस्थान के लाकसगीत के सग्रह का काय करत हुए। नोहर भादरा से शाहाबाद तक और किशनगढ वास से गडरा राड तक यह काय करने के अवसर मुझे मिले हैं। राजस्थान के बहुविध लोकगीतो, ख्याल-तमाशो और नृत्या के साथ बजने वाले सगीत के सग्रह के इस अवसर और उपक्रम और उसके नतीजा को मैं अपने जीवन की उपलब्धिया म गिनता हूँ।

राजस्थान की पशेवर सगीत जीवी जातियो के गायक-गायिकाओ की कला की रिकार्डिंग ता काफी होती रही है। मेरा प्रयास रहा है कि आम आदमी की जिन्दगी म घुले मिले गैर पेशेवर सगीत को भी सुनूं और रिकाड करूँ। जाहिर है कि इस प्रकार के सगीत का रिकाड करना ज्यादा कठिन और कष्टसाध्य है

1 आकाशवाणी जोधपुर से 14-7 82 को प्रसारित।

क्याकि पशेवर लोकसगीत को तो आयाजित ढग से भी प्रस्तुत करवाया और सुना जा सकता है लेकिन गैर-पेशेवर लाकसगीत को तो उसक अपने माहौल म, खेत-खलिहानो मे मेलो मे और उत्सवा म ही सुना जा सकता है। अपनी मस्ती म, अपने अदर के आनन्द को प्रकट करते हुए, स्वान्त सुखाय गाते और नृत्य करते, ग्राम आदमियों और स्त्रियो का सगीत ही विशुद्ध लाकसगीत है जिसका सुनन-देखन, रिकार्ड करन और फाटोग्राफ करने का अपना अलग ही आनन्द है।

हाँ, एक बात स्पष्टीकरण के तौर पर अज कर दूँ मेरा ज्यादा जोर लाक-सगीत के साहित्य पक्ष पर नही, उसके सगीत पक्ष पर रहा है। बिना ध्वनि आकलन के लाकगीता क शब्दा मात्र का सकलन काफी हो चुका है लेकिन जैसा "वडरलैण्ड" वाली एलिस ने कहा था—बिना चित्रा के किताब कैसी, कुछ कुछ वैसे ही, मुझे लगता रहा है कि बिना ध्वनि के लाकगीत कैसा। इसीलिए मैं 'लाक-गीतो' क नही, लाकसगीत के सग्रह के बारे म बात करूँगा।

यू तो ग्रामीणा स सुनकर या उनसे बातचीत करके लाकगीता को लिखना भी आसान नही होता। लोक गायक के लिए गीत गाना आसान है, लाकनतक के लिए नाचना आसान है लेकिन गीत या नृत्य क बारे म बात करना, उसके शब्द या मूवमेटस बताना मुश्किल है। आप कुछ पूछिए उत्तर मिलेगा 'आईजै'। 'हालरिया' नामक गीत म वर्षा से हरी होती वसुधरा का उल्लेख है। लेकिन मिट्टीव मियाँ स गीत सुनकर 'बसदरा' स वसुधरा तक पहुँचने मे मुझे खासी मगजपच्ची करनी पडी थी।

कोई सोच सकता है कि टेप रिकार्डर रखने पर तो ऐसी कठिनाइयाँ नही आयेंगी या कम हो जावेंगी। लेकिन ध्वनि आकलन की अपनी समस्याएँ हैं खास-तार पर यदि आप स्तरीय रिकार्डिंग चाहे और उपयुक्त साज सामान का अभाव हो। बारह वष पूव की बात है। मैं अपना बिजली से चलन वाला स्पूल टेपरिका डर लेकर अलवर से निकला रतवई रिकार्ड करने के लिए। श्रीमान हुरमत और श्रीमान ईसरा से भेंट हुई। उन्ह लेकर रात का अलवर सर्किट हाऊस मे लौटा कि कल रिकार्डिंग करेंगे। रात बारह बजे फरमाइश हुई—साहब, बीडी की तलब लग रही है। साहब दोना आदरणीय कलाकारा को लेकर, दानो चौराहो तक हो आये। दुकानें बन्द। कोई बात नही—पत्तो मे काम चला लेंगे। सुबह रिकार्ड करने बैठे तो बिजली गायब। इन्तजार। उधर आदरणीय कलाकारो की बकरियाँ अपन बाडा म व्याकुल हो रही हैं और उन्ह चराने ले जाने का वक्त निकला जा रहा है। हारकर मय सारे लवाजम के वापस उनके गाँव मे गए और बिजली के सब-स्टेशन के पीछे बनी लाईनमन का कोठरी मे 'गूगडी लूगडे टाँगकर स्टूडियो' बनाया और जैसे-तैसे रिकार्डिंग की।

लोकसगीत, लोकजीवन का अभिन्न और नैसर्गिक अग होता है। इसके सब-

श्रेष्ठ उदाहरणो मे से वे बारे है जो खेतो को पानी पिलाते चरस चलाते किसान अवसर गाते है। टाक जिले मे निवाई से जयपुर लौटते हुए बारे टेरते हुए दो कृषको को मैं रिकाड कर सका। लेकिन भीलवाडा जिले के एक गाव मे जब कुछ कृषको को एक जगह बैठाकर बार सुनने का प्रयास किया ता वे कृषक गा नही सके। वही बात कि ग्राम ग्रादमी के सगीत को ग्रायोजन के द्वारा सुनना बडा कठिन होता है।

कठिनाइया ग्रौर भी हो सकती ह। भरतपुर से लाटत हुए एक कुएँ पर पानी पिया। दो वयोवृद्ध कृषक चरस चला रहे थे। लेकिन बारे की फरमाइश पर टका-सा जवाब मिला 'बारा सुनना है ? एक बारे के सौ रुपय लगत हैं।'

ग्रफसर बनकर रुग्राव दिखाकर, ग्रादेश देकर, ग्राम ग्रादमी का सगीत सुनना सम्भव नही है। इसका सुनन ग्रौर सग्रहीत करने के लिए ता ग्राम ग्रादमी ही बनना होता है। ग्रभी हाल मे सवाई माधोपुर जिले के खुर्रा गाव मे एक मेले मे मैं गया। मुझे ग्रधिकृत तौर पर बताया गया कि सुधारवादियो ने इस मले मे नाचना गाना बन्द करवा दिया है। काई नाचे गाय तो जाति पचायत पचास से सौ रुपये का जुर्माना करती ह। मैं मले म घूमा। कुछ नवयुवको से मित्रता की। उन्हे रिकाड किया। थाडा माडा नत्य भी हुग्रा जो फाटाग्राफ किया। सम्भव नही है की सूचना दने वाले ग्रधिकारी मित्र ग्राश्चय-चकित हुए।

इसी तरह का वाकया दिल्ली से ग्रलवर ग्रात हुए एक बार घटा। मुझे कुछ मेव बालक मिले। बात की। फाटा खीची। "पली बजाना ग्राता है' पूछा उत्तर मिला—हम तो पढन जाते हैं ग्रौर पढाई ग्रौर पली का क्या साथ'। ग्रागे बढे। कुछ ग्रौर बालक मिले। उन्हे लेकर सडक के किनार बैठा। लगभग एक घटे तक उन बालका न रतवई ग्रौर ग्रन्य गीत सुनाये। यह रिकार्डिग मर सग्रह की सबसे मलयवान रिकार्डिग्ज मे से एक है।

बीच के इतजामिया लोगो का ग्रसली लोकसगीत से परिचय ग्रौर उनकी नजरो मे उसका मोल इतना कम होता है कि वे ग्रपने उत्साह म ग्रक्सर गुड-गाबर कर देते है। जब मैं पहली बार रामनगर बूदी गया ता ऐसा ही हुग्रा। थानेदार साहब से निवेदन किया गया था। थोडी देर मे क्या देखत ह कि बराता म जसा पचमेल बैंड बजता है वह चला ग्रा रहा है। माहान विलाकुव्वत। बडी मुश्किल से माहोल बदलकर वहा उपस्थित दो वद्ध महिलाग्रो से कुछ विशुद्ध पारम्परिक देख सुन पाए। दुबारा जब मैं गया ता सीधे बस्ती मे जाकर बैठा ग्रौर कुछ प्राप्त कर सका। बाद मे पण्डेर की कजर बस्ती की महिलाग्रा न भी मुझे ढेर सारे गीत रिकाड करवाए।

ग्राम तौर पर ग्रादिवासियो के सगीत का रिकाड करना सबस ग्रासान हाता है। वे इतने सहज ग्रौर खुले दिल के होने हैं कि बाहर के व्यक्ति की उपस्थिति

उन्हें विचलित नहीं करती। लेकिन नाजुक परिस्थितियाँ वहां भी बन सकती हैं। अलीराजपुर के दक्षिण मे एक गाव में भिलाला के नृत्य संगीत का आयोजन रखा गया था। एक नृत्य में एक ऐसा व्यक्ति आकर महिलाओं के साथ नाचने लगा जिसे शेष लोग नहीं चाहते थे। देखते देखते भृकुटियाँ तनी और तीर-कमान। बात-बात में खून-खराबा होने वाला इलाका। बडी देर तक एक 'घा' ऊपर और दूसरी नीचे अटकी रही। राम राम करके शान्ति हुई और थापें सिरों पर न पडकर ढोलों पर ही पडी।

पेशेवर लोकगायकों का शुल्क चुकाकर उन्हें सुनना अपेक्षाकृत आसान है। यह बात दूसरी है कि उनमें से बहुत से अपने पारम्परिक धन्धे को छोडते जा रहे है क्योंकि उसमें इज्जत और पैसा दोनों नहीं हैं। बेगेश्वर के मले में कुछ गलालेंग गाने वाले जोगियों को मैंने बुलाया। गाने के नाम पर बोले—साहब हमने भीख मागना छोड दिया है। गाने और भीख मागने और समाज मे उसके नीचे स्थान के इस गठबन्धन से बडा नुकसान हो रहा है। बडी मुश्किल से उन्हें समझा पाया कि भीख मागना बुरा है लेकिन गाने मे क्या बुराई है जो उसे छोडते हो।

लोकगीत और लोकसंगीत संग्रह का काम काफी अनिश्चित नतीजा वाला और कभी-कभी जोखिम से भरा होता है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के बारे मे मशहूर है कि एक बार वे एक झोपडी के बाहर दुबके हुए चक्की पीसती हुई महिला के गाये गीत नोट कर रहे थे। उधर से गुजरते हुए कुछ लोगों ने सुबह के धुंधलके मे उन्हें देखा और चोर समझ लिया। कल्पना कीजिए—बेचारे पडित जी, लाठियाँ ताने क्रुद्ध ग्रामीणों को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि उनके इरादे नेक हैं और वे बच्चरवानियो के गीत नोट करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है।

लाठियाँ नहीं पत्थर खाने की नौबत तो मेरे साथ भी आ चुकी है। कोटा जिले के एक गाँव मे कजरों के गीत सुनने का कार्यक्रम था। रास्ते मे देर हो गई और इकट्ठे किये हुए लोग बिखर गए। जब वे वापस लौटे तब तक अपना रात्रि-कालीन आवश्यक कर्म कर चुके थे। कुछ उसका असर कुछ ऐसे अवसरों पर सदा ही बना रहने वाला संशय—ये लोग क्या आये हैं—सिर्फ गीत ही सुनना है या असली इरादा कुछ और है—जो भी हो थोडी ही देर मे हमारी ओर कंकरों—पत्थरों की बौछार शुरू हो गई। उस दिन के 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' का यूं असमय अनियोजित, समापन हुआ।

स्वयं मे ग्रामीण महिलायें ऐसे आयोजनों मे एक बार झिझक खुल जाने और आश्वस्त हो जाने पर बडी मददगार साबित होती है और उत्साहपूर्वक गाती चली जाती हैं। लेकिन सम्बन्धित पुरुषवर्गों की शकायें, सामाजिक प्रतिष्ठा सम्बन्धी मान्यतायें और कभी कभी, उनकी वणिक वृत्ति इसमे बाधक होते हैं। अजमेर मे

एक बार गाडोलिया लौहार स्त्रियों के गीत मैंने रिकार्ड किए। चलते समय तक कुछ पुरुष आ गए। एक हल्ला उठा—अरे गीत रिकार्ड कर लिए रे—कुछ-कुछ इस अंदाज में कि रोको, चोरी करके माल लिए जाते हैं। फिर वही जो होता आया है भाव ताव, लेन-देन।

लोकसंगीत के संग्रह के सिलसिले में नारी मनोविज्ञान का एक सर्वथा अप्रत्याशित पक्ष भी एक बार मुझे देखने को मिला। मैं शाहाबाद क्षेत्र के एक गांव में सहरियों के गीत रिकार्ड कर रहा था। कूंडी, ढोलक, मंजीरे के साथ सहरिये मस्ती में गा बजा रहे थे। अलाव जल रहा था। पतले सरकंडे जैसी एक घास मशाला का काम कर रही थी। रिकार्ड किया हुआ संगीत सुनते हुए अलाव के उस ओर खडी एक सहरिया स्त्री एकाएक उच्च स्वर में प्रलाप करने लगी। भगवान जाने उसने हमें डाक्टर समझा या और कुछ, उसका तीव्र उद्विग्न स्वर सारे वातावरण पर छा गया। स्त्री को उसके पास पड़ोसियों और रिश्तेदारों ने पकड़ा—आई हुई प्रेतबाधा को उतारने के लिए मिर्चों का धुआं किया। एक-हल्ले के बीच हमने वो बस्ती छोड़ी। कुपोषण और शोषण की मार सहती हिस्टीरिया ग्रस्त उस नारी के प्रति हमारे मनों में भारी करुणा थी। अक्सर होता है—कुछ लोगों से गीत सुनना अन्याय लगता है। स्वार्थ का काम लगता है—'डाइंग डिक्लेरेशन लेने की उतावली जैसा। लेकिन तब मैं मन को समझाता हूं—आज इनके पास रोटी नहीं है लेकिन फिर भी इनके होठों पर गीत और पावों में थिरकन है। कल शायद पेट में रोटी हो लेकिन इनके गीत और इनके नृत्य समाप्त हो जायेंगे। इसलिए इनको रोटी मिले इस उद्यम में लगे रहो लेकिन उसे भी रिकार्ड कर रखो जो देखते देखते जा रहा है खत्म हो रहा है, या वर्णसंकर बनकर अपना सुनने लायक होने का गुण खोता जा रहा है।

## लोक-कलाओं के अलमबरदार कौन ?

लोककलाओं को लेकर बड़ा घपला चला रहा है इन दिनों। लोक संस्कृति एक बिल्ला बन गई है जिसे हर कोई लगाना चाहता है जिसे हर कोई ड्राइंगरूम में प्रसाधन के रूप में प्रदर्शित करना चाहता है। यह कोशिश भी दो रूप रखती है। एक ओर तो वे ढेर सारी प्रदर्शनात्मक मुद्रायें हैं जिनके पीछे महज़ फैशन या अपटुडेट होने की होड़ है। दूसरी ओर शहरी जिन्दगी और उसके तनावों से ग्रस्त मानवों की खोज है किसी ऐसी चीज के लिए जो जमीन से जुड़ी हुई हो, जिसमें

जिन्दगी की खुशबू हो।

खेद का विषय यह है कि नजरिया चाहे जो हो, मतव्य चाहे जो हो लोककला हमारी जिन्दगी का जुज कम बन पाती है मुखौटा ज्यादा। कभी मधुवनी का हल्ला मचता है, कभी बन्धेज का, कभी लोकगीत का, कभी लोकनृत्य का। परन्तु हश्र वही होता है—लोककला अपने अजस्र स्रोत और सतत प्रवाह से कटकर ड्राइंग-रूम मे रखा हुआ एक कैक्टस का पौधा बन जाती है।

दूसरी ओर यह भी तय है कि अगले सौ पचास साला मे लोककलायें यदि बचनी हैं तो उनका थोडा बहुत रूपान्तरकरण जरूरी है। गावो मे आज कितने नवयुवक और नवयुवतियाँ लोककलाओ मे निष्णात हैं या उनमे रुचि रखते हैं? बुरे के लिए हो या भले के लिए आने वाले दिनो मे लोककलाओं के अलमबरदार यही शहरी शौकीन या शहरी होते जाने की प्रक्रिया मे से गुजरते ग्रामवासी रहेंगे। इस स्थिति मे लोककलाओ के सरक्षण सवर्धन की दृष्टि से हमारी क्या नीति हो, शहरी अभिजात्य और लोककला की सहजता में तालमेल किस प्रकार बैठाया जाये, लोककला की परम्परानुगतता और आधुनिकता के अनेकानेक आग्रहो के बीच मिलनबिन्दु कहाँ खोजा जाय?

लोकगीतो और लोकनृत्यो को ज्यो का त्यो छोड दीजिये तो वे जहा के तहाँ अपने दिन पूरे करके भूतकाल की चीजें बन जायेंगे। नल आया तो पनघट कहाँ रहेगा और पनघट के गीत कहाँ रहेंगे? आटे की चक्की की खुक खुक चलेगी तो चक्की के गीत कहाँ रहेगे? सन्नारियाँ पस्ट शो और सैकड शो की बुकिंग-विन्डो मे रहेंगी तो कई कई रातो तक गणगौर कौन गायेगा घूमर कौन नाचेगा? इन चीजो को ध्यान मे रखने के लिए उन्हे मच पर और रेडियो पर लाना ही होगा।

लोकगीतो के गायक-श्रोता कौन हैं? आधुनिकीकरण के आग्रह मे लोकगीतो के गायन प्रस्तुतीकरण म क्या परिवर्तन आए हैं और यह तथाकथित 'सस्कार' कहाँ तक वाछनीय है? क्या लोकगीतो की निर्माण प्रक्रिया म अवरोध आया है और यदि हाँ तो नये 'लोकगीत' रचकर इस खमियाजे को पूरा करने का प्रयास कहाँ तक श्लाघ्य और सार्थक है?

लोकगीतो के वर्गीकरण-सम्बन्धी धारणाएं लगभग उतनी ही हैं जितने इस विषय-सम्बन्धी विद्वान। मूल रूप से अन्तर गीतो की विषयवस्तु, गाने के अवसर और परिवेश या फिर उनके गायको का निर्णायक तत्त्व मानने का है। अपने उद्देश्य के लिए यहाँ हम लोकगायन को पेशेवर अथवा व्यावसायिक और गैर-व्यावसायिक इन दो श्रेणियों म बाँट सकते हैं। निश्चय ही एक ही गीत अक्सर दोनो प्रकार से बरता जाता हुआ भी मिलता है। मसलन विदायक, विदा, जला आदि घर की स्त्रियाँ भी मिलकर गाती हैं और थोडे बहुत प्रकार भेद और अपेक्षाकृत अधिक

समुन्नत तकनीक के साथ, मांगलिक ग्रवसरो पर घर घर जाकर गाने वाली व्यावसायिक गायिकायें भी। इसी प्रकार मूल धुन एक-सी होते हुए भी विभिन्न पेशेवर जातियो द्वारा उसकी विभिन्न ग्रदायगियाँ देखने को मिलती हैं जिसके पीछे ग्रक्सर उनके द्वारा प्रयुक्त वाद्यो की प्रकृति का हाथ होता है। उदाहरणार्थ पणिहारी कालबेलिये भी गाते हैं और ढोली जाति की कुछ जानी मानी गायिकायें भी।

ग्रसल मे पशेवर गायक भी दा पकार के हैं। एक ता वे जा राजदरबारो ग्रौर महफिला मे ग्रौर रेडियो मे गाते रहे ह, जैसे माड के विशेषज्ञ ग्रौर दूसरे वे जा ग्राम जनता के लिए गाते रहते हैं। पहली प्रकार के गायको की कला म एक प्रकार का परिमाजन ग्रौर उस कला के प्रति ग्रात्मचेतना दीख पडती है। वे हारमोनियम, तबला, सारगी इत्यादि की सगत के ग्रादी है। दूसरी प्रकार के पशेवर गायका मे नैसर्गिकता ग्रधिक रही है उनकी ग्रार्थिक स्थिति कमोबेश कमजार रही है ग्रौर उनका गायन ग्रौर उनके वाद्य दोनो परम्परागत रहे ह।

लेकिन ऐसा नही कि जनजीवन म सगीत तत्त्व की ग्रापूर्ति का काम पूरी तरह पेशेवरो के ही जिम्मे डाल दिया गया हो। मागलिक ग्रवसरा ग्रौर त्यौहारो पर खेतो म काम करते समय ग्रौर भजन कीतन के मौको पर ग्राम स्त्री पुरुष मिल-जुलकर गाते ग्राए हैं। यह हमारी ग्राधुनिकता का ही ग्रभिशाप ह कि सामाजिक गायन का लाप होता जा रहा है ग्रौर सगीत हमारी जिन्दगियो का एक सक्रिय ग्रौर जीवन्त घटक होने के स्थान पर बैकग्राउण्ड म्यूजिक मात्र होता जा रहा है।

ग्रस्तु ग्राज एक ग्रार तो बढती हुई उदासीनता ग्रौर घटत हुए प्रश्रय ने परम्परागत गायन के सम्मुख जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित कर दिया है दूसरी ग्रार लाकगायको ग्रौर उनके श्रोताग्रो का चकित भ्रमित ग्रौर ग्रतत दिशाभ्रष्ट कर देने की क्षमता रखने वाला एक प्रकार का वणसकर समानान्तर लाकगीत चल पडा है। सिनमा की जो भूमिका इस दुतरफा मार मे रही है उसे सब जानते ह।

कहना न होगा कि लोकगायन के लिए भले के लिए हो या बुरे के रेडियो ग्राज सबस सशक्त ग्रौर प्रभावशाली माध्यम बन चुका है ग्रौर जो रेडिया से प्रसारित होता है वह जनसाधारण के लोकगीतो-सम्बन्धी बोध के निर्माण म महज ही एक निर्णायक राल ग्रदा करने लगता है। ग्राज रेडियो से पारम्परिक लोक कलाकार तो गाते ही हैं लेकिन उनके साथ साथ एक नया गायक-वग ग्रा जुडा है जा लोकगायन को खालाजी का घर समझता है जिसकी लाकगीतो मे पैठ ग्रौर उनके प्रति दष्टिकोण, कुछ ग्रपवादा का छोडते हुए दानो सन्देह म पर नही हे। यह गायक-वग इधर उधर से सुन-सुनाकर लोकगीत सीख लेता है ग्रौर फिर तमाम गैर पारम्परिक सगतवाद्यो के सरजाम के साथ ग्रपनी समझ मे लाकगीता को

अतिरिक्त मधुरता और परिष्कार प्रदान करते हुए गा देता है। यदि इस वग के गायक म शास्त्रीय सगीत या गजल गायकी के सस्कार हुए तो वह लाकगीता मे भी अपनी विशिष्ट हरकत मुरकिया डालता चलता है। पारम्परिक लाकवाद्या का या ता इस गायक का ज्ञान नही हाता या फिर अनुपलब्धि की मजबूरी या फैशन के आग्रह मे वह अपने साथ लाकगायन की परम्परा के बाहर के वाद्या की सगत करवाता है और इन सगतिया का लाकगायन का उतना भी मकूर नही हाता जितना स्वय गायक का। वही, अथ द्वारा अर्थ या मागदशन किए जाने वाली बात।

लकिन इस प्रीति का एक और भी दूरगामी परिणाम यह हाता है कि परम्परागत लाकगायक व विशेषकर भी, या ता हीनता की भावना के वशीभूत होकर या फिर इसका प्रगतिशीलता की निशानी समझते हुए इन्ही सब नटकों खटका को अपनाने लगते हैं यानी परम्परागत गायकी म मिलावट, परम्परागत वाद्या की अवहेलना और हरफनमौला बनकर दसरी नगरी जातिया के गीत और गायन शलिया म महारत का प्रदशन।

यदि मेरे द्वारा इस सदभ म परम्परा शब्द के बार बार प्रयोग पर किसी को आपत्ति हा तो कहना हागा कि परम्परा के अभाव म लाकगीता की कल्पना मात्र असम्भव है। लाकगीत से मिलती जुलती कोई चीज, फिर चाह वह 'मेरे म साई गुजरिया' हा या 'साहब जी जयपुर म् आया मात्र इस ऊपरी साम्य और प्रसारित-प्रचारित हान के बल पर लाकगीत नही बन जाता जब तक कि वह लोक की रचना प्रक्रिया से स्वत उदभूत हाकर, लोक की कला चेतना मे दूध-शक्कर की भाति घुल मिल नही जाता। इसीलिए लोकगीता के सस्कार की वत्ति की सहगामिनी, लाकगीता के भण्डार म कृत्रिम और आरोपित वृद्धि करने की यह दूसरी वत्ति भी न तो शुभ है न साथक। यदि हमार लोक-जीवन मे जीवन-तत्त्व और ऊर्जा शेष है तो लाकसाहित्य और लोक सगीत की धारायें भी गतिशील रहगी वर्ना हमारे लाख चाहे और किये इस 'आर्टिफिशल रसपिरशन' स कुछ नही होने वाला। उल्टे इस प्रवृत्ति के चलते हम सच्चे लाकसगीत की सही पहचान की प्रक्रिया म बाधक बनेंगे और उस कुटिल चक्र जिसके चलते हजारा लाकगीत और सकडा लोकवाद्य विस्मति और अप्रचलन के गत मे जा रहे हैं म एक और ताडी या आरा जोड देंगे।

मैंने यह सब हाते देखा है लोकगायका की व्यथा और विकल्पविमूढता का अनुभव किया है और इसलिए सम्पूर्ण विनय लेकिन पूरे जार के साथ मैं आकाश वाणी के विचाराथ निम्न सुझाव रखना चाहूँगा—

(अ) केवल अधिकारी व्यक्तियो का लाकगीत गाने की इजाजत दी जावे। सिर्फ शब्द और सुर से लाकगीत नही बनता। उसका गान का विशिष्ट और

पारम्परिक लहजा या खटका जब तक गले में बैठा हुआ न हो तब तक लोकगीत *गाना एक वैसी ही अनधिकार चेष्टा है जैसे बिना पर्याप्त सुर ज्ञान के शास्त्रीय* संगीत गाना।

(ब) केवल पुराने टेपों और चले आ रहे रेडियो आर्टिस्टस पर निर्भर न रहकर 'टेलेंट हंटिंग' का कार्य निरन्तर और नये नये क्षेत्रों में चलना चाहिए।

(स) जिन संस्थाओं (जैसे संगीत नाटक अकादमी) के पास लोकसंगीत की सैकड़ों घण्टों की रिकार्डिंग्ज उपलब्ध है उनको प्रसारित करने के प्रबन्ध गायकों के हितों को ध्यान में रखते हुए, किया जाये।

(द) लोकगीतों के साथ परम्परा से इतर वाद्यों का वादन तुरन्त बन्द किया जाये। विशिष्ट लोकगायकियों की आधी जान इन परम्परागत लोकवाद्यों में ही निहित है।

(य) लोकगीतों और राजस्थानी गीतों का हमेशा अलग अलग प्रसारित किया जाये, एक साथ नहीं वरना कालान्तर में इसका भेद एक कृत्रिम तरीके से मिट जाने की सम्भावना है। राजस्थानी गीतों के सर्जकों और संगीतकारों के नाम बराबर घोषित किये जायें।

(र) लोकगीत को सिर्फ चलताऊ ढंग से बजा देने के स्थान पर उसके क्षेत्र, गायक जाति विषय वस्तु और गायन के समय या अवसर पर भी प्रकाश डाला जाय। विशिष्ट गायक-जातियों, उनके गीतों वाद्यों और गायन प्रणालियों के बारे में विशेष कार्यक्रम तैयार करके प्रसारित किये जायें।

(ल) राजस्थानी ख्यालों, रम्मतों, लोकनाट्यों इत्यादि को उनके पारम्परिक प्रस्तोताओं से खिलवाया जाकर क्रमिक रूप से उनके टेप प्रसारित किये जायें।

लेकिन आकाशवाणी के कर्त्तव्य गिना देने मात्र से काम नहीं चलेगा। जरूरी है कि श्रोता भी सजग हों और लोकगीतों के तथाकथित परिशोधित लेकिन वास्तव में अप्रामाणिक और कुल जात स्वरूप विहीन मैकेनी संस्करणों से दिग्भ्रमित न होकर लोकगीतों के अनलंकृत शाश्वत सौन्दर्य, उनकी अनूठी अन्तर्जात जीवन्तता उनमें बसी हुई धरती की बास और दिल की बात सीधे सीधे दिल से कहने के गुण से दो चार हों। लोककलाओं के लिए इस संकट और संक्रमण की घड़ी में यह कर्त्तव्य एक पवित्र और आवश्यक दायित्व बनकर हमारे सामने आता है।

आम शहरी दृष्टिकोण से आज लोककलाओं के बाबत किसी गम्भीर दृष्टि या चिन्तन की आशा करना दुराशा मात्र है। वहाँ हमको या तो अज्ञान मिलता है या फिर तटस्थता। सब चलता है क्या व्यर्थ लोककला लोककला की रट लगाये हो या फिर एक सतही उपभोग या एक्सप्लाइटेशन की आकांक्षा, मसलन फिल्मी संगीतकारों को धुनों की कमी पड़ी तो लोकसंगीत से उधार ले ली, नृत्यकार ने लोकनृत्य की कुछ भंगिमायें अपने नृत्यनाट्य में डाल ली, फैशन निर्धारित करने

वालों ने किसी लोककला को वेश विन्यास या सजावट में ढाल लिया।

उधर, गाँवों में, स्वयं लोककला जहाँ उपजती, परवान चढ़ती रही है—वहाँ क्या हाल है ? गाँव बदल रहा है और इस प्रक्रिया का एक शिकार पारम्परिक लोककलायें भी हो रही हैं। लोककला गमले में लगने वाला पौधा नहीं है। उसके मूल में एक पूरी-की पूरी जीवन पद्धति, पूरा-का पूरा जीवन-दर्शन और पूरा का पूरा सामाजिक ढाँचा रहा है। लोककला के यह सारे मूलाधार ढह रहे हैं। बिना पढ़ा लिखा आदिवासी खुद ब-खुद नृत्य में शामिल हो जाता है। पढ़े लिखे को कई बार कहना पड़ता है और फिर भी वह ऐसा भाव दिखाता है मानो कोई छोटा, पिछड़ेपन का काम कर रहा हो। लोककलाकार स्वयं आत्मविश्वास खो बैठा है। वह यजमान को रिझाने के लिए, और यदि उसको शहर की हवा लग चुकी है, तो यजमान को बेवकूफ बनाने के लिए कुछ करतब करना चाहता है। पारम्परिक वाद्ययन्त्रों को छोड़कर वह सौ मुसीबतों का इलाज पेटी यानी हारमोनियम को अपनाता है। फिल्मी तर्जों पर गीत बनाता है साथ में बैंजो बजवाता है—वगैरह-वगैरह।

यहाँ आकर कुछ सवाल उठते हैं इस सबमें बुरा क्या है ? बुरा है भी तो क्या इस प्रक्रिया को आप रोक सकते हैं ? यदि पूरी तरह रोक नहीं सकते तो क्या सीमित दायरे में ही सही कुछ किया जा सकता है ?

एक संगोष्ठी में एक वक्ता ने कहा कि लोककला फैशन में आती है तो भी क्या बुरा है उसका प्रसार तो होता है। दूसरे का मत था कि आप इस शुद्धता पर इतना बल क्यों देते हो ? यदि मिश्रण से कुछ चीज बनती है, सुनने देखने वाले को अच्छी लगती है तो उसमें आपको क्या ऐतराज है ?

अब यह तो निश्चित ही है कि सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में जो व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं उनसे हम लोककलाओं को अपने डैनों के नीचे दबाकर पूर्णरूप से अप्रभावित नहीं रख सकते। एक ओर लोककलाकार असुरक्षित रह जायेगा तो दूसरी ओर वह दिल्ली न्यूयार्क भी पहुँचेगा। एक ओर यदि स्वयं गाँव में लोककला उपेक्षित रह जायेगी तो दूसरी ओर वही सजावट का सामान, फिल्मी गाना और परिधान का अंग बनकर देश विदेश में फलेगी, हजारों-लाखों कमायेगी। उदयपुर में हमने देखा, गुजरात के एक दल ने गोरबन्द सीखा काफी हेरफेर के साथ उसे पेश किया। दल की नेता के अनुसार गोरबन्द उन्होंने लिटिल बैले ट्रुप को सिखाया जिसे उसके प्रदर्शन पर मैक्सिको में प्रथम पुरस्कार मिला। अब मैक्सिको वालों ने उसे जिस रूप में लिया होगा क्या उस पर कोई रोक लगाई जा सकती है ? जब समस्त मानव जीवन उसके सारे मूल्य संक्रमण और व्यापक आदान प्रदान के दौर में हैं तो लोककलाओं को ही फ्रिज में बन्द करके कैसे रखा जा सकता है ?

लेकिन अवश्यभावी की सत्ता को न नकारते हुए भी बहुत कुछ करने लायक रह जाता है—सवसाधारण, लाकक्लाओ के विद्वानो हितचितको और राजकीय सस्थानो तीना के लिए। लुप्त होत जाते पशु पक्षियो का सरक्षण देने का महत्त्व हम स्वीकारते हैं क्या लुप्त हाती या अपना सही स्वरूप खोकर स्वय अपना विद्रूप बनती जाती लोककलाओ के प्रति हमारा कोई दायित्व नही है ?

अत जरूरी है कि आकाशवाणी लाकगीतो का उनके सही स्वरूप मे ही पेश करे। जरूरी है कि ध्वनिमुद्रण (टेपरिकार्डिंग) का काय व्यापक पैमाने पर किया जाय। जरूरी है कि लोकक्लाकारो को उनके परम्परागत मन के प्रति आश्वस्त किया जाये और भेडचाल मे न पडने की राय दी जाये। जरूरी है कि जहा जान बूझकर लोककला का स्वरूप विगाडकर अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति दीख पडे, उसका विरोध किया जाये। जरूरी है कि पाठयक्रमा मे, स्कूल के आयोजनो मे लाकक्लाओ का समावश किया जाये। जरूरी है कि हम विवाहा और दूसरे उत्सवो-त्योहारो के अवसरो पर लाकक्लाकारा के कायक्रमा का आयाजन करायें और उनके लिए नये यजमान बनें।

काम दुष्कर है। खासतौर पर सब चलता है और जिससे जैसे भी हो मके, फायदा उठा लो की मनावत्ति के चलते। लेकिन क्या इसको असाध्य मानकर हाथ पर हाथ धरकर, वो दखा कुछ भस्म हो रहा है की दाशनिक मुद्रा अपनाकर बैठ जाना श्रेयस्कर हागा ?

## राजस्थानी लोकवाद्य और उनसे जुडा समाज[1]

श्रोता मित्रो, यह वार्ता वडी आसानी से राजस्थानी वाद्य-यन्त्रा का एक कैटेलॉग, एक सूचीपत्र बन सकती है। मैं काशिश करूंगा कि एसा न हा। सगीत एक जीवन्त विधा है। लाकसगीत ता जीवन के और भी नजदीक है। वह बोलन और वार्तालाप की तरह स्वाभाविक और सहज है। कह सकत हैं कि लाकसगीत लयबद्ध भाषा या वार्तालाप अथवा एकालाप है और लाकनृत्य तालबद्ध चलना है। और जैसे हम भाषा को मुहावरो और वाक्चातुय स सवारत हैं वैसे ही लाकसगीत और लोकनत्य को सवारन के लिए, उसके वाहक और सम्बल बनन के लिए लोकवाद्य हैं। ये लाकवाद्य सरल और सीधे-साद भी हैं जटिल और अपभा-

1 आकाशवाणी जोधपुर, 15-3 82

कृत परिष्कृत और उसी अनुपात मे, अधिक क्षमता और रेंज वाले भी। आमतौर पर आम आदमी द्वारा व्यवहार म लाए जाने वाले वाद्य अपनी रचना और वादन प्रक्रिया म सरल होते है और पेशेवर लोक-संगीतज्ञ जातियो के वाद्य अपेक्षाकृत, दोनों ही दृष्टियो से, अधिक जटिल और वादन म अधिक लाघव और रियाज़ की दरकार रखते हैं।

इसी प्रकार कुछ वाद्य मूलत गायन की सगत के लिए होते हैं हालांकि उनका एकल वादन भी सम्भव होता है जबकि कुछ वाद्य मूलत स्वतन्त्र वादन के लिए होते हैं। लेकिन सामान्य तौर पर, ज्यादातर लोकवाद्य सगीत अथवा नृत्य के साथ ही काम म लिये जाते हैं। कुल मिलाकर, वाद्यो का स्वतन्त्र वादन एक प्रकार का शास्त्रीय परिष्कार व परम्परा है।

इस सामान्य परिप्रेक्ष्य म, आइए, कोशिश करें, राजस्थान के लोकवाद्यो की विविधता, लोकसगीत और सामाजिक जीवन मे उनके स्थान और महत्त्व और उनसे जुडी हुई कुछ विशिष्ट पेशेवर जातियो के विवरण को एक सक्षिप्त कलेवर म समेटने को।

राजस्थानी लोकवाद्यो से मेरा परिचय काफी पुराना है। लेकिन वह सन 1976 था जब एक मोदाहरण वार्ता के लिए मन पहली बार यहाँ के लोकवाद्यो के वादन के नमूनों को एकसाथ एक जगह रखने का प्रयास किया। आप विश्वास कर कि विविधता के जो आश्चर्य म डालने वाले आयाम उस समय मुझ पर उद्घाटित हुए उन्ह बयान करना आसान नहीं है और यह भाव आज भी जीवित है। किसी क लिए गर लिये भी, यह कहना कठिन है कि उसने राजस्थान के सभी अचलो के सभी लोकवाद्यो और उनकी क्षमता व प्रयोग का परिचय पा लिया है। अभी उस दिन एक मागसियार कलाकार सुरमण्डल बजाता हुआ और उसकी सगत के लिए लगभग वैसा ही उपयोग करते हुए मिला जैसा सिन्ध म बँजो का होता रहा है। गोगामेडी के मेले मे एक साधु महाराज नागफनी के साथ मिले जबकि म सोचता था कि यह वाद्य अब केवल सग्रहालयो की शोभा है। किसी ने सूचना दी है कि बाडमेर मे धनुष के प्रकार के एक वाद्ययन्त्र क साथ मिरासी एक नृत्य करते हैं। अनन्त है यह खोज, असीमित है इस पथ की सम्भावनाएँ। जरूरत है कि हम अपनी सास्कृतिक जमीन और लोकसगीत और लोक-वाद्यो जो उस जमीन की हरीतिमा उसके फूल-पौधे हैं से और नजदीक और सचेष्ट होकर जुडें।

आमतौर पर लोकवाद्यो बल्कि सभी प्रकार के वाद्यो को चार श्रेणियो मे बाँटा जाता है। रावणहत्था, सारगी, चौतारा तथा कामायचा जैसे ततवाद्य जिनमे धातु अथवा तान्त के तार होते हैं व जो गज अथवा उँगलियो या मिजराब से बजाय जाते हैं, बासुरी, पेली, पूगी, अलगोजा, सतारा और नड सरीखे सुषिर

वाद्य जिन्हें फूंक से बजाया जाता है ढोल ढोलक डरूँ जैस
मढे हुए अवनद्ध वाद्य और छीपिया मजीरा, खड़ताल जैस
तत एव सुषिर वाद्यो का प्रयोग स्वर उत्पन्न करने के लिए
घन वाद्य लय अथवा ताल देने के लिए काम मे आते है।

कुछ लोकवाद्य अवश्य ऐसे है जो इन चार के अलावा वग
हैं। उदाहरण के लिए भपग मे चमड़े के मढाव के बीच स
निकलती है उसे बजाया जाता है। इसमे तत और अवनद्ध द
श्रीमण्डल मे अलग अलग घण्ट अलग-अलग स्वर देते है यानी घ
वाद्यो के मिले जुले गुण। मोरचग और घोरालियो मे बास य
तत वाद्य के तार का काम करती है, सुषिर वाद्य की तरह फूँक
काम करता है जबकि इन वाद्यो को घन वाद्यो मे भी वर्गीकृत कि

लेकिन कुल मिलाकर हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए ऊपर व
काफी हैं। इसी आधार पर आईये, कुछ विस्तार मे जाय।

राजस्थान मे उँगली मिज़राब या गज़ से बजने वाले अनेको तत
हैं। सारगी के ही अनेको प्रकार है यथा सिन्धी गुजरातण प्याले
जोगिया इत्यादि। सुरिन्दा भी एक छोटा सारगी है। मुख्यत यह सभी
पशेवर जातियो के परिष्कृत वाद्य हैं जो लगो मिरासियो और जोगिय
द्वारा व्यवहार मे लाई जाती हैं। इस वाद्य के लिए राजस्थानी लोक म
कीगरी शब्द का इस्तेमाल हुआ है। एक कथागीत मे मनभालिया नामक
वादक डूम है तो उसी के दूसरे रूप मे वह ढाढी है। रात्रि मे लटूरिया ज
सारगी के खूब बजने का भी वर्णन है।

शास्त्रीय सगीत मे प्रमुखता पाने से पहले सारगी अवश्य ही एक लो
रही होगी। भारत मे सगीत के पेशे को मध्यकाल मे हीन दृष्टि से देखा
था। शास्त्रीय सगीत मे भी सारगीवादको को हीन समझा जाता था और उ
गाने का अधिकारी नही माना जाता था। राजस्थान मे भी गायक-जातिय
लिए 'डूम ढाढी' एक बहुप्रचलित ओछा सम्बोधन रहा है।

सारगी और उसके जैसे अधिकाश वाद्य सा पा'—इस स्वर सगति
मिलाय जाते हैं। तरब के तारो को मिलाने के लिए 'सदारग गम्मा और 'खड़
गम्मा'—ये दो विधियाँ प्रचार मे रही है। सदारग गम्मा अधिकाश राग राग-
निया के लिए उपयुक्त बताया जाता है और इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका
आधार शुद्ध सप्तक है। लेकिन लोक-कलाकारो मे इन विषयो पर पूरी एव सव
मान्य जानकारी न होने से इस बारे मे और अध्ययन आवश्यक है।

रावणहत्थ को वायलिन के पूर्ववर्ती और महत्त्वपूर्ण लोकवाद्यो मे माना जाता
है। इसका अधिकतर नायक या थोरी जाति के पास

चोडी तुम्बी का और मागसियारा का प्रमुख वाद्य है। इसके गम्भीर रव का एक कारण यह विशेषता है कि इसम यज्ञ सहायक तारों पर भी घूमता है। चौतारा, तन्दूरा या निसाण, कामड और नायका जैसी पशवर जातियों द्वारा भी बजाया जाता है और सामान्य जन द्वारा भी। यह राजस्थान में भक्ति-सगीत का सब प्रमुख वाद्य है। जन्तर सरस्वती वीणा की तरह दो तूम्ब वाला वाद्य है। तारो पर नीचे स आघात किया जाता है। इसका उपयोग दवनारायणजी की पड़ बाँचन वाले भोप करते हैं। भीलो का दूसरा भपग जगा वाद्य है। डूगरपुर के रावलीया गाने वाले जोगी दो तूम्बा और दो तारो वाला केन्दू बजाते हैं। कामरी और केन्दू दोनों पुरानी किन्नरी वीणा की याद दिलाते हैं।

सुषिर वाद्यो म बाँसुरी का प्रचलन आम है। भील और गरासिय उसका प्रयोग मांडल नृत्य के साथ भी करते हैं। बाँकिया ढाल और थाली या भाचर के साथ, उत्सवो का प्रमुख वाद्य है जो लगभग सारे राजस्थान म सुना जा सकता है। उसको बजाने वाला म सरगडा जाति प्रमुख है। कच्छी घोड़ी और चरी नृत्य के साथ भी बाँकिया बजता है। सबक हाथो म यह सादा वाद्ययन्त्र गजब का प्रभाव उत्पन्न करता है। तुरही के प्रकार के कुछ अन्य वाद्य भी हैं जैसे बर्गू और करणा जिनका प्रचलन अब कम हो चला है।

लगा के सतारा म दो बाँसुरिया होती हैं—एक स्वर निकालने के लिए दूसरी आधार स्वर देने के लिए। इसके विपरीत अलगोजे की दोनो छोटी बाँसुरियाँ एकसाथ बजाई जाती हैं। मेवो की पत्नी एक छोटी बाँसुरी है जिसके साथ ऊँचे स्वर म रतवई गाई जाती है। कायाडिया की तारपी, सपेरा की पूगी और लगा का मुरला एक वग मे आते हैं। लगो की गायिकी काफी परिष्कृत है और यह गुण उनके मुरला वादन म भी परिलक्षित है। मुरला के साथ गायन आमतौर पर नही होता।

पाकिस्तान स लगने वाली सीमा का एक विशिष्ट वाद्य नड है—एक लम्बी बाँसुरी जिसमे चार छिद्र होते हैं और जो शीशी की तरह फूककर बजाया जाता है व साथ मे गले मे स्वर उत्पन्न किया जाता है या वादन के बीच-बीच म वादक गाता भी जाता है। पहले कतारिये नड वादन के साथ बंत का पाठ करते चलते थ।

बन या मशक भैरुजी के भोपो का विशिष्ट वाद्य है हालांकि कहीं-कहीं दूसरी जातियाँ भी इसका प्रयोग करती हैं। शहनाई जसी नफीरी भी एक बहुप्रचलित मगलवाद्य है जो नगाडो के साथ नौबत म बजता आया है। गरासिया और भीलो म यह लका नाम म जानी जाती है।

विद्वानो का मानना है कि शास्त्रीय सगीत स्वर प्रधान होता है और लोक सगीत लयप्रधान। जैसा हमने देखा राजस्थान म स्वर के वाद्ययन्त्रो की कोई कमी

नहीं है। लेकिन घन वाद्यो की विविधता भी यहाँ इतनी है कि विद्वानो की उपर्युक्त मान्यता की उपयुक्तता सहज स्पष्ट हो जाती है।

घन वाद्यो का आदिम रूप हमे काथाडियो के दो लकड़ियो को एक-दूसरे से रगडकर उस ध्वनि पर नृत्य करने मे दीख पडता है। गैर, डाण्डिया और गीदड का बहुत बडा आकर्षण लकड़ियो का लयबद्ध परस्पर टकराना है। घण्टी घण्टा, थाली झाँझ इत्यादि से सभी परिचित हैं। मजीरा का सर्वोत्तम उपयोग कामड स्त्रियो के तेरहताली नृत्य मे मिलता है। वडे घुघरू रमझोल के रूप मे नर्तक पैरो मे बाँधते हैं। इससे भी वडे घुघरू घैरे भोपे कमर मे बाँधते हैं।

छीपिया मे चिमटे के साथ चक्राकार लटकन रहते है। लकडी के फ्रेमो मे ऐसे ही लटकन लगाकर खडताल बना है जो चौतारे के साथ हर कहीं बजता देखा जा सकता है। खडताल का एक विशिष्ट रूप लगे और मागसियारो की खडताल तथा रायगिडगिडी मे दीख पडता है जिसमें लकडी के चार टुकडे प्रयुक्त होते हैं।

आर अन्त मे थोडी चर्चा अवनद्ध वाद्यो की। जिनवाद्यो के दोनो मुख मढे हुए रहते है उनमे ढोल प्रमुख है। बल्कि ढोल को हम राजस्थान का प्रतिनिधि लोक वाद्य कह सकते हैं—वह वाद्य जिससे राजस्थान की सबसे अधिक सख्या वाली पशेवर सगीत जाति ढोली, का नाम जुडा हुआ है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त के सस्कारो के साथ ढोल व उसके विभिन्न वोल और चालें जुडी रहती थी। गाँव मे किसका और किसके हुक्म से ढोल बजेगा यह व्यवस्था का अहम सवाल था।

ढोलको के विभिन्न प्रकारो मे भीलो की मादल विशेष उल्लेखनीय है क्योकि उसका ढाँचा मिटटी का बना होता है। विभिन्न प्रकार के डमरू, डेरू और ढाक भी दोनो ओर से मढे हुए रहते हैं। विशेषत माताजी और गोगाजी के भोपो और भक्तो मे डेरू का प्रचार अधिक है। अब एकसाथ अनेक डेरू बजते हैं तो एक निराला ही समाँ होता है।

एक ओर से मढे हुए वाद्यो मे ब्रज प्रदेश के भीमकाय बम से लेकर मीना—गरासियों—सहरियो की छोटी-सी कूडी और होली के नृत्यो के सुपरिचित चग और डफ से लेकर खजडी और ढपलो तक हैं।

पाबूजी के माटो मे दो वडे, मढे हुए घडे रहते हैं जिनके साथ गाथा गाया जाता है जबकि सीमा के मेघवाल कामायचे इत्यादि के साथ, तालवाद्य के रूप मे घडा बजाते है। नगाड़ा नौबत को व ख्याल रम्मतो का अभिन्न अग है बल्कि ख्यालो का तो उसे केन्द्र बिन्दु ही मानना चाहिए।

# राजस्थानी लोक-गीतों मे जीवन-दर्शन[1]

सच पूछे तो लोकगीता के स दभ मे, 'जीवन दशन' एक भारी भरकम और बाहरी-सा शब्द लगता है। लाकजीवन में, उसके दशन को अलग स खीचकर निकालने और उसके विवेचन की परम्परा नही है—जा जीवा है वही दशन है और जो लाकजीवन है वही लोकगीत है। इस आधारभूत बात को ध्यान मे रखते हुए, आइये प्रयास करे हमार लाकगीतो म से झाँकती हुई जीवन दष्टि के कुछ महत्त्वपूण पहलुआ को विवेचित करन का।

राजस्थान के, और लगभग सभी प्रदेशा के लोकगीता म, एक विशेष लक्ष्य करने योग्य बात सैक्स अथवा यौन विपयक नजरिये व उसका बरतने से सम्बध रखती है। यौन सम्ब धा एव यौन-सम्ब धी विपया—वणनो को लकर, शहरी जीवन मे भारी कुठा एव समस्याएँ रही हैं। अश्लीलता का हौवा सदा ही शहरी मानसिकता पर हावी रहा है। इसके चलते हमे उस स्थिति, द्वैध और पाखण्ड के दशन होते हैं जिसके लिए किसी ने यह उक्ति कही थी बहुत बढिया वेषभूषा वाले लोग, दिमागो से बहुत ग दे इरादे लिए हुए।' सात जागते हमार दिमागा पर अश्लीलता उसी शिद्दत से हावी रहती है जिसके साथ हम उसका विराध करत हैं। एका त मे अश्लील और लोगो के सामने श्लील बने रहने का यह द्वैध सभ्यता से मिला एक भारी अभिशाप है।

इसके ठीक विपरीत, ग्रामीण जीवन मे यौन के सहजीकरण या सामायीकरण की परम्परा है जिसके दशन हमे लोकगीता मे भी हात है। लोकगीता म नर नारी सम्ब धो का सहज वणन मिलता है और कुछेक पर्वों—मेलो या विशेष प्रकार के गीतो मे उनका खुला और अति की सीमा तक किया गया उपयाग एक प्रकार के 'कैथारसिस' के आयोजन को भी इगित करता है। डिग्गी मालपुरा और चौथ का बरवाडा जस मेला मे गाये गए गीता से इसी उद्देश्य की पूर्ति होती लगती है। होली के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भी ऐसा ही विरेचक वाला काय करते हैं।

दिल्ली—अलवर माग पर एक बार मैंने कुछ मेव बच्चा को रेकड किया था। एक गीत मे ऐसा प्रसग आया जिसे लेख मे हम डौट डौट डौट द्वारा दिखाते हैं और वाला मे वैसा प्रसग आये तो शायद मुझे दो मिनट का मौन रखना हो। लेकिन क्या प्रतिक्रिया थी उन बच्चा की! गानेवाला और सुनने वाले सभी खिलखिला-कर हँस दिए। कितना अच्छा तरीका है गोपन को अभिव्यक्ति देने का! जब तक यौन के साथ सहजता स्वास्थ्य कुठाहीन आन द और अँधेरे—तहखानो की बजाय-

---

1 आकाशवाणी जयपुर से दिनांक 4-7 82 को प्रसारित।

खुला उजाला जुडे हुए हैं वह न अश्लील है न अस्वाभाविक और इसी जीवन दर्शन के लोकमानस म खुले अंगीकार को हमारे लोकगीत उदभासित करते हैं।

भारत मे स्त्रियो ने बहुत दुख भरे हैं बडा श्रमशील और कठिन जीवन बिताया है। लेकिन लोकगीतो मे नारी की मर्यादा और उसके अपने दायरे म उसके अधिकारों और शक्ति का भी वर्णन मिलता है। डूगरपुर मे भीलो से मैंने एक गीत सुना था—ऐ लम्बी साफ साफ बता कि गाँव म रहना है या अपने प्रेमी के साथ गुजरात जाना है। लक्ष्य करें—यह नहीं कहा जा रहा है कि सीधे सीधे गाँव मे रह वर्ना टाग तोड दी जायेगी बल्कि यह कि भई, बता दे, क्या मर्जी है तेरी।

शहरी और ग्रामीण जीवन के एक और आधारभूत अन्तर का लोकगीत रेखांकित करते है। शहर मे भीड का हिस्सा बनकर भी व्यक्ति अकेला रहता है जबकि हमारे गाँवो मे भीड न होते हुए भी व्यक्ति समष्टि का अंग रहा है। परिवार, जाति और गाँव की समूह सूचक इकाइयाँ टूटी नही हैं हालांकि अब टूटती जा रही हैं। इस स्थिति के चलते, व्यक्तित्व का विकास देर से और अधूरा भले ही हो लेकिन एकाकीपन के वे भयावह रूप और वे दुखद परिस्थितिया भी यहा नही मिलती जो पश्चिम के हिप्पियो, जिन्दगी से ऊबे और समाज स कटे 'ड्रौप आउटस' और मौत का सामूहिक इन्तजार करते ओल्ड पीपल्स होम्स के निवासियो मे देखने को मिलती है।

राजस्थानी लोकगीतो मे परिवार एक अपरिहार्य उपस्थिति है। यहा 'हम और तुम और मुन्ना प्यारा" की नही, "ससुर जी, सासू जी, जेठ जी, देवर, ननद, भौजाई और तुम और मैं और मुन्ना" की स्थिति रही है। एक ओर यदि नववधू परिवार के विभिन्न सदस्यो की तुलना अपने आभूषणो से करती है उनके साथ हिल मिल कर गोरबन्ध गूथने और खेता म मेहनत करने को बखानती है तो दूसरी ओर, सास और ननद की ज्यादतियो पर लानत भेजते हुए ममतामयी मा और दुलराने वाले भाई को याद करती है।

और गाव ? लोकगीतो म गाव भी परिवार का एक बडा रूप ही है। ऊँच नीच है, उत्पीडन भी है लेकिन बेगानापन नही है। सब जातियो सब पेशो का गाँव के जीवन मे निश्चित स्थान है। लडकी गाव की है, जवाई गाव का, बहू गाँव की उत्सव गाव का है शोक भी गाव का है।

भारतीय चिन्तन और दर्शन मे बहुत से गूढ तत्त्व जो हम पोथियाँ पढकर और बहसें कर करके भी मुश्किल स ही समझ पाते है और जीवन मे फिर भी बहुत कम उतार पाते हैं हमारे लोक-जीवन म रोजमर्रा की दिनचर्या और सोच का सामान्य हिस्सा बने हुए हैं और हमारे लोकगीतो म सहज रूप से प्रतिबिम्बित हैं। उदाहरण क लिए, पशु पक्षियो के प्रति नजरिये की ही बात करलें। हमारे

लोक-गीतों में ऊँट, कउए, कुरजा घोड़े, बैल, तोते इत्यादि को पशु पक्षियों की तरह नहीं, मानवीय संवेदना और समझ से वेष्टित, साथी संगियों की तरह लिया गया है और पशु-पक्षी ही क्या, पेड-पौधों तक को चेतन सहचरों का दर्जा दिया गया है। आधुनिक जीवन हमको वृहत्तर समाज से जुडने के साधन देता है लेकिन वास्तव में हम और कटे हुए, सिमटे हुए और आत्म-केंद्रित और स्वार्थी होते जाते हैं। हमारे लोकगीत हमको एक-दूसरी परिस्थिति से दो-चार कराते हैं जिसमें हम रहते तो एक तंग सीमा में हैं लेकिन इस सीमा के भीतर, और बाहर भी, जुड़ते ज्यादा लोगों और ज्यादा चीजों से और ज्यादा गहराई के साथ हैं।

सहज मानवीकरण की जो प्रवृत्ति पशु-पक्षियों और वनस्पति को लेकर दीखती है लोकगीतों में वही, देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी लक्ष्य की जा सकती है। शहरी जीवन में देवी-देवताओं के प्रति बड़ों का अदब 'मुलाहज़ा' वाला दरबारी दुराव और अदब कायदे वाला दृष्टिकोण रहता है। ये देवी-देवता पुरुषोत्तम हैं यानी मानव मात्र से ऊपर और अलग प्रकार के लोग। उधर गाँव के देवी देवता मानो मानव ही हैं जिन्हें हमने एक ऊँचा दर्जा दे रखा है जैसे परिवार का कोई बड़ा-बूढ़ा या कोई सरपंच जिसे हमने चुना है। इस देवता को हम मनाते हैं उसकी मनुहार करते हैं एक सीमा तक उससे डरते भी हैं लेकिन वक्त जरूरत उससे लड भी पडते हैं उसको खरी खोटी भी सुना देते हैं। लोकगीत में गुदगुद बदन वाले धलथुल तोंद वाले, सूंड-सुंडाले गणेश को साथ लेकर जोशी और कुम्हार और माली और सुनार वगैरह के यहाँ घूमते घामते, विवाह की तैयारियों का चित्रण है। बताइए क्या शहरी मानसिकता और जीवन में एम देवता और उसके साथ हमारे ऐसे सम्बन्धों की कल्पना मात्र सम्भव है।

हमारे भक्ति-सम्बन्धी लोकगीतों में दो और बातें द्रष्टव्य हैं। एक सम्बन्ध रखती है सभी देवी देवताओं और लोक देवताओं के सहज स्वीकार से। यहाँ पितर और भोमिया से लेकर पाबू, गोगा तेजा तक और माता जी भैरू जी, गंगा, तुलसी महादेव हनुमान सहित पीर पैगम्बर तक समान रूप से समादृत और पूजित हैं। भारतीय जीवन दर्शन के औदार्य और सर्वधर्म समभाव का यह एक निहायत अकृत्रिम और उत्कृष्ट उदाहरण है। और दूसरी बात है लोकगीतों में निर्गुणी भजनों की बड़ी संख्या सम्बन्धी। सगुणोपासना में देवता को प्रसन्न करके कुछ प्राप्त करने का भाव कमोबेश मौजूद रहता है। कबीर के पद गाकर हम किससे क्या चाह सकते हैं? लोकगीतों और लोकगायन में निर्गुणों की बड़ी हिस्सेदारी, लोक जीवन के विषाद, मानव जीवन की जटिल गुत्थियों को भी सहज बनाकर समझने और सार को गहकर थोथे को उड़ा देने और थोड़े में ही सन्तुष्ट हो रहने की सिद्धि और प्रवृत्ति का परिचायक है।

अक्सर हम शहर वालों को गाँव का जीवन या तो स्वप्नवत सुन्दर या

दु स्वप्नवत् कुरूप लगता है। जाहिर है कि दोनो दृष्टिकोण गलत है। ग्राम ग्रामीण के जीवन मे बहुत से बडे-बडे दु ख और चिन्तायें भी हैं तो अनेक छोटी-छोटी खुशियाँ भी हैं और लोकमानस ने जिस प्रकार दुखो को छोटा करके लेना और छोटी छोटी न्यामतो का भरपूर आनन्द उठाते हुए थोडे म सन्तुष्ट हो रहने और उसके लिए विधि का अनुग्रह मानने का जीवन-दशन अपनाया है वह हमारे लोकगीतो म बखूबी उभरा है। इसी के चलते झोपडी महल है हल चलाता किसान राजा उपले पाथती उसकी स्त्री रानी उसकी गाय कामधेनु रूखा सूखा भोजन षटरस व्यजन और आगन का रूख कल्पतरु। दु ख है लेकिन हाय-हाय और झीकना नही है देवदास टाईप देखो मैं दद की सूली पर शहीद हो रहा हूँ की उदघोषणा नही है—जिन्दगी जो है जैसी भी है उसस जूझकर जी लेने का भाव है।

असल म हमारे लोकगीत एक एसे जीवन-दशन के सवाहक और दपण दोनो हैं जिसमे जटिलता नही सहजता का प्राधान्य है। लोकगीत वैसे भी वयस्को की बाल-सुलभता का दस्तावेज होता है। जब हम ज्यादा सोचने समझने वाले तार्किक दिमागी और रियाजी हो जाते है तो उस कला और सस्कृति का उदभव होता है जिसे हम शहरी सभ्रात या शास्त्रीय कहते हैं। हमारी जनसख्या का अधिकाश इस शास्त्रीयता की जद के बाहर रहा है। हमारे लोकगीत इस बहु-सख्य जनता की कलानुभूति और जीवन दशन के सवाहक और दिग्दशक रहे हैं और लाजिमी है कि इस जीवन दशन मे जीवन के महत्त्वपूर्ण मुद्दो को सीधे बिना आडम्बर और बौद्धिक उठाक-पटाक के पकडा और साधा गया है। छोटी छोटी आकाक्षाओ, दुख दद के मुकाबले म असीम धैय और सहन शक्ति, अकेले व्यक्ति की नियति के विद्रूप को समष्टि के अन्तगत यथासभव साथकता देने के प्रयास समाज ठीक-ठाक चलता रहे इसके लिए जरूरी नियमो वजनाओ और परम्पराओ जीवन के सहज आनन्द के सहज प्रकटीकरण के सहज पर गहन और सम्पूर्ण जीवन-दशन को हमारे लोकगीत सहज रूप से समेटे एक प्रवाहमान जीवित गेय शास्त्र का दर्जा रखते हैं।

## हाडौती का लोक-सगीत[1]

पिछले दिनो की अपनी हाडोती प्रदेश की यात्रा के दौरान मुझे कई स्थानो पर वहाँ के लोक सगीत को सुनने और टेप करने का जो सुयोग मिला उसम

1 'इतवारी पत्रिका'

आधार पर कुछ बात लिखूंगा। निश्चय ही यह कोई स्वयंसम्पूर्ण सर्वेक्षण नहीं है—लोक संगीत के बारे में ज्ञान प्राप्त करना और लिखना इतना आसान नहीं है। लेकिन लोक संगीत के एक ऐसे क्षेत्र के बारे में, जिसको लेकर पर्याप्त काम होना अभी भी शायद शेष है, ये संक्षिप्त और प्रारम्भिक टिप्पणियाँ भी सम्भवतः थोड़े बहुत महत्त्व की हों।

भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से हाड़ौती को विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच में, लगभग एक स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला द्वीप माना गया है। लेकिन जहाँ उत्तर-पूर्व में ब्रज का प्रभाव स्पष्ट है, वहीं दक्षिण में गुजराती प्रभाव भी स्पष्ट है। वैसे भी चाहे गीतों के विषय की बात हो चाहे उनकी शैली की, सहरियों के संगीत के आंशिक अपवाद को छोड़ते हुए, हाड़ौती का लोक संगीत शेष राजस्थान के लोक संगीत से जुदा नहीं है।

"बोल पछीड़ा रे" या 'शकरिया' गीत हाड़ौती के सबसे लोकप्रिय गीतों में से एक लगता है। यही गीत किशनगढ़—टोंक—डिग्गी क्षेत्र में भी खूब लोकप्रिय है। लेकिन एक ही गीत को क्षेत्र विशेष अपने अपने रंग में ढालकर कैसे अपना लेते हैं और फिर उसी गीत को अपने और औरों के बीच का सम्पर्क-सूत्र भी बना लेते हैं, यह हाड़ौती के "पछीड़ा" की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है

पाटण की पैंडया में भगतन नाचे रे भायला दानो होग्यो रे, शकरियो राग में भरग्यो रे, हाड़ौती रे हाड़ौती हाड़ा की भावन मीणा की काटा का ता गोटा बूंदी की तो फूंदी अलता का गुरमा सागर की फैणी, जयपुर का घेवर ला दे रे

कोटा के पास नया नोहरा गाँव में और बारां में मुझे 'निहाल दे' सुनने को मिला। "निहाल दे" नाम का एक गीत पश्चिमी राजस्थान में भी मिलता है— 'छप्पर पुराना पिया पड़ गयो जी" इत्यादि—जिसे गौरी देवी ने माढ़ अंग से गाया है और जिसे स्व० जगदीश सिंह जी गहलोत ने पडिहार राजपूत निहालदेव सोढ़ा की स्त्री विरचित माना है। इस गीत की विरही नायिका ने नरवरगढ़ और कमधजराव दोनों को लानत मलानत की है। यहां गीत की कथावस्तु जोगियों के प्रसिद्ध निहालदे सुलतान' से टकराती है। लेकिन इसके अलावा कोई साम्य दोनों की धुन अथवा अदायगी में नहीं है बल्कि जोगियों के 'मुल्तान निहालदे' से मुझे कश्मीर का रूफ और छकड़ी याद आते हैं। उधर हाड़ौती वाला निहालदे विरहोजना की वैरी वर्षा ऋतु से ताल्लुक रखते हुए भी, न तो मारवाड़ के गीत से और न जोगियों के कथा गीत से मिलता है। इस सम्बन्ध में और खोजबीन की जरूरत है।

हाड़ौती में दीवाली के दिन और बैलों के गीत "हीडो" नाम से प्रसिद्ध हैं। डा० चन्द्रशेखर भट्ट ( हाड़ौती लोकगीत ) के शब्दों में इसमें कोई वाद्य आदि नहीं बजाये जाते, क्योंकि लोग इस घर से उस घर फिर फिर कर एक दूसरे के

बैलों का शृंगार व पूजा करवाने में सहयोग देते चलते हैं, साथ-साथ गीत भी चलता रहता है। गीत में हर चरण के बोल शुरू होने से पूर्व और पश्चात अलाप ऐ ऐ ऐ ऐ हीडो का लिया जाता है। ' इस गीत में पीलू की झलक आती है, वातावरण करुण है, अन्दाज मसिया या शोकगीत का है। अगर ये उत्सव और उल्लास के गीत हैं तो यह एक विचित्र संयोग है। ऐसा ही वातावरण 'देवनारायण' में मिलता है। हाड़ौती में "देवनारायण" अधिक नहीं सुन पाया। लेकिन बाद में टोंक में उसे कुछ विस्तार से सुनने का अवसर मिला। उसमें राग तोडी अपनी समस्त विशेषताओं के साथ उपस्थित मिली। बड़ा रोमांचक हो सकता है लोक-गीतों में शास्त्रीय संगीत के आदिस्रोत खोजने का यह खेल।

टोंक क्षेत्र की ही भाँति यहाँ भी मशक अथवा अलगोजे के साथ तेज और झूमा देने वाली धुन में, "तेजाजी' गाया जाता है। मांगरोल के पास बोहत में ढाक या डेरू और थाली के साथ माताजी का जस सुनने को मिला—आदिम, अकृत्रिम संगीत की समस्त ऊर्जा और अकृत्रिमता के साथ। यहीं पर थोड़ा-सा नमूना मांगरोल की 'ढाई कड़ी की रामायण' का सुना। इसके बारे में और जानने के अवसर का इन्तज़ार रहेगा। बारां में रामतीय संगीत के अन्दाज में 'ढोला-मरवण" भी सुन पड़ा। कितने दूर-दूर तक पहुँचे हुए हैं हमारे ये आख्यान!

बाहन के पास ही रैनगढ़ गाँव में कुछ राजपूत स्त्रियों के गीतों को सुनने का अवसर मिला। सारे राजस्थान में स्त्रियों की गीतों के ढंग और विषय-वस्तु में विलक्षण एकरूपता है। सारे राजस्थान के लोकसंगीत में पीलू देस और सारंग के आभास बार-बार उभरते हैं। खमाज और देस की प्रमुखता लिए हुए माड भी सभी रजवाड़ा—राजदरबारों में एक प्रकार से गाई जाती रही है, हाड़ौती अपवाद नहीं है। यही बात रामदेव जी की स्तुति के और मीराबाई, कबीर, रैदास इत्यादि के भजनों के बारे में है। जैसे और जगहों के बारे में है यहाँ भी निर्गुणी भक्तिगानों का प्रचार उच्च की बजाय, तथाकथित निम्न वर्गों में अधिक मिला। भक्ति संगीत के मामले में, हाड़ौती में मुझे गुजरात और नरसी महता का भी खासा प्रभाव दीख पड़ा।

अन्त में कुछ शब्द सहरियों के संगीत के सम्बन्ध में। मुझे उनका संगीत हाड़ौती ही नहीं, शेष राजस्थान के संगीत से भी एकदम अलग लगा। उसकी साम्यता यदि हमारे किसी प्रदेश के संगीत से है तो वह केवल धौलपुर भरतपुर-करौली के संगीत में। लांगुरिये बहुतायत से गाये जाते हैं जो कैला देवी के प्रभाव का द्योतक है। इसके अलावा राम-कृष्ण, जनकपुर अयोध्या-द्वारका, और गंगा-यमुना-सरयू इत्यादि सम्बन्धी अनेकों आख्यान उनके गीतों में दिख हुए हैं। एकाध

खण्ड पांच

# रंगमंच और सिनेमा

## कला-समीक्षा के मानदण्ड[1]

"किसी भी फिल्म की इस बात के लिए आलोचना करना बहुत आसान है कि वह अमुक प्रकार की नहीं है। मेरा विश्वास है कि हर फिल्म की आलोचना उसकी ही आकांक्षाओं के आधार पर करनी चाहिए। अगर आप निर्देशक गोदार और अभिनेता जान वेन की फिल्मों को एक ही गज से नापते हैं तो शायद आप दोनों ही फिल्मों को समझने में असफल रहे हैं।

'कहने का मतलब यह है कि दर्शकों के समझने न समझने के अनेक स्तर हैं। सबको एक लाठी से नहीं हांका जा सकता। कुछ नये फिल्म बनानेवाले कहते हैं, साधारण जनता की बुद्धि को गलत आंका जा रहा है। वह वास्तव में बहुत बुद्धिमान है, सब कुछ समझ सकती है। मेरी समझ में ये लोग बकवास करते हैं। और वे व्यापारिक फिल्म बनानेवाले और प्रचारक भी बकवास करते हैं जो यह समझते हैं कि जनता कुछ नहीं समझती। उसके गले से सब चीजें ठोक-ठोककर उतारनी पड़ेंगी। तथ्य यह है कि जनता भिन्न रुचि रखनेवाली ही नहीं, भिन्न ग्राहिका शक्तिवाली भी है और हर फिल्म बनानेवाले को हर बार यह तय करना पड़ेगा कि जनता के किस वर्ग तक वह अपना संदेश पहुँचाना चाहता है। वह कितनी बात स्पष्ट कहेगा और कितनी दर्शकों की कल्पना के लिए छोड़ देगा। हर बार परीक्षा —जनता की समझ की नहीं, फिल्म बनानेवाले की समझ की हो रही है।"

"मुझे इस वर्ष सबसे अच्छी फिल्म 'राम और श्याम' लगी क्योंकि यह फिल्म आम फिल्मों से कुछ हटकर थी। हर फिल्म का उद्देश्य अपना निजी दृष्टिकोण लिए होना है, और वह भिन्न प्रकार का हो सकता है। 'राम और श्याम' भी उस रूप में सफल फिल्म कृति कही जाएगी, क्योंकि यह दर्शक को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करती है। अगर फिल्म शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से ही बनी है तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं।'

"जब तक मूलभूत प्रश्न ध्यान में न रखे जाएं और विशिष्ट स्थितियों में उनका महत्त्व न दर्शाया जाए, तब तक समीक्षा केवल छिद्रान्वेषण है। यदि मैं चाहूँ तो पखवाड़े के सभी रेडियो या टेलीविजन कार्यक्रमों में कुछ-न-कुछ खामियाँ निकाल

---

1 इतवारी पत्रिका।

सकता हूँ । आम धारणा के विपरीत, इस तरह की 'मैं तुमसे बेहतर जानता हूँ ।'
मुद्रा धारने मे समीक्षक को कोई दुष्टतापूर्ण आनन्द नही आता । न वह सिफ दर्जे
बाँटने, मता की नुमाइश करने या अपनी पसन्दनापसन्द को स्वयंसिद्ध साबित
करने मे रुचि रखता है । इसके विपरीत उसकी मूल रुचि (कलावस्तु के) सम्पूर्ण
अर्थ को उसके निहित सन्दर्भों शक्ति सार्थकता, पैमाने, मूल्य, सजनात्मक शक्ति,
तकनीकी कौशल और विचार एव भावना की परिपक्वता— के साथ देखने म है ।"

समालोचक का काम कला का जनता के लिए परिभाषित करना है कला-
कार को राय देना नही बल्कि उसके काम का समझने का ह ।—आज समालोचक
कलाकार और जनता के बीच एक आवश्यक कडी है (हालाकि उसकी कठिनाई
यह है कि उसे देखने और सुनने की चीज का केवल शब्दो के सहारे जनता तक
पहुँचाना होता है) । आज कला समीक्षा म पेशेवर निष्णातता का अभाव है और
आलोचना अक्सर आलोचक के अहं की तुष्टि का माध्यम और उसके अपने
काम को गम्भीरता से न लेने की परिचायक होती है साथ ही अक्सर आलोचक
किसी कलाकृति मे अपने को ठूसने का प्रयास करता दीखता है । कला समी-
क्षकों की कलाकृतियो को अच्छी बुरी, महत्त्वपूर्ण, मामूली आदि श्रेणियो मे
डालने की प्रवृत्ति पशेवर (गम्भीर) आलोचना के मानको के विपरीत है । कला-
समीक्षा का काम सिफ काफी-हाउस के वार्तालाप के लिए फिकरे फेंकने से आगे
जाता है । समीक्षक को कलाकार के (अपने फन को) परिभाषित करने के तरीके
से परिचित होना चाहिए । दूसरे शब्दो मे उसे कलाकार के साथ गहरे तादात्म्य
मे होना होगा । इसके लिए कलाकार को अपने फन के प्रति ईमानदार और समी-
क्षक को अपने काम मे माहिर होना होगा । अन्ततोगत्वा, समीक्षा कलाकृति को
उसके सम्पूर्ण विस्तार और गहराई मे समझने की आकांक्षा का नाम है ।"

ऊपर मैंने पाँच अलग कलाकारो — समीक्षको की कला उपभोक्ता और समीक्षा
सम्बन्धी मान्यताओ को उद्धृत किया है ये पाँच हैं क्रमश रोजर मैनवैल, गोपाल
दत्त, सत्यजित रे, निसिम एजेकिल व उषा प्रसाद । आलोचक का काम आसान
नहीं, बडा कठिन है । उसको एकसाथ निष्पक्ष निष्णात, निर्भीक, निस्पृह मेहनती
निर्मम सहृदय, सन्तुलित चौकस और दुराग्रह से मुक्त होना होता है । निश्चय ही
वह अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी से बिलकुल किनारा नहीं कर सकता । लेकिन, ऐसी
स्थिति मे उसके लिए लगभग एक इतिहासकार की ही तरह, अपने दृष्टिकोण से
पाठक को आगाह कर देना जरूरी और शुभ होता है । निश्चय ही आलोचना किसी
'ओपिनियन पोल' का नतीजा नहीं होती । वह एक व्यक्ति का नजरिया विशेष होती
है । लेकिन वह नजरिया तभी महत्त्वपूर्ण होना है जब उस व्यक्ति म ईमानदारी,
अनुभव पैठ, परिपक्वता संवेदनशीलता और उसके कथन मे सारगर्भिता हो ।

सच है सज्जनो 'सूली ऊपर सीट 'क्रिटिक' की [illegible] होय' ।

# आज का नाटक आज के दर्शक

हिंदी का रंगमंच अभी बन रहा है। चुहिया को पसारी बनने में अभी देर है। ऐसे में भारतीय रंगदृष्टि की खोज का लेकर हमारी दृष्टि नकार की नहीं, उठाने—परखने—आत्मसात् करने की होनी चाहिए। संस्कृत-रंगमंच की गरिमा अपनी जगह है, लोकमंच की शक्ति और समृद्धि अपनी, लेकिन क्या स्टानिस्लावस्की से लेकर पीटर ब्रुक तक के समग्र विचार और कृतित्व को एक झटके से नकार देना अब या आगे कभी भी सम्भव श्रेयस्कर और बुद्धिमत्तापूर्ण होगा? क्या क्लासिक्स को छोड़ देने से या समसामयिकता के आग्रह में उनके साथ अवांछित खिलवाड़ से हम समृद्ध होंगे या वह हमारी स्वस्थ वाछित ग्रहणशीलता—खिड़कियाँ खुली रखना इत्यादि के अनुरूप होगा?

अब सवाल आम आदमी के नाटक का। क्या भुवन शोम, 'राम हवा और 'अंकुर' को दर्शक नहीं मिलते और 'शोले' और 'संतोषी माँ' को मिलते हैं, गन्दी किताबें हजारों में छपती हैं और गुलशन नन्दा के 'झील के उस पार' का पहला एडीशन साढ़े तीन लाख में—इससे उनकी मूल्यवत्ता पर प्रभाव पड़ता है? नाटक, अच्छे नाटक, के दर्शक बनते बनते बनेंगे। गरीब और थका व्यक्ति जैसे खुराक के स्तर पर पहले रोटी चाहता है वैसे ही मनोरंजन के स्तर पर खोटी, स्थूल मनोरंजन। आम आदमी के हित में नाट्यरुचि को मोटी और चमत्कार रखोगे मे उकेरन की बात नई नहीं है। वैसे भी अपनी अपनी रुचि और कलात्मक मर्दना और ग्रहणशीलता की बात है। तो क्या इन्द्रधनुष को एक मटमैले खाकी विस्तार में बदल दिया जाए? 'जसमा ओडन' रखें 'पगला घोड़ा' को छोड़ दें? पेरिस में बैले को गरीब लोग भी देखते हैं। रूस में जहां 1967 में 500 पेशेवर और हजारों शौकिया नाट्य संगठन थे दुनिया भर के और सब तरह के नाटक खेले जाते हैं।

सोद्देश्यता, प्रतिबद्धता और समकालीनता की भी बात होती है। जो भी नाटक मानव जीवन में जुड़ता है उसका विश्लेषण करता है, हमें सोचने और सुधारने में प्रवृत्त करता है वह अच्छा नाटक है। लेकिन क्या मात्र स्वस्थ मनोरंजन को भी हेय समझकर नाटक चल सकता है? क्या 'माउसट्रैप' करने और देखने वाले हेय हैं? क्या 'अंडर सक्रेटरी' से लगाकर 'कस्तूरी मृग' तक सारे कमोबेश फार्मूला नाटकों को दफन कर दिया जाए? और क्या उत्पल दत्त के नाटकों में कोई फार्मूला नहीं है? और समकालीनता 'शुतुरमुर्ग' कल तक समकालीन था, प्रासंगिक था, और आज? ब० व० कारंत के शब्दों में 'तपा की शाम' से अच्छा 'चन्द्रगुप्त' नाटक करना है आज भी शेक्सपीयर के नाटक समकालीनता पर खरे हैं। रमेश मेहता ने नाटक समकालीन लिखा है पर दो

हजार साल पुराना है मैं रगमच से प्रतिबद्ध हूँ। ,वह बैठकखाना नही है। रग-मच के प्रति प्रतिबद्धता अन्तत समाज के साथ ही जुन्ती है, मैं जाडता हूँ "

ता नक्ली ग्राभिजात्य बुरा है, नाटक की सामध्य ग्रोर मीमा का जानबूभकर सीमित करना बुरा है जनपरितोष को ग्रपने ग्राप मे हेय मानना बुरा है। लेकिन नाटक को माय नट ग्रोर नौटकी से बाँध देना ग्रोर उसके विषयो मे बस यह ग्रोर यह ग्रोर ग्रागे कुछ नही की लक्ष्मण रखा खीचना एक दूसरा ग्रोर उतना ही बुरा छदम है क्योकि सादृश्यता भी एक मुद्रा समकालीनता भी एक प्रवचना ग्रोर प्रतिबद्धता भी एक मुखौटा हो सकते है। नाटक ग्रोर नाटककार को येन केन प्रकारेण प्रेक्षागह से खदेडकर नुक्कड या मिलगेट पर ला खडा करना ग्रतिवादिता है, विश्व के नाटयादोलन के इतिहास से ग्रपरिचय का द्योतक है, हिन्दी-नाटक के स्वस्थ ग्रोर समग्र विकास से मुह मोडने जैसा है। ग्राज नाटक के क्षेत्र विस्तार नये-नये प्रयोगा मे नाटक के सस्कार को ग्राम करन का वक्त है, उसकी हदबन्दी का नही। ग्रल्काजी के शब्दा मे हम चिन्ता कग्नी चाहिए ता ग्रच्छे रगमच की करनी चाहिए, चाहे वह प्राचीन हो, लोक हो, पारम्परिक हो या ग्राधुनिक हा। ग्रच्छे से मेरा ग्रभिप्राय है वह जो सौदयबोध को तृप्ति दे गम्भीर ग्रथ रखे, ग्राज के जीवन के प्रश्नो के प्रति सजग रहे, दृष्टि म मौलिक हा प्रेरणा दे ग्रोर विचारो त्तेजन कर।

## जयपुर रगमच की उपलब्धिया[1]

राजस्थान के सास्कृतिक जगत मे पिछले कुछ वर्षों मे हुई सुखद घटनाग्रा म से एक जयपुर का नाटका के विकास के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूण मच के रूप मे सामने ग्राना है। नि सन्देह इसके लिए मूलरूप मे प्रेरणा ग्रौर कुछ करने की उमग यहाँ ग्राने वाली प्रसिद्ध नाटक मडलिया ग्रौर उनके द्वारा प्रदर्शित प्रतिष्ठित नाटको से प्राप्त हुई है। उज्ज्वल भविष्य की ग्राशा इससे बलवती होती है कि यहाँ नाटको के लिए दृढ स्थानीय ग्राधार पैदा हा गया है ग्रौर कुछ लगनशील उत्साही युवक-युवतियाँ न केवल नाटका को मच पर उतारने लगे है, बल्कि उन्होने नाटय लेखन की सजनात्मक प्रक्रिया भी ग्रारम्भ की है। यह सब कुछ उन दशाग्रो मे सम्भव हा सका जबकि राजस्थान से निरन्तर प्रतिभाग्रो का बहिर्गमन हाता रहा है ग्रौर

1 'ग्रणिमा', राजस्थान के 25 वष, विशेषांक

इस प्रकार के साहसिक कदमो को कायरूप देने के लिए ढेर सारी समस्याओ के अवरोध-पुज मे से गुजरना पडता है। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का सामना करते हुए रगमच को समर्पित इन कायकत्ताओ न जो कुछ किया है वह अत्यधिक श्रेय की बात है। यही नही कला के कतिपय अ य क्षेत्रो मे आज जयपुर म जा कुछ हो रहा है उसके ठीक विपरीत ये प्रयास हैं।

यद्यपि गगाप्रसाद माथुर, पिचो कपूर ('काचनरग' 1967) हमलता प्रभु ('मैन आफ डैस्टिनी ) आदि के अग्रगामी प्रयासो के कारण मच तैयार हो चुका था और राष्ट्रीय नाटय सस्थान न तीन नाटक कजूस', तुगलक' और सुनो जनमेजय 1966 मे प्रदर्शित किये जा चुके थे कि तु सम्भवत इस दिशा म पहला बडा प्रयास सितम्बर 1968 मे स्व० मोहन राकेश के 'आषाढ का एक दिन' का मोहन महर्षि द्वारा किया गया अत्य त सवेदनशील एव प्रभावोत्पादक प्रस्तुतीकरण था। खुला रगमच, यथाथवादी मच सज्जा सटीक प्रकाश व्यवस्था और सोद्देश्य पाश्व सगीत के साथ-साथ मीनाक्षी शर्मा, रमा पाण्डेय अरुण माथुर और नदलाल शर्मा का शानदार अभिनय आदि ऐसी बाते थी जि होने इस मचन का एक अविस्मरणीय एव प्रेरणात्मक घटना बना दिया। और यह इसके बावजूद कि लेखक अपने मुख्य पात्र कालिदास के प्रति अ याय करता लगता है व नाटक का तीसरा अक निहायत लचर व अनकविंसिंग है।

मोहन महर्षि न इसके बाद जनवरी 1969 म शुतुरमुग व जनवरी 1970 म सुनो जनमेजय' तथा 'आजर का ख्वाब ये तीन नाटक और प्रदर्शित किए। मैं इन तीन म से दूसरा नाटक नही देख पाया लेकिन शेष दो म मुझे लगा कि महर्षि आलेख की मूलभूत कमियो के साथ जूझते रहे और 'एक दिन जैसी सफलता प्राप्त करने म असफल रहे। 'शुतुरमुग' एक सतही व्यग्य और बदहवास प्रहसन म परिणित हो गया और उसका कथ्य बिखर गया। इसी प्रकार आजर' मे रूपया म अत्यधिक परिवतन और प्रमुख भूमिकाओ के चयन मे पर्याप्त सावधानी का अभाव बराबर खटकते रहे हालाकि हज्जो की भूमिका मे इला पाण्डे ने अविस्मरणीय अभिनय किया। खेद की बात है कि बहुत शीघ्र ही जयपुर को मोहन महर्षि की स्फूर्तिदायक नव नाटयादोलन का स्फुरण हम तक पहुँचाने वाली उपस्थिति स वचित हो जाना पडा। इसी बीच प्राम शिवपुरी न दिसम्बर 1967 मे दिल्ली म दिशा तर की स्थापना की और अपनी मूल धरती म राष्ट्रीय स्तर पर मा य नाटको का पानी देने की प्रक्रिया आरम्भ की। मोहन राकेश का आधे अधूरे' जिसका हिन्दी के पहले अधिकृत नाटक के रूप म स्वागत किया गया दूसरे जयपुर फेस्टिवल के कायक्रम के अग के रूप मे प्रस्तुत किया गया। यह नाटक वास्तव म चातुयपूर्ण है और नाटकीय तत्वो की परिपक्व पकड प्रदर्शित करता है। फिर भी मूलरूप मे यह नाटक कृत्रिम है और सम्पूर्ण मानवीय स्थिति और दो परस्पर

विरोधी चरित्रों के स्वाभाविक टकराव के बीच झूलता रह जाता है। इन दो पात्रों का प्रतिनिधित्व सावित्री और महेन्द्रनाथ करते हैं। कथित मध्य से निम्न मध्य वर्ग के जिस माहौल का दावा किया गया है वह न तो पात्रों के क्रियाकलापों में और न ही उनके संवादों में प्रतिफलित होता है। तकनीकी दृष्टि से फिर भी यह एक बड़ा ही सफल नाटक रहा और ओम शिवपुरी को इस नाटक ने एक निर्देशक और अभिनेता के रूप मे अच्छी प्रतिष्ठा दिलाई।

जुलाई, 1969 में हमने विजय तेंदुलकर के महत्त्वपूर्ण नाटक 'खामोश अदालत जारी है' को देखा। 'आधे अधूरे' के कृत्रिम यथार्थ के मुकाबले मे 'खामोश' की संरचना मानवीय दुच्चेपन और परपीडन से तुष्टि प्राप्त करने की हमारी क्षुद्रता का ईमानदारी से किया प्रस्तुतीकरण है। यह नाटक त्रासदी व कामदी के विरोधी तत्वों का एकसाथ निर्वहन करने और उनमे सार्थक संतुलन बनाए रखने में तथा एक तीव्र संवेदनशील अन्त तक ले जाने में विशेष रूप से सफल हुआ है। लेकिन इसके साथ ही गलत समय पर किए गए मध्यान्तर तथा अंत मे शब्दों के चमत्कार से भरा हुआ लम्बा स्वगत कथन दर्शक को नाटक के सारगर्भित प्रभाव से अलग थलग ले जाता है। मिस बेणारे की प्रमुख, चुनौतीपूर्ण और दुष्कर भूमिका को भली भांति निभाने में सुधा शिवपुरी भी पूर्णतः सक्षम सिद्ध नहीं हुई। यहां प्रसंगवश यह जोड़ना होगा कि लफ्फाजी और अन्त की ओर अति व्याख्या का यह मोह हमारे अनेक अच्छे रचनाकारों की कमजोरी है और इस बात की ओर इंगित करता है कि कहीं गहरे मे नाटककार या तो अपने फन में महारत या कथ्य की विश्वसनीयता या अपने दर्शकों की ग्रहण सामर्थ्य के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है। 'खामोश अदालत' जैसी यह कमजोरी उदाहरणार्थ, 'आधे अधूरे' व 'आषाढ का एक दिन' में भी है। इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि स्वभावतः हम हर कहानी मे एक शिक्षा और हर स्थिति में एक समाधान ढूंढने के आदी हैं।

दो अन्य महत्त्वपूर्ण नाटक बादल सरकार का 'एवं इन्द्रजित' तथा बी० एम० शाह का 'त्रिशंकु' रहे हैं। 'एवं' एक विचार प्रधान नाटक था जो किसी निर्धारित कथानक अथवा उद्देश्य की विवशता से बाधित नहीं था। इस उल्लेखनीय विशेषता के बावजूद यह नाटक कुल मिलाकर कुछ अमूर्त और तटस्थभावी रहा। 'त्रिशंकु' सार्थकता को लोकप्रियता के साथ संगम करा सका और वह एक नई तकनीक का प्रयोग करने में भी सफल रहा। उसकी प्रोफेसर व निर्देशक की भूमिकाओं मे क्रमशः बी० एम० शाह व चमन बग्गा उत्कृष्ट कलाकारों के रूप मे उभरे। 'आधे' के कथानक व 'त्रिशंकु' की शैली का अनुगमन सुरेन्द्र वर्मा ने मार्च, 1971 में प्रदर्शित 'द्रौपदी' में किया लेकिन परिणाम संतोषजनक नहीं रहा। निर्देशक एवं प्रस्तुतकर्ता के रूप में ओम शिवपुरी के कृतित्व और स्थिति की दृष्टि

से द्रौपदी' म कुछ निश्चित कमियाँ रहीं। इसी तरह जनवरी 1972 मे प्रदर्शित 'बिल्ली चली पहनकर जूता' विदेश से आने वाली हर वस्तु को श्रेष्ठ समझने की हमारी प्रवृत्ति का परिचायक बनकर सामने आया।

एक ओर जहाँ इस प्रकार बाहर से आने वाले नाटकों के प्रदर्शन हमारे यहाँ दर्शक गणो को जुटाने मे तथा रगमच क प्रति एक सामान्य चेतना जगाने म महत्वपूर्ण योगदान कर रहे थे, तो दूसरी ओर जयपुर का रंगान्दोलन मथर किन्तु निश्चित गति के साथ आगे बढ रहा था। नवम्बर, 1968 मे पिचो कपूर ने वसन्त कानिटकर के 'ढाई आखर प्रेम का' व अक्टूबर, 1969 मे पी० एल० देशपाण्डे के 'कस्तूरीमृग' का मचन किया। ये नाटक साफ-साफ परम्परागत होते हुए भी काफी रुचिकर थे। नाटक के इस क्षेत्र म रणवीर सिंह की अनुपस्थिति भी काफी खटकने वाली है जिन्होंने 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम' नाटक का शानदार निर्देशन किया था। वासुदेव व हमीदुल्ला ने मिल जुलकर मौलिक नाटको के प्रस्तुतीकरण का अभिनव और अभिनन्दनीय कार्य किया। ये नाटक थे 'उलझी आकृतियाँ' और 'एक और युद्ध'। यद्यपि 'युद्ध' एक कच्चा और भावुक नाटक था, फिर भी उसकी नम सामयिकता ने लोगो का ध्यान आकर्षित किया। आकृतियों मे एक अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय कथानक को भली प्रकार निभाने तथा स्थितियो का अधिक अच्छे तरीके से सम्भालन के चिह्न है। वासुदेव ने 'हत्या एक आकार की' स्वग के तीन द्वार' व 'पछी एसे आते हैं' जसे नाटको का निर्देशन किया, और वे नाटको के क्षेत्र म जयपुर मे अपने-आपमे एक सत्ता अथवा इस क्षेत्र के अपरिहार्य व्यक्ति बनते गए है। यदि वे रगमच पर अधिकाधिक पात्रो की भीड एकत्रित करने की प्रवृत्ति, घटना-क्रम को तीव्र गति से चलाने व सूक्ष्म व सांकेतिक के स्थान पर बहिर्मुखी और शारीरिक को पसन्द करने के आग्रह पर नियन्त्रण कर सकें तो शायद और भी अच्छा होगा।

शान्ता गाधी की लोक-नाट्य शैली पर आधारित नृत्य नाटिका 'जसमा ओढन' की एक महत्वपूर्ण स्थानीय प्रस्तुति थी। यद्यपि जसमा को इससे पूर्व इसके अन्यत्र किए गए प्रदर्शनो एव सुशील चौधरी के संगीत का लाभ मिला, फिर भी इसकी सफलता का श्रेय स्थानीय कलाकारो को ही जाता है, जो इस कृति की भावना मे गहरी पैठ करने म सफल रहे। और यदि यह भी कहे कि उन्होने अपने स्तर पर इसम सुधार कर अब तक किए गए प्रयासो को कुछ और आगे बढाया तो ठीक ही होगा। 'जसमा' के निर्देशक भानु भारती ने अपनी प्रतिभा का ज्वलत नमूना पेश किया मगर अफसोस, कि वे भी अब जयपुर म नहीं हैं।

1972 के नवम्बर माह म राजस्थान नाट्य सघ के सात्विक व सुसयोजित पृथ्वीराज-स्मृति नाट्य-समारोह ने जयपुर रगमच को नई गरिमा व आत्म-विश्वास मे मण्डित किया। एक साथ सात नाटको का प्रदर्शन जिसम

'चीन की दीवार' व 'गिनी पिग' जैसे प्रतिष्ठित प्रदर्शन शामिल थे, एक मार्के की बात थी और उत्पल दत्त ने इस मौके का उपयोग कुछ विचारोत्तेजक बातें कहने के लिए किया। कुल मिलाकर 1972 जयपुर रंगमंच के लिए उपलब्धियों का वर्ष रहा।

1973 की आशाजनक शुरुआत हुई भारतरत्न भार्गव और एच० पी० सक्सेना के संयुक्त निर्देशन में अमृतराय के नाटक 'हम लोग उर्फ यही सही होगा' के महत्वपूर्ण प्रदर्शन से हालाँकि इस नाटक में भी बाद में चलकर स्थिति का एक सतही समाधान ढूँढने की हमारी आम प्रवृत्ति ने रंग में भंग करने का काम किया। इसके पहले 'जसमा' के सह निर्देशक के रूप में यश अर्जित करने वाले भारत रत्न ने बाद में चलकर 'चित्रलेखा' को मंच पर उतारा लेकिन अनेक कारणों से वह एक कमजोर और अविश्वसनीय कृति ही रह पाई। इसी तरह जयपुर के मंच के ठोस कर्णधारों में से एक एच० पी० सक्सेना ने आगा हश्र के 'यहूदी की लड़की' को पुनर्जीवित किया, जो एक अच्छी श्रद्धांजलि थी लेकिन जिसका सम सामयिक नाट्यान्दोलन से कोई प्रत्यक्ष नाता नहीं जुड़ पाया।

अपने बाद के दो नाटकों 'समय-सन्दर्भ' और 'दरिन्दे' में हमीदुल्ला ने एक उत्तरोत्तर निखरते हुए नाट्य शिल्प का परिचय दिया है हालाँकि 'उत्तर उर्वशी' पिष्ट पेषण और हमीदुल्ला द्वारा अन्वेषित और अब तक अपनाई तकनीक के अवरुद्धता की स्थिति तक पहुँचने का द्योतक था। इन नाटकों के निर्देशक के रूप में जयपुर मंच के एक और स्थाई आधार स्तम्भ, सरताज माथुर एक कल्पनाशील व साहसिक तकनीक के धनी के रूप में उभरे हैं। कई दृष्टियों से 'दरिन्दे' जयपुर के अपने नाट्यान्दोलन का एक अविस्मरणीय मील का पत्थर है। जबकि अमेच्योर आर्टिस्ट्स ऐसोसियेशन सकेत, कल्चरल सोसायटी आफ राजस्थान जैसी संस्थाएँ अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी अपने आयोजन करती रही हैं, त्रिमूर्ति ने अपने कार्यक्रमों के क्रम में पाँच नाट्य-सध्याएँ जुलाई 1973 में और अक्टूबर, 1973 में चार नाट्य सध्याएँ तथा मोहन राकेश स्मृति समारोह आयोजित किए। यहाँ सभी नाटकों की चर्चा सम्भव नहीं है। लेकिन एक विशुद्ध कामदी के रूप में अपनी सफलता के लिए 'जलना है तो जले जहाँ', और समाज की कुछ बन्दियों को बन्दों से उधेड़ने वाले रमेश बक्शी के नाटक 'देवयानी का कहना है' को लम्बे समय तक याद किया जाएगा। दोनों के प्रस्तुतकर्ता एस० वासुदेव थे। बाहर से आए नाटकों में एक बहुचर्चित बहुप्रशंसित क्लासिक 'तलछट' (मक्सिम गोर्की के Lower Depths का अनुवाद) (यान्त्रिक, फरवरी, 1974) का जिक्र जरूरी होगा। रणजीत शिकारी ने कई लालित्यपूर्ण नृत्य-नाटिकाएँ प्रस्तुत की।

इस संक्षिप्त सिंहावलोकन में जयपुर रंगमंच के सभी पहलुओं को समेटना सम्भव नहीं था। मसलन राजधानी के विभिन्न कालेजों इत्यादि की तत्सम्बन्धी

गतिविधियो का कोई जिक्र यहाँ नही हो पाया है। इसी तरह अलग अलग कला कारो की चर्चा सम्भव नही हो पाई है। फिर भी कुछ यादगार निरूपणो का जिक्र किए बिना बात अधूरी रह जाएगी— कस्तूरी मृग' म हरिराम आचार्य जसमा ओढन और आजर' ढाई आखर' और शुतुरमुर्ग' म भारतरत्न भार्गव आषाढ और उलझी आकृतियाँ' मे मीनाक्षी 'पछी ऐसे आते है' म डी० एन० शैली 'ईश्वर अल्ला म देवेन्द्र मल्होत्रा शाबाश अनारकली' म जगदीश अनेजा, 'दरिन्द म पृथ्वीनाथ जुत्शी और अलका राव 'देवयानी' मे अरुणा सिहल, 'सखाराम बाइन्डर म रत्ना दत्ता हम लोग म एच० पी० सक्सेना व हनुमान शर्मा जलता है म श्रीचन्द माखीजा 'नेता कुर्सी प्रसाद' म नवनीत भटनागर व सामाश अदालत म मधु कालिया ने जो काम किया है उसकी तुलना कही भी कभी भी किए गए श्रेष्ठ अभिनय से बेखटके की जा सकती हैं। लेकिन इनके अलावा एक बहुत बडा वर्ग और भी है। इन नये युवा लोगो मे है ज्ञान शिवपुरी डा० वीरेन्द्र कौशिक शकर गुप्त एस० एन० पुरोहित हरिनारायण शर्मा अजय-राज अजय कार्तिक सतीश नारायण, महेन्द्र खन्ना इत्यादि जो रगमच को अपना सर्वश्रेष्ठ सहयोग दत रहे हैं और इस धारा को अच्छे और बुरे दोनो वक्तो म सतत प्रवाहमान रख हुए हैं। उभरते लोगो म से एक और नाम उदाहरण स्वरूप लेकर ही सन्तोष करना पडेगा— राजेश नारायण रेड्डी जिसने भूमिका' नेता कुर्सी प्रसाद सिंह इत्यादि के साथ एक आशान्वित करन वाला प्रवेश लिया है।

## एक रिव्यू आषाढ के एक दिन का

मोहन राकेश रचित आषाढ का एक दिन' देखने का सौभाग्य मिला। सोचता हूँ यह सक्षिप्त समीक्षा भी चल सकती तो अच्छा रहता। पर, यह चलेगी नही। जरा विस्तार म जाना होगा।

सोचकर दखता हूँ ता लगता है अपने आरम्भिक वक्तव्य को यू सुधारा जा सकता है आषाढ का एक दिन के पहले दो अक देखने का सौभाग्य मिला। क्योकि तीसरा अक नाटक की सबसे बडी कमजोरी है। वह अकारण ही नाटक के तीन प्रमुख पात्रो के साथ अनाचार करता है उनकी चारित्रिक हत्या करता है। वे तीन पात्र हैं मल्लिका विलोम और स्वय कालिदास। कालिदास का चरित्र तो खैर शुरू से ही लगडा है लेकिन इस तीसरे अक म तो वह ऐसा भर भराकर गिरता है कि दुबारा उठने की सम्भावना ही नही रहती। पता नही नाटककार ने

मातुल को क्यो लगडा बना दिया। वैसाखियो की जरूरत तो उसमे कालिदास को ज्यादा थी।

मेरा यह निश्चित मत है कि या तो कालिदास वह नहीं थे जैसा राकेश ने उन्हें दर्शाया है या वैसे ही थे तो कहना होगा कि महान् नाटककार यह रचनाकार व्यक्तिगत जीवन में निहायत ग़ैर जिम्मेदार किस्म का आदमी था या फिर हम यह मान लें कि कलाकार होता ही ऐसा है, प्रतिभा के लिए ऐसा होना जरूरी है और यदि उसके बारे में जन साधारण कुछ पूर्वाग्रह रखता है तो उसे गलत नहीं कहा जा सकता। यानी कि परिभाषा से ही वह गैर जिम्मेदार केवल खयाली और अतिशय भावनाशील, टूटन के सलीब को जानबूझकर उठाए चलने वाला होता है। बिना दुख भोगे वह लिख नहीं सकता। इसलिए स्वयं भी दुख भोगता है और (भुगतने के लिए) दूसरों को भी दुखी रखता है। वह प्रेम करता है एक से, विवाह करता है दूसरी से और सन्तान उत्पन्न करता है तीसरी से अनधिकृत जाता है अपुरस्कृत लौटता है, और आत्महत्या की वैसी ही कोशिश करता है जैसी यशपाल ने एक कहानी में अकित की है।

मैं शायद कुछ ज्यादा कठोर हो गया हूँ लेकिन सचमुच मैं यह नहीं समझ पाया कि कालिदास की ऐसी दुर्गति करना क्या जरूरी है?

जो व्यक्ति एक हिरन के बच्चे के लिए जान देने को तैयार हो जाता है वहीं अपनी प्रियतमा को छोड़ एकाएक ऐसे चला जाता है मानो वह नितान्त सवेदनाहीन है। जिसको लेकर वह महाकाव्य रचता है उसी बालसगिनी से, काश्मीर जाते हुए वह मिलने तक नहीं आता। बाद में यह दवाग्रस्तनुमा कालिदास लौटता है और राजकपूरियन अन्दाज में लम्बे-लम्बे भाषण देता है और आखीर में करीब-करीब एक चोर की तरह स्टेज से चला जाता है। बेचारा! यदि मोहन महर्षि और सरताज माथुर ने मोहन राकेश के कालिदास के साथ न्याय किया है तो कहना होगा कि राकेश का कालिदास एक भूसा भरा हुआ ढीला-ढाला रुग्ण किस्म का हीरो है, जैसा अक्सर उसके यक्ष को बगाल स्कूल के चित्रकारो द्वारा दिखाया जाता है। मैं नहीं जानता कि ऐतिहासिक कालिदास से यह चित्रण कहाँ तक मेल खाता है।

अब आइये विलास पर। उसे 'विलन' बनाने के लिए उसे तीसरे अक में शराब पिए दिखाया गया है। भला बताइये, बिना शराब के भी कहीं विलेन की कल्पना करना सम्भव है? दवानन्द ने गाईड में मार्को को शराब पीते क्या यू ही दिखा दिया? पता नहीं राकेश ने विलास के लिए एक वारागना का भी जगाड़ क्यो नहीं किया। उसकी जरूरत शायद इसलिए नहीं पड़ी कि खुद मल्लिका से यह रोल अदा करवा दिया गया। क्या यह सब जरूरी था? क्या यह अवश्यम्भावी है कि प्रतिभा के लिए समाज और उस प्रतिभाशाली व्यक्ति के आसपास के लोग टूटकर

गिरते रहें, बलि होते रहें और जब सब कुछ टूट रहा हो धराशायी हो रहा हो तो यह मूर्ति जनाब कलाकार साहब खुद इस मलबे में मुकाबिल करते हुए आ गिरें। जेंह-जेंह पाँव पड़े सन्तन के तेंह-तेंह बंटाधार। ध्वस्त-मुग्ध सभ्यता के अतिशय ध्वस्त मुख लखवा का एक जीवन, योग भोग और शान को यथास्थान रखने वाली और अपनी से नितान्त भिन्न सभ्यता के ऐतिहासिक पात्र पर यह अपनी खुद की उलझी, अपराध भावना से ग्रस्त और आत्मक्षयी इमेज लादने का आग्रह क्यों? किसी ने पूछा कलाकारजी उदास क्यों हैं? कलाकारजी बोले—क्या बताऊँ मैं बहुत दिनों से इतिहास में अपना प्रतिमान ढूंढ रहा हूँ मिल नहीं रहा।

जिन्दगी में ट्रेजडी वैसे ही क्या कम है कि उसका आरोपण भी किया जाए? धनाभाव और वैधव्य के बोझ क्या कम है जो अम्बिका पर यह दुःख और लाद दिया जावे कि उसकी बेटी का बाय फ्रेंड उसे छोड़कर चला गया है और लड़की कुआंरी बैठी है? हम रिसते रहे हैं, लुट रहे हैं यह बात साबित करने के लिए क्या यह जरूरी है कि कालिदास को इस तरह पेश किया जाय कि वह कालिदास के अलावा और सब कुछ लगे, सरोजिनी नायडू की शब्दावली में 'द्वितीय श्रेणी के माडेल की पंचम श्रेणी की अनुकृति' लगे?

अब देखिए न ज्यादा बोलना भी बुरा और ज्यादा लिखना भी। वह एक वाक्य वाली समीक्षा क्या बुरी थी। गलत भी नहीं थी क्योंकि अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद 'आषाढ़ का एक दिन' (हाँ एक ही दिन क्यों तीन दिन क्यों नहीं और तीनों दिन आषाढ़ के ही क्यों?) एक उपलब्धि है और जैसा उसे पेश किया गया वह स्वयं में एक दिल गर्माने वाला और कहीं कहीं रोमांचक अनुभव था। अनुदर्शन में यह प्रस्तुतीकरण जयपुर के लिए एक ऐतिहासिक घटना मानी जाएगी। अम्बिका के रूप में रमा पाडेय ने, मल्लिका के रूप में मीनाजी ने, मातुल के रूप में नन्दलाल शर्मा ने और विलोम के रूप में अरुण माथुर ने अविस्मरणीय अभिनय किया है। कालिदास समेत अन्य पात्र, कुल मिलाकर फेरीकैंचस ही हैं लेकिन सरताज माथुर और इला पाडेय अपनी भूमिकाओं के साथ पूरा न्याय भी नहीं कर पाये। निर्देशन, मंच सज्जा, प्रकाश व्यवस्था, बैकग्राउण्ड संगीत के उपयोग की जितनी तारीफ की जाए कम है। और हां, राज-कर्मचारियों की कार्य प्रणाली तथा शहरी 'स्निच स्कालर्स' की कार्य विधियों पर जो व्यंग्य किया गया है, वह सटीक भी है और शुद्ध हास्य की सृष्टि करने में समर्थ भी। शिकायत केवल एक है लेकिन क्या उसे दोहराना जरूरी होगा? नहीं न, राकेश जी! आपने लिखा है कि यह नाटक आपने थोड़ा-बहुत यहां वहाँ से खास तौर पर तीसरे अंक का दुबारा है। लेकिन क्या यह सम्भव नहीं कि आप इसे भी उसी तरह दुबारा लिखें जैसे आपने 'लहरों के राजहंस' को लिखा?

## 'आधे अधूरे'—अधूरे आधार वाला पूरा नाटक[1]

एक देखने मे अच्छा भला परिवार क्या चख चख करती प्रेतात्माओ का मज-मूआ बन जाता है ? क्योकि पुरुष (पति) अधूरा आदमी है पहले माँ बाप और बाद म दास्ता पर निभर रहने वाला लुज पुज है ? क्योकि नारी (पत्नी) इस अधूरपन को भरने क लिए हर उस पुरुष की ओर भागती है जिसे वह उस समय पूरा समझती है ? क्योकि परिवार का बडा लडका ऊबा हुआ और नाकारा है, बडी लडकी विवाह करके दु खी और लाछित है छोटी लडकी उपेक्षित होकर बिगड रही है ? और सबके ऊपर, चूकि परिवार आर्थिक रूप से विपन्न है, पुरुष घरघुसरा, निठल्ला असफल है ?

यानी कई परतें हैं त्रासदी की एक के ऊपर एक या एक-दूसरे मे गडडम-गडड । लेकिन इनम मूल और प्रमुख पत यदि है ता कौन सी है ? और क्या यह इस एक विशिष्ट परिवार की कहानी है या हर परिवार की, मानवा के हर उस समूह मानकी जो साथ रहने को और एक दूसरे का झेलते जाने को मजबूर है ?

ये कुछ सवाल ह जा 'दिशान्तर द्वारा बुधवार को प्रस्तुत मोहन राकेश के नए नाटक आधे अधूरे को देखने के बाद उभरते हैं ।

पहले ता यह स्वीकारोक्ति कि नाटक पढने समय मैंने यह नही सोचा था कि वह नाटकीय तत्त्वो म इतना प्रचुर है व उसका इतना सफल प्रस्तुतीकरण सम्भव है । लेखक राकेश और प्रस्तुतकर्ता ओम शिवपुरी दोनो को बधाई ।

लेकिन जो एक बात कहने जैसी लगती है वह यह है कि महेन्द्रनाथ पति, का तथाकथित चारित्रिक अधूरापन पूरे नाटक का सम्भालने और प्रामाणिक बनाने के लिए अधूरा आधार है और इसीलिए नाटककार को त्रासदी के अन्य, अपेक्षाकृत आम या सामान्य उपादाना, जैसे पत्नी की महत्त्वाकाक्षा, परिवार की विपन्नता छोटी लडकी की कैशोयकालीन समस्याओ इत्यादि का उपयोग करना पडा है उसी तरह जैसे एक नितान्त दूसरे स दभ म ताजमहल के केन्द्रीय गुम्बज को वास्तुशिल्पीय पूणता देने के लिए चारा कोना पर मीनारो की कल्पना की गई । यही कारण है कि जब तक नाटक त्रासदी के सभी घटको और उपादानो को लेकर चलता है जैसा हम जानते हैं जिन्दगी म होता भी है नाटक विश्वसनीय रहता है लेकिन जब नाटक के आखिरी हिस्से म सावित्री के लम्बे सवाद के दौरान नाटककार पूरा बोझ महेन्द्रनाथ के अधूरेपन और दब्बूपने पर रखने लगता है ता लगता ह जैस किसी ने पिरामिड को उसके शीर्ष पर खडा कर दिया है ।

दूसर शब्दा म अन्य सहयोगी कारणो के साथ चारित्रिक अधूरेपन का एक

---

1 राजस्थान पत्रिका 8 3-1969

कारण परिवार के ह्रास का होना तो समझ मे आता है लेकिन केवल उस अधूरेपन व दोस्तनवाजी से परिवार गरीब हो गया, घर मे एक काली छाया या हवा व्याप्त हो गई जिसे बडी लडकी पतिगृह म ले गई, पति पत्नी हिंस्र दरिंदे बन गए, घर बदनाम हो गया पत्नी पुश्चलता की सीमा तक आ गई—यह ज़रा कम प्रामाणिक लगता है।

दूसरी तरह से कहना चाहे तो यह कहा जा सकता है कि यदि इस अधूरेपन को आधार बनाना ही था तो उसका बेहतर निर्वाह जरूरी था, बिना त्रासदी के दूसरे तत्त्वो को बीच म लाये।

इसी तरह नाटक के प्रारम्भ मे काले सूट वाले आदमी द्वारा बोला गया लम्बा कृत्रिम और बोझल एकालाप नितान्त अनावश्यक है और उसे निकाल देना शायद नाटक के सघात को तीव्रतर ही करेगा।

अस्तु इन प्रश्नो पर दूसरी तरह भी सोचा जा सकना सम्भव है। लेकिन कुल मिलाकर यह एक अच्छा नाटक है। प्रस्तुतीकरण त्रुटिहीन था मच सज्जा व प्रकाश व्यवस्था सूझबूझ पूर्ण। पूरे नाटक पर अपनी चार भूमिकाओ मे ओम शिवपुरी छाये रहते है लेकिन इसका यह अर्थ नही कि शेष चारो कलाकारो, सुधा शिवपुरी, अनुराधा कपूर, रिचा व्यास और दिनेश कुमार ने उच्चतम स्तर का अभिनय नही किया है।

एक अच्छा नाटक, एक सफल प्रस्तुतीकरण, एक विचारोत्तेजक शाम।

## बिखराव का नाटक, बिखरा सा[1]

जयपुर फैस्टिवल के दौरान 'त्रिशकु' के बाद इतवार को प्रदर्शित दिशान्तर का 'द्रौपदी' (लेखक सुरेन्द्र वर्मा निर्देशक ओम शिवपुरी) जयपुर के रगमच जगत की अगली प्रमुख घटना थी। लेकिन दु ख है कि अपने लेखकीय और रग मचीय दोनो पक्षो मे 'द्रौपदी' एक कमजोर और असफल प्रयास रहा।

ऊब टूटन, बिखराव तनाव, शोर टूटते परिवारो और यान्त्रिक सभ्यता से उत्पन्न विसगतियो का चित्रण अब भारतीय रगमच के लिए भी नई बात नही रही हैं। मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' मे यही सब था 'त्रिशकु' का कथाधार भी यही सब त्रासदी के उपादान बनते है। 'द्रौपदी' निश्चय ही 'आधे अधूरे' और

1 'राजस्थान पत्रिका', 14 3-71

त्रिशंकु' के ही वैचारिक और थीमेटिक धरातल पर खड़ा है। उसकी कथा बहुत कुछ 'आधे अधूरे' वाली कथा है (अन्तर केवल यह है कि उसकी नायिका कई पुरुष रूपों के पीछे भागती है और यहाँ एक स्त्री अपने ही पति में छिपे पाँच पुरुष रूपों को झेलने के लिए मजबूर है) और उसके प्रस्तुतीकरण मुखौटों का उपयोग इत्यादि पर 'त्रिशंकु' की छाप है। लेकिन न तो उसमें 'आधे-अधूरे' वाली बनावट है और न 'त्रिशंकु' वाला चमत्कार, न तो सामान्य को असामान्य और असामान्य को सामान्य बनाकर पेश करने वाला राकेश का मँजा हुआ व्यावसायिक कौशल है और न ही बी० एम० शाह के मंच संयोजन की अभिनव सूझ-बूझ और चमक वगैरा वाला प्रखर मंचीय व्यक्तित्व।

पहले कथानक की बात करें। एक उच्च मध्यवर्ग का नौकरीपेशा आदमी है मनमोहन खन्ना—विवाह और जिन्दगी में ऊबा हुआ, खण्डित जिन्दगी को अपने अन्दर छिपे विभिन्न और परस्पर विरोधी व्यक्तियों द्वारा जीने जाने को मजबूर। एक वह स्वयं है, एक अच्छाई की ओर उन्मुख उसका अन्तर्मन, एक सफलता प्राप्त सुख-सुविधा का खोजी दुनियादार, एक विवाह से ऊबा, दूसरे बिस्तरों में एन्द्रिक-सुख का अन्वेषी और एक दफ्तर का मशीनी, प्रताड़ित कारकुन। और मनमोहन की पत्नी है सुरेखा—पति के पाँच व्यक्तित्वों के पाण्डवों की द्रौपदी।

कहना होगा कि नाटक का नामकरण ही गलत है। यह कहानी पाण्डवों की है द्रौपदी की नहीं, जैसे 'आधे अधूरे' में नायिका प्रधान कथा पर पाँच पुरुष पात्रों के अधूरेपन से प्रेरित शीर्षक आरोपित किया गया है वैसे ही यहाँ नायक की कथा को नायिका को इंगित करने वाला शीर्षक दिया गया है। सोचता हूँ इसे 'पांडव' कहते तो कैसा रहता या फिर 'आधे अधूरे' और 'द्रौपदी' के शीर्षक आपस में बदल देते तो?

लेकिन मनमोहन हमेशा से ऐसा नहीं था। शुरू के दिनों में वह एक सालिम व्यक्ति, सफल व्यवसायी, प्रेमी पति और स्नेही पिता था। फिर उसकी खुद की गलतियों और बिखरती जाती तेज रफ्तार जिन्दगी ने सब कुछ बिगाड़ दिया बच्चों को, पति पत्नी सम्बन्धों को, दफ्तर में उसकी स्थिति को। आज के अधिकतर महत्वपूर्ण नाटकों की तरह यह भी सनातन समस्याओं को और उलझाती समसामयिकता का नाटक है। लेकिन इस कथा का बयान करने के ढंग जुदा जुदा हैं। कुछ नाटककार इसको सहज सरल विश्वसनीय ढंग से कहते हैं जैसे 'कस्तूरी मृग' में देशपाण्डे और 'खामोश अदालत जारी है' में विजय तेन्दुलकर। एक दूसरा तरीका नव रूमानवाद का रूप है जिसमें असम्भाव्य को एक आकर्षक और कृत्रिम यथार्थवाद के रूप में पेश किया जाता है। 'द्रौपदी' में 'आधे-अधूरे' वाला यही दूसरा तरीका अपनाया गया है। अन्तर केवल एक है मोहन राकेश ने त्रासदी के उपादान बटोरने शुरू किये तो सभी सम्भावित चारित्रिक कमजोरियों के साथ

नायक की आर्थिक विपन्नता को भी लपट लिया, सुरेन्द्र वर्मा ने गरीबी के बिना काम चला लिया है।

लेकिन और मायनों मे 'द्रौपदी' मे सतही विश्वसनीयता के नीचे बहुत कुछ है जो अविश्वसनीय और मात्र लेखक के मनोससार मे उपजा और सस्थित है। नर-नारी सम्बन्धो की ही वात ले लीजिये। दिल्ली जैसे महानगरो के कुछ उच्चवर्गीय परिवारो की वात छोड दें तो कितने हैं ऐसे परिवार जिनमे अजना से पहले रजना और अजना के बाद मन्दा वाली चटखारेदार स्थिति रहती है ? अश्लील इस नाटक मे कुछ नही है। जिनको इस नाटक म कुछ अश्लील लगता है उनके बौद्धिक विकास या उनके मेदे मे कुछ गडवड है। कहने लायक बात यह है कि द्रौपदी के नर-नारी सम्बन्धो के चित्रण म एक सतही, किशोर मुहफटपन और कौशल या 'फिनेस' की अनावश्यक कमी है। खेद है कि इस मामले मे श्री सुरेन्द्र वमा ने मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' वाला मॉडल अपनाया है। लेकिन सैक्स जैसी गहरी चीज का पगता मे ढालना परिपक्व नाटककारिता नही है।

नाटक का पहला अक ता खैर, फिर भी गनीमत है, लेकिन दूसरा अक तो अनावश्यक भाग-दौड, चिल्ल-पुकार और फ्लैश बका और सिलहूटा की भरमार के कारण एकदम अधकचरा और प्रभावहीन हो गया है। एक व्यक्ति के पाच रूप और उनमे से किसी एक के बोलन पर मनमोहन का इस कदर हडकम्प मचाना ? नाटककार ने सूत्र ता वहुत से फैला लिए है लेकिन वे उससे सम्भलते नही, ताना ता डाल लिया है वाना नही पड पाता।

सुरेन्द्र वर्मा का शायद यह पहला वडा नाटक है, इसलिए इन कमजोरिया के बावजूद भविष्य मे उनसे बेहतर चीजो की अपक्षा की जा सकती है। लेकिन श्याम शिवपुरी का क्या हुआ ? पात्रा का सचालन, अभिनय, लाईटिंग निर्देशन के सभी प्रमुख अग स्तर से नीचे है। उदाहरण के लिए अजना रस्तोगी का प्रसग तो मच के बायें सामने वाले कान मे पश किया गया है लेकिन अनिल वर्मा और अल्का-राजेश वाले दश्य मच के पीछे काफी निचल धरातल पर सयोजित किए गये है—जिससे नकावें और भी अप्रिय लगन लगती हैं। और इसी के साथ जुडा हुआ एक अन्तिम प्रश्न। स्पाट लाइटा के उपयाग और प्रकाश व्यवस्था के परिवतना से नाटक के प्रभाव को वढाना तो बिलकुल जायज है लेकिन इसी चीज का इतना आगे बढना कि पूरे टाइम लाइटा की गुपचुप चलती रहे क्या उचित है ? इतना अनावश्यक रूप से उलझा हुआ प्रकाश सयोजन साथ लेकर हम अपनी नव-नाटय विधा का कितनी दूर और कितनी जगहो पर ल जा सकेगे ?

# लोकप्रिय नाटक ? अच्छा नाटक ?[1]

8 नवम्बर को जयपुर म पृथ्वीराज कपूर की स्मृति म आयोजित नाट्य समारोह का उद्घाटन करते हुए उत्पलदत्त न कुछ विचारोत्तेजक बातें कहा भारत मे उपलब्ध सास्कृतिक व भाषाई विभिन्नताओ के परिप्रेक्ष्य मे किसी एक राष्ट्रीय रगमच की बात बेमानी है। नाटको की सेंसरशिप का कानून सुधार की अपेक्षा रखता है—नाटककार का कानून लागू करने वालों से कम जिम्मेदार मानना मूलत गलत है। किसी प्रदेश का सच्चा थियेटर उसकी जनभाषा म ही हो सकता है और इस दृष्टि से राजस्थानी रगमच का उद्भव अभी होना है। नाटक के क्षेत्र मे पश्चिम का अन्धानुकरण न उचित ह न जरूरी, क्योकि वहाँ के वाद यहाँ आते आते बासी हो चुकत हैं और खुद हमारी परम्पराओ मे आधुनिक समझे जा। वाले तत्त्व पहले स मौजूद हैं। अन्य साहित्यिक विधाओ के मुकाबले मे नाटक कही अधिक आज और अभी की चीज है— उसे अपने रचनाकाल म ही स्थापित अथवा अस्वीकृत होना होता है इसलिये दशको स उसका तादात्म्य जरूरी है, हमारे दशक रामायण व महाभारत म निगूढ दशन को आत्मसात कर सकत हैं इसलिये नाटको के लोकप्रिय न होन की बात दशको की तथाकथित नासमझी पर लाकर नही तोडी जा सकती।

इस आखिरी बात की ही चर्चा नाट्य-समारोह के नाटको के विशिष्ट सदभ म आज हम करेंगे।

यह तो स्पष्ट ही है कि पिछले 25 वर्षों मे एक नये प्रकार का शहरी रगमच हमारे बीच विकसित हुआ है। नई कहानी और नई कविता के वजन पर हम उसे 'नया नाटक' भी कह सकते हैं। जिस प्रकार खत्री स लेकर कमलेश्वर तक का और हरिऔध' से लेकर सर्वेश्वर तक का सफर हमारे उपन्यास और कविता ने तय किया है, वैस ही हमारा नाटक भारतेन्दु से लेकर राकेश तक पहुँचा है। यह नाटक अपने पूववर्तियो की तुलना म अधिक मध्यवर्गीय, सामाजिक सदभ प्रधान, व्यक्तिवादी और विज्ञानवादी समस्यामूलक और बौद्धिक है। उसने काल स्थान और कथानक की त्रयी को तोडा है और प्रयोगधर्मिता को अपनाया है। फ्रायड, युग, बकेट, ब्रेख्त, जने और सात्र इत्यादि का प्रभाव उसके ऊपर गहरा पडा ह।

अत यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि हमारा यह नया नाटक सस्कृत और लोक नाट्यो की परम्परा तथा अपने पूववर्ती नगरीय रगमच पारसी थियेटर, धार्मिक ऐतिहासिक नाटको नौटकी इत्यादि सभी से अलग हटकर अपने आपको

---

1 'राजस्थान पत्रिका' 2 12 1972

स्थापित करने की कोशिश करता रहा है। लाज़िमी तौर पर उस एक नये सिरे से अपना दर्शक वर्ग बनाने की ज़रूरत पड़ गई है। बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि जहाँ पहले से स्थापित पारम्परिक रंगमंच पर ही क्रमशः नये किस्म के समस्यामूलक नाटक खेले जाने लगे थे और एक सहज संक्रमण संभव हो गया था, की बात छोड़ दें तो यह अलग-अलग कक्षाओं में स्थापित नाटक और दर्शकवर्ग की स्थिति है। ग्रामीण व्यक्ति की तो खैर बात ही छोड़ दें, आम शहरी व्यक्ति को भी आज का नाटक अपरिचित, उलझा हुआ और उलझा देने वाला लगता है। दूसरी ओर पारम्परिक नाट्यरूप या तो उसे उपलब्ध नहीं हो पाते या वे उसको बचकाने और बेमानी लगते हैं। इस शून्य को भरा है फिल्मों ने अपने सतही फूहड़ पचरंग मनोरंजन से। शास्त्रीय संगीत और समानान्तर सिनेमा की तरह नया नाटक एक सीमित वर्ग का शौक, नशा या स्टण्ट है और यही कारण है कि घूम फिरकर इने गिने लोग या दल उन्हीं उन्हीं चेहरों या खाली कुर्सियों के लिए नाटक करते पाये जाते हैं। इधर के दिनों में स्थिति कुछ सुधरी ज़रूर है लेकिन अभी भी नये नाटक को एक सुनिश्चित दर्शक वर्ग मिलना शेष है।

यहाँ दो एक बातें तो खैर शुरू से ही कही जा सकती हैं। एक तो यह कि हमारा नाटककार अपने रचना धर्म अपने अन्दर के आवेग और नये उफान भरे सोच को प्रकट, मूर्त कर पाने की प्रक्रिया में इतना लिप्त है कि अक्सर उसे दर्शक के दृष्टिकोण से सोचने का अवकाश नहीं होता या फिर वह इसके लिए अपनी कृति में कोई फेरबदल नहीं करना चाहता। दूसरी बात यह है कि वैसे भी कला के क्षेत्र में होने वाले हर अभिनव प्रयोग को आम लोगों की स्वीकृति मिलते मिलते समय तो लगता ही है और फिर भी यह सुनिश्चित नहीं होता कि समाज के सभी वर्ग उसे अपना लेंगे।

इसीलिए यह इच्छा करना कि नाटक का दर्शक-वर्ग विस्तृत हो और यह अपेक्षा रखना कि नाटक सिंसियर हो दिखावटी नहीं, सहज हो चमत्कार और चतुराई का नहीं, प्रयोगधर्मी हो—लेकिन ओढ़ी हुई अनावश्यक दुरूहता से आक्रान्त न हो एक बात है और यह सोचना या कहना कि केवल मात्र दर्शकों की संख्या से किसी नाटक के अच्छे या बुरे होने का फैसला किया जा सकता है बिल्कुल दूसरी। उत्पलदत्त प्रेक्षागृह में आम आदमी को देखना चाहते हैं, ज़रूरी हो तो उसके लिए नुक्कड़ों पर नाटक करना चाहते हैं लेकिन क्या उनकी अभिनीत फिल्म भुवन शोम इतवार के इतवार चलती है इसी से उसको बुरा कहा जा सकता है? और इस संदर्भ में रामायण महाभारत की चर्चा भी बहुत प्रासंगिक नहीं।

असल में यह प्रश्न हमारे पूरे आर्थिक सामाजिक परिवेश से भी जुड़ा हुआ है। कहाँ और कितने लोगों के पास है वह शिक्षा, समृद्धि और फुरसत जो उनको मनोरंजन के साथ मनोमंथन के लिए भी तैयार रहने और मनोरंजन के मामले

## लोकप्रिय नाटक ? अच्छा ना

8 नवम्बर का जयपुर म पृथ्वीराज कपूर की समारोह का उद्घाटन करते हुए उत्पलदत्त न युद्ध भारत म उपलब्ध सास्कृतिक व भाषाई विभिन्नताअ राष्ट्रीय रगमच की बात बेमानी है। नाटकों की स अपेक्षा रखता है—नाटककार का कानून लागू क मानना मूलत गलत है। किसी प्रदेश का सच्चा ि हो सकता है और इस दृष्टि से राजस्थानी रगमच नाटक क क्षेत्र म पश्चिम का अधानुकरण न उचित बाद यहाँ आते-आते बासी हो चुकते हैं और खुद हम समझे जाने वाले तत्त्व पहले स मौजूद हैं। अन्य म मे नाटक कहीं अधिक आज और अभी की चीज है- स्थापित अथवा अस्वीकृत होता हाता है इसलि जरूरी है, हमारे दशक रामायण व महाभारत म ि सकते हैं इसलिये नाटकों के लोकप्रिय न होने क नासमझी पर लाकर नहीं तोडी जा सकती।

इस आखिरी बात की ही चर्चा नाटय-समार मे आज हम करेंगे।

यह तो स्पष्ट ही है कि पिछले 25 वर्षों म ए हमारे बीच विकसित हुआ है। नई कहानी और ' 'नया नाटक' भी कह सकते हैं। जिस प्रकार ख और 'हरिऔध से लेकर सर्वेश्वर तक का सफर तय किया है, वस ही हमारा नाटक भारतेन्दु र यह नाटक अपने पूर्ववर्तियों की तुलना म अधिक प्रधान, व्यक्तिवादी और विज्ञानवादी समस्य काल, स्थान और कथानक की त्रयी को तोडा ह है। फ्रायड, युग, बैकेट ब्रेख्त, जने और सात्र गहरा पडा है।

अत यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि और नाक नाटयो की परम्परा तथा अपने पूर्वव धार्मिक ऐतिहासिक नाटकों नौटकी इत्यादि स

1 'राजस्थान पत्रिका', 2 12 1972

तिकता न उसके प्रभाव को कम किया। चीन की दीवार मेक्स फिश का प्रसिद्ध प्रहसन है—जिसमे एक ग्रार ग्राज की विभीषिका ग्रौर विसगतियो को भूतकाल स जाडा गया है ग्रौर दूसरी ग्रोर ग्राज के सदर्भो म गुजर हुए दिना की महानता ग्रौर तदवीरा की ग्रप्रासगिक्ता को उकेरा गया है। लेकिन एक तो नाटक का प्रस्तुतीकरण कमजोर था ग्रौर दूसरे रोन लायक वात पर हँसन की तक्नीक ने ग्राम दशका को पशोपेश मे रखा। सप्रेषण की यही समस्या तिराड ग्रौर 'गिनीपिग' मे ग्रौर भी गहरे रूप म उपस्थित हुई। गुजराती म खेले गये तिराड' म पति-पत्नी ग्रौर पत्नी की बहन के बीच चलने वाले घात-प्रतिघात ता खैर समझ मे ग्राये लेकिन ग्राधी स्टेज का घेरकर कमरा न० 71 की ग्रायोजना की उपादयता ग्रस्पष्ट रही। चीन का दीवार' की भाँति गिनीपिग' भी हर युग मे ग्रलग ग्रलग मुखौटे पहनकर सतत मौजूद रहते ग्राये उत्पीटन ग्रौर शाषण के सयन्त्रो की कहानी कहता है। लेकिन दशक के सामन वही समस्या रहती है। 'शतरज के मोहरे म वह दूसरा पर हँसता है। एक पीडाविहीन सुखद कथार्सिस का ग्रनुभव करता है। लकिन गिनीपिग' दखते हुए वह शकालु हो उठता है कि नाटककार उस खुद ग्रपन ऊपर हमने खुद ग्रपन गरेबान मे झाकने के लिए तो प्रवत्त नही कर रहा ? ग्रौर जाहिर ह कि ग्राम दशक ग्रपने मनोरजन के कवाब मे गुत्थिया, शकाग्रा, उलझनो ग्रात्मावलाकन की इन छाटी-वडी हड्डियो को ज्यादा पसन्द नही करता।

ग्रस्तु विभिन्न प्रकार के ऐसे नाटको से ही ग्राधुनिक नाटक का सतरगी ग्रौर समकालीन तानाबाना वुना हुग्रा है। गिनीपिग' ग्रपनी जगह उतना ही सफल [illegible]त्त्वपूण है जितना 'शतरज के मोहर । य नाटक निरन्तर नई जमीन तोड दशक पदा कर रहे हैं ग्रौर विभिन्न कोणो, विविध तक्नीका स [illegible] ग्रौर सक्रमण के इस युग की तस्वीरे हमारे सामन पश कर रहे हैं। [illegible] मफल ग्रौर उपयोगी ग्रायाजन था। कुलभूषण खरबदा [illegible] कादर खाँ, कलाश पडया ग्रौर ग्रलका राव इत्यादि [illegible] किया जावगा। टिकट दरें ज्यादा थी ग्रौर [illegible] था। बेहतर उद्घोषणाग्रा मे इनम म कई [illegible] लाया जा सकता था।

## टँगा नाटक—"हम लोग"[1]

ग्रौर एक है हमारा ग्रधेरा ससार। ससार

म जाराम उठाने के लिए भी प्रवृत्त कर ? कितने लोग हैं जो नाटक के लिए दस या पाच रुपय खर्च करके अपने का अपने से एक निमम साक्षात्कार की स्थिति म डालना चाहग ? हमे स्वीकारना होगा कि अभी हमारी जनता का बहुत बडा प्रतिशत किसी गम्भीर समस्या के गम्भीर विवेचन की बजाय हल्का-फुल्का मनोरंजन मागता है। फामूला फिल्मों, फिल्मी गीतो और मैगजीनो और सतही रूमानियत क उपन्यासो की अकूत लोकप्रियता इसी तथ्य को रेखांकित करती है। ऐस म नाटक का अच्छा होना महज नायक बात को दखने लायक ढग स पेश करने वाला होना काफी है। जाहिर है कि जान-बूझकर और अनावश्यक रूप म पैदा की गई जटिलता का कोई हामी नहीं हो सकता और न यह जरूरी है कि अच्छे नाटक का मुह हमेशा बावडे की तरह लटका हुआ हो क्योंकि शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि स भी अच्छा नाटक लिखा जा सकता है।

नाट्य समारोह मे खेले गय सात नाटको को अब हम ऊपर कही गई बातो की कसौटी पर कस रखें। सबसे ज्यादा जो नाटक पसन्द किया गया वह पी० एल० देशपाण्डे का 'शतरज के मोहरे' या 'कस्तूरी मृग' था, जिसे इप्टा ने बडी दक्षता म खेला। यह एक उदाहरण है ऐसे नाटक का जो एक हजार राता तक खेला जा सकता है और जिसे जैसा मुहावरा है बच्चे, बूढ, जवान और स्त्रियाँ सभी पसन्द करेंगे। नाटक मे त्याग तप और सेवा के बडबोले वितण्डावाद और एक सहज सरल सच्चे जीवन क्रम की टकराहट का सजीव सम्पूर्ण और रोचक चित्रण है। नाटक हँसाता है तो रुला भी सकता है। लेकिन इस सबके साथ ही नाटक मे अनिर्जता है समस्या का सरलीकरण और हास्य तथा करुणा के लिए हर परिस्थिति का एक चतुर लेकिन फिर भी कारास दोहन है। वह कुछ-कुछ ऋषि केश मुखर्जी की 'आनन्द, गुड्डी' और 'बावर्ची' फिल्म जैसा है। वह हमको दपण दिखाकर बेचैन नहीं करता बल्कि हम अन्तमन म जो होना चाहते हैं और हो नहीं पाते उस पर हँसकर और हम हँसाकर हमको आश्वस्त कर देता है।

'एक और युद्ध' और 'जसमा ओडन' भी पसन्द किये गये क्योंकि व हँसते हँसाते रहे और दर्शक को उलझन स बचाये रहे। दर्शक का 'एक और युद्ध' की नायिका की उलझन मे कुछ विशेष लेना-देना नहीं है। वह उसके घर के परिवेश की मनकियो पर कहकहे लगाकर फिर उस परिवेश की तमाम विसंगतियो के साथ निरपेक्ष सह अस्तित्व की स्थिति मे लौट आता है।

इसके विपरीत 'हयवदन' और 'चीन की दीवार' बहुत अच्छे नाटक होते हुए भी कम लोगो के पल्ले पड़े। 'हयवदन' सिरो की अदला-बदली की पुरानी कहानी को लोकनाट्य की शैली म ढालकर नारी हृदय की चिरन्तन दुविधा और आधुनिक जीवन के खण्डपन स जोडता है। वह एक बहुत सुन्दर और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है लेकिन कहीं-कहीं उसकी धीमी गति और अस्पष्ट सांकेे

तिकता न उसके प्रभाव का कम किया। चीन की दीवार मक्स फिश का प्रसिद्ध प्रहसन है—जिसमे एक ओर आज की विभीषिका और विसगतिया का भूतकाल स जोडा गया है और दूसरी ओर आज के सदर्भो म गुजर हुए दिनो की महानता और तदबीरा की अप्रासगिकता का उकेरा गया ह। लकिन एक तो नाटक का प्रस्तुतीकरण कमजोर था और दूसरे रात लायक बात पर हसने की तकनीक ने आम दशका का पशोपेश म रखा। सप्रेषण की यही समस्या तिराड' और 'गिनीपिग' म और भी गहरे रूप म उपस्थित हुइ। गुजराती म खेल गय तिराड' मे पति-पत्नी और पत्नी की बहन के बीच चलने वाले घात प्रतिघात ता खर समझ मे आय लेकिन आधी स्टेज का घेरकर कमरा न० 71 की आयोजना की उपादयता अस्पष्ट रही। चीन की दीवार' की भाँति गिनीपिग' भी हर युग मे अलग अलग मुखौटे पहनकर सतत मौजूद रहते आय उत्पीडन और शापण के सयत्रा की कहानी कहता है। लेकिन दशक क सामन वहा समस्या रहती है। 'शतरज क माहरे' म वह दूसरा पर हसता है। एक पीडाविहीन सुखद कैथार्सिस का अनुभव करता है। लकिन गिनीपिग' दखते हुए वह शकालु हो उठता है कि नाटककार उस खुद अपने ऊपर हँसने, खुद अपने गरेबान मे भाकने के लिए ता प्रवृत्त नही कर रहा ? और जाहिर ह कि आम-दशक अपने मनोरजन के बजाब म गुत्थिया शकाआ, उलझना आत्मावलाकन की इन छोटी-बडी हुड्डिया को ज्यादा पसन्द नही करता।

अस्तु विभिन्न प्रकार क इन नाटका स ही आधुनिक नाटक का सतरगी और समकालीन तानाबाना बुना हुआ है। गिनीपिग' अपनी जगह उतना ही सफल और महत्वपूर्ण है जितना शतरज के मोहरे'। य नाटक निरन्तर नई जमीन तोड रहे है नय दशक पैदा कर रह है और विभिन्न कोणो विविध तकनीका स अनिश्चय, सत्रास और सक्रमण क इस युग की तस्वीर हमार सामन पश कर रहे हैं।

नाट्य समारोह एक सफल और उपयोगी आयोजन था। कुलभूषण खरबदा कीमती आनन्द मुरारि घोष कादर खाँ, कैलाश पडया और अलका गव इत्यादि का अभिनय लम्बे समय तक याद किया जावेगा। टिकट दरें ज्यादा थी और प्रस्तुतीकरण का काई एक ढर्रा नही था। बहतर उद्घोषणाओ स इनमे स कई नाटकों का दशका के और नजदीक लाया जा सकता था।

## दुविधा के सींगो पर टँगा नाटक—"हम लोग"[1]

एक अधेरा डिब्बा है रेल का। और एक है हमारा अधेरा ससार। ससार

---

1 राजस्थान पत्रिका', 4 1 1973

म जोखम उठाने के लिए भी प्रस्तुत करे ? कितने लोग हैं जो नाटक के लिए दस या पाच रुपये खर्च करके अपने को अपने से एक निमम साक्षात्कार की स्थिति मे डालना चाहेंगे ? हमे स्वीकारना होगा कि अभी हमारी जनता का बहुत बडा प्रतिशत किसी गम्भीर समस्या के गम्भीर विवेचन की बजाय हल्का फुल्का मनोरंजन मागता है। फामूला फिल्मो फिल्मी गीतो और मैगजीनो और सतही रूमानियत के उपन्यासो की अकूत लोकप्रियता इसी तथ्य को रेखांकित करती है। एस म नाटक का अच्छा होना कहने लायक बात को दिलचस्प लायक ढग से पेश करने वाला होना काफी है। जाहिर है कि जान-बूझकर और अनावश्यक रूप से पैदा की गई जटिलता का कोई हामी नही हो सकता और न यह जरूरी है कि अच्छे नाटक का मुह हमेशा थोबडे की तरह लटका हुआ हो क्योकि शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि म भी अच्छा नाटक लिखा जा सकता है।

नाट्य समारोह मे खेल गये सात नाटको का अब हम ऊपर कही गई बातो की कसौटी पर कस देखें। सबसे ज्यादा जो नाटक पसन्द किया गया वह पी० एल० देशपाण्डे का 'शतरंज के मोहरे' या 'कस्तूरी मृग' था, जिसे इप्टा ने बडी दक्षता से खेला। यह एक उदाहरण है ऐसे नाटक का जो एक हजार रातो तक खेला जा सकता है और जिसे जैसा मुहावरा है बच्चे बूढे जवान और स्त्रियाँ सभी पसन्द करेंगे। नाटक म त्याग, तप और सेवा के बडबोले वितण्डावाद और एक सहज सरल सच्चे जीवन क्रम की टकराहट का सजीव सम्पूर्ण और रोचक चित्रण है। नाटक हँसाता है तो रुला भी सकता है। लेकिन इस सबके साथ ही नाटक मे अतिरंजना है समस्या का सरलीकरण और हास्य तथा करुणा के लिए हर परिस्थिति का एक चतुर लेकिन फिर भी कायास दोहन है। वह कुछ-कुछ ऋषि केश मुखर्जी की आनन्द गुड्डी और बावर्ची' फिल्म जैसा है। वह हमको दपण दिखाकर बचन नही करता बल्कि हम अन्तमन म जो होना चाहते हैं और हो नही पाते उस पर हसकर और हमे हँसाकर हमको आश्वस्त कर देता है।

एक और युद्ध और जमना ओढन भी पसन्द किये गये क्योकि वे हमने हँसाते रहे और दशक को उलझन से बचाये रहे। दशक का 'एक और युद्ध' की नायिका की उलझन से कुछ विशेष लेना देना नही है। वह उसके खुद के परिवेश की झलकियो पर कहकहे लगाकर फिर उस परिवेश की तमाम विसंगतियो के साथ निरपेक्ष सह अस्तित्व की स्थिति म लौट आता है।

इसके विपरीत हयवदन और 'चीन की दीवार' बहुत अच्छे नाटक होते हुए भी कम लोगो के पल्ले पडे। हयवदन सिरो की अदला बदली की पुरानी कहानी को लोकनाट्य की शैली म ढालकर मारी हृदय की चिरंतन दुविधा और आधुनिक जीवन के बेमलपन से जोडता है। वह एक बहुत सुन्दर और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है लेकिन कही-कही उसकी धीमी गति और अस्पष्ट सारे

तिक्ता ने उसके प्रभाव को कम किया। 'चीन की दीवार' मेक्स फिश का प्रसिद्ध प्रहसन है—जिसमे एक ओर आज की विभीषिका और विसगतियो का भूतकाल से जोडा गया है और दूसरी ओर, आज के सदर्भो म गुजरे हुए दिनो की महानता और तदबीरो की अप्रासगिकता का उकेरा गया है। लेकिन एक तो नाटक का प्रस्तुतीकरण कमजोर था और दूसरे रान लायक बात पर हँसने की तकनीक न आम दशको को पशोपेश म रखा। सप्रेषण की यही समस्या तिराड और 'गिनीपिग' म और भी गहरे रूप से उपस्थित हुई। गुजराती म खेले गय तिराड' मे पति-पत्नी और पत्नी की बहन के बीच चलने वाले घात प्रतिघात तो खैर समझ मे आये लेकिन आधी स्टेज को घेरकर कमरा न० 71 की आयोजना की उपादेयता अस्पष्ट रही। चीन की दीवार' की भाति गिनीपिग' भी हर युग म अलग-अलग मुखौटे पहनकर सतत मौजूद रहते आये उत्पीडन और शोषण के सयनो की कहानी कहता है। लेकिन दशक के सामने वही समस्या रहती है। शतरज के मोहरे' मे वह दूसरा पर हँसता है। एक पीडाविहीन सुखद कथार्सिस का अनुभव करता है। लेकिन गिनीपिग' दखते हुए वह शकालु हो उठता है कि नाटककार उस खुद अपने ऊपर हसने खुद अपने गरेबान मे झाकने के लिए तो प्रवृत्त नही कर रहा ? और जाहिर है कि आम-दशक अपने मनोरजन के कबाब म गुत्थियो, शकाओ उलझनो आत्मावलोकन की इन छोटी-बडी हड्डियो को ज्यादा पसन्द नही करता।

अस्तु विभिन्न प्रकार के ऐसे नाटको से ही आधुनिक नाटक का सतरगी और समकालीन तानावाना बुना हुआ है। गिनीपिग' अपनी जगह उतना ही सफल और महत्त्वपूर्ण है जितना शतरज के मोहरे। य नाटक निरन्तर नई जमीन तोड रहे हैं, नये दशक पैदा कर रहे हैं और विभिन्न कोणो विविध तकनीको से अनिश्चय सत्रास और सक्रमण के इस युग की तस्वीर हमारे सामने पश कर रहे हैं।

नाट्य समारोह एक सफल और उपयोगी आयोजन था। कुलभूषण खरबदा कीमती आन द सुवाल धाप कादर खा, कैलाश पड्या और अलका राव इत्यादि का अभिनय लम्बे समय तक याद किया जावेगा। टिकट दरें ज्यादा थी और प्रस्तुतीकरण का कोई एक ढर्रा नही था। बेहतर उदघोषणाओ स इनमे स कई नाटको का दशको के और नजदीक लाया जा सकता था।

## दुविधा के सीगो पर टँगा नाटक—"हम लोग"[1]

एक अधेरा डिब्बा है रेल का। और एक है हमारा अधेरा ससार। ससार

1 राजस्थान पत्रिका', 4 1 1973

अंधेरा तो क्या है—अच्छा भला सूरज रोज उगता है उसमें अंधेरा है हमारी अपनी जीवन-व्यवस्था का। अंधेरा है हमारी अपनी जेहनियत का। सर मुसाफिरों से भरा वह अंधेरा डिब्बा प्रतीक है इस समष्टि का, जैसे हम इस बने समाज में रहते हैं न लड़ते भगड़ते टुच्चेपन के साथ चिक चिक करते उद्यमविहीन, रात बीतते वैसी ही हालत उन मुसाफिरों की है। जो शंकर ने लिखा है न 'चौरंगी' में-सृष्टि में जितना आनन्द था जितना सौन्दर्य था सारा कुछ पशु और अविचारी मनुष्यों ने समाप्त कर दिया है। बच गया है केवल दुख किसी के लिए भी कहीं भी सुख का एक भी कण नहीं है।

हाँ तो तात्कालिक समस्या अंधेरे की है। डिब्बे में तरह-तरह के लोग हैं। बातवीर हैं हाथवीर है बकवासी हैं, भरवादी हैं। सात-सात बच्चे पैदा करके भारतमाता की गोद हरी रखने वाले मानव-कृषि पंडित हैं नकली मरहम बेचने वाला है नकली अम्मा है एक सिगरेट फूँकने वाला है तो एक धूम्रपान के सारे खतरे जानने वाला। और सबसे बढ़कर एक आसन्न प्रसवा नारी और है एक युवक जो खासतौर पर इस नारी की खातिर बिजली वाले की तलाश में भटकता रहता है। और हाँ, एक सूत्रधार है जो इस प्रतीक को समष्टि से जोड़ता चलता है एक गहन निराशावादी वक्तव्य बार बार देकर। यानी कि हम लोग एक अंधेरे ताबूत में बन्द सफर कर रहे हैं। एक मन्द अपने चेहरे पर मुस्कराहट पेंट कर रहा है। बार-बार हँसते हुए एक दर्दनाक चीख मौत के कुएँ में चक्कर काट रही है। मर्मान्तक पीड़ा को भोगते हुए हम अट्टहास करने लगते हैं। दर्शक एक मजेदार तमाशे के इंतजार की मुद्रा में है वगैरह।

लाइट नहीं आती, नवयुवक प्लेटफार्म की बदहवास भीड़ में परेशान पूछता घूमता रहता है। लेकिन बिजली वाला न हुआ गोया भगवान हो गया है—मिलता नहीं। बल्कि भगवान से मिलाने का धन्धा करने वाले भोलेश्वर महाराज तो मौजूद भी हैं। नहीं है कोई तो बिजली वाले का अता पता जानने वाला हालांकि सब यही कहते हैं—यहीं कहीं होगा।

हताश युवक डिब्बे में लौट आता है। अब वह डिब्बे के लोगों को अपनी मदद आप करने के लिए ललकारता है। एक मजबूत सहयात्री (स्वयं वह युवक नहीं!) को डिब्बे की दीवार में सिर मारने के लिए तैयार किया जाता है। ताबूत की दीवार पर चोट पड़ती है। प्रकाश आता है। चला जाता है। दुबारा सिर का एक्शन फ्रीज। सूत्रधार का स्वगत ताबूत सफर धुआँ पेट जरूरत के पेट पर हाथी का पाँव। नाटक की समाप्ति। नाटक यानी अमृतराय का हम लोग उर्फ 'यहीं कहीं होगा' जिसे कल्चरल सोसायटी ऑफ राजस्थान ने रवीन्द्र मंच पर जयपुर में 30 दिसम्बर और 1 जनवरी को पहली पहली बार मंचित किया।

मूल नाटक मैंने पढ़ा नहीं है। लेकिन इतना तो जाहिर ही है कि उसमें काफी

कुछ जोडा गया है मचीकरण के सिलसिले मे। नेताग्रो के भाषण इत्यादि के दृश्य या तो जोडे गए हैं या लम्बे खीचे गए हैं। अ्रत पर कुछ कुछ 'सकेत' के 'जस्मा ग्रोढन' के उस परिवर्तित ग्रन्त की झलक है जिसके ग्रतगत राजा का ग्रोढा के ग्रागे हार मानते दिखाया गया है। जन समूह वाले दृश्यो के सयोजन ग्रौर सवादो की ग्रदायगी ने 'एक ग्रौर युद्ध की याद ताजा की।

जो भी हो। यह तीसरे ग्रक म जनता को कम मे प्रवृत्त हाने का ग्राह्वान ग्रौर जनता के, एक भोंडे प्रतीक द्वारा ही सही, सचमुच कमरत हा जाने की 'ग्रादश' परिणति ही नाटक की सबसे बडी कमजोरी बन गई है। यहा नाटक जान-बूझकर दुविधा के सीगो पर टग जाता है। एक ग्रोर तो उसका ग्राग्रह है तावूत से बाहर निकलने का माग दिखाने, 'ग्रप्प दीपा भव' के दशन की विजय दिखाने का। इसस जनित मजबूरी मे वह सिर की चोट से बिजली सुधरवाने तक पर उतर ग्राता है—माना विजली सुधारने के लिए ग्रामतौर पर ही कनेक्शन जाचने फ्यूज़ बाधने इत्यादि की नही हथौडे के साथ ठोकापीटी की दरकार रहती हा। लेकिन दूसरी ग्रार वह इस प्रतीक को चरम स्थिति तक निबाहने म भी ग्रपने का विवश पाता है क्योकि यदि इस विकट प्रयोग के द्वारा ही सही, बिजली सच-मुच ग्रा जाती है तो प्रतीक का तिलस्म जा, प्रतीक ही की भाषा म, ग्रधेरे मे ही परवान चढा है, एक हास्यास्पद प्रकाश के एटी-क्लाईमेक्स म घुल जाना है। इसी दुविधा म पडकर नाटक एक बार फिर जो जरूरत से एक बार बहुत ज्यादा साबित होता है 'सूत्रधार शरण गच्छामि' की राह पकडता है।

हम लोग' की समस्या उन तमाम नाटको की है जो रोने वाली बात का ठहाके वाले ग्रायोजन के साथ पेश करते हैं। दूसरे शब्दा मे, यह उन तमाम गभीर प्रह सनो या व्यग्य नाटको की समस्या है जिनकी विषयवस्तु मानव स्थिति की हँसती हुई चीख है ग्रौर जो 'हम लाग' म ही ग्रधेरे डिब्बे के एक यात्री के शब्दा म, 'हँसे ना तो क्या करें, कितना ग्रधेरा है' वाले विद्रूप से मुखातिब होते है। ऐसे नाटक मे यदि हास्य पक्ष प्रबल हो जाए, यदि हास्य कचोटने का माध्यम नही, क्लोरोफाम हो जाए तो वह लाख लोकप्रिय सही मात्र एक कामडी या हास्य रचना हाने के नजदीक पहुँच जाता है जैसा पी० एल० देशपाण्डे के 'कस्तूरी मग' के साथ हुग्रा है। यदि मसखरापन स्वय ग्रपने ग्रापमे एक पूरा नाटक बन जाए ग्रौर नाटक की गभीर ग्रन्तकथा से न जुड पाय तो नाटक का प्रहसन-पक्ष प्रधान हा जाता है जैसा 'एक ग्रौर युद्ध' ग्रोर शुतुरमुग मे होते हम देख चुके हैं। इसके विपरीत यदि मजाक ग्रौर प्रतीक बहुत गभीर हो जाये, जनता की ग्रहण शक्ति स ऊपर ऊपर होकर निकल जाएँ तो भी, गिनीपिग की तरह नाटककार जो चीख सुन पा रहा है, उसे दशको तक सम्प्रेषित नही कर पाता। ग्रादश स्थिति वह है जिसम दशक हँसते हँसते ठिठककर सोचने पर गरेबान मे भाँकने के लिए मजबूर हा जाए ग्रौर

अधेरा तो क्या है—अच्छा भला सूरज रोज उगता है उसम अधेरा है हमारी अपनी
जीवन-व्यवस्था का अधेरा है हमारी अपनी जेहनियत का। मर, मुसाफिरा स
भरा वह अधेरा डिब्बा प्रतीक है इस समष्टि का जैस हम इस बडे समाज म रहते
हैं न लडत भगडते, टुच्चेपन के साथ चिच चिच करते, उद्यमविहीन, रोत भीकते
वैसी ही हालत उन मुसाफिरो की है। वा शकर ने लिख, है न 'चौरगी' म-सष्टि म
जितना आनन्द था जितना सौन्दय था सारा शुद्ध पथ्वी म अविचारी मनुष्या न
समाप्त कर दिया है। बच गया है केवल दु ख किसी क लिए भी कही भी सुख का
एक भी कण नही है।

हा ता तात्कालिक समस्या अधेरे की है। डिब्ब म तरह-तरह क लाग हैं।
वानवीर हैं हाथवीर है ककशान्ती हैं, भक्तवादी हैं। सान-दरसाल बच्च पैदा करन
भारतमाता की गाद हरी रखने वाले मानव-कृषि पडित हैं नकली मरहम बचने
वाला है नकली अन्धा है एक सिगरेट धौकने वाला है तो एक धूम्रपान के सारे
खतरे जानने वाला। और सबसे बढकर एक आसन्न प्रसवा नारी और है एक युवक
जो खासतौर पर इस नारी की खातिर बिजली वाल की तलाश म भटकता रहता
है। और हा एक सूत्रधार है जो इस प्रतीक को समष्टि स जाडता चलता है,
एक गहन निराशावादी वक्तव्य बार बार देकर। यानी कि हम लाग एक अधेरे
ताबत म कन्द सफर कर रहे हैं। एक न्द अपने चेहरे पर मुस्कराहट पट कर रहा
है। बार-बार हसते हुए एक ददनाक चीख मौत के कुएँ मे चक्कर काट रही है।
मर्मान्तक पीडा को भोगते हुए हम अट्टहास करन लगते हैं। दशक एक मजेदार
तमाशे के इतजार की मुद्रा म है वगरह।

लाइट नही आती नवयुवक प्लेटफाम की बदहवास भीड म परेशान पूछता
घूमता रहता है। लेकिन बिजली वाला न हुआ गोया भगवान हा गया है—मिलता
नही। बल्कि भगवान से मिलाने का दम भरन वाले 'भोगेश्वर महाराज तो
मौजूद भी है। नही है कोई तो बिजली वाले का अता पता जानने वाला हालाकि
सब यही कहते है—यही कही होगा।

हताश युवक डिब्बे म लौट आता है। अब वह डिब्बे के लोगो को अपनी मदद
आप करने के लिए ललकारता है। एक मजबूत सहयात्री (स्वय वह युवक नही।)
का डिब्ब की दीवार स सिर मारने के लिए तयार किया जाता है। ताबूत की
दीवार पर चोटें पडती है। प्रकाश आता है। चला जाता है। दुबारा सिर का
एक्शन फ्रीज़। सूत्रधार का स्वगत ताबूत सफर कुआँ पेट, जररता के पेट पर
हाथी का पाँव। नाटक की समाप्ति। नाटक यानी अमतराय का हम लोग उफ
यही कही होगा' जिसे कल्चरल सोसायटी आफ राजस्थान ने रवीन्द्र मच पर जय
पुर मे 30 दिसम्बर और 1 जनवरी को पहली पहली बार मचित किया।
मूल नाटक मैंने पढा नही है। लेकिन इतना तो जाहिर ही है कि उसम काफी

कुछ जोडा गया है मचीकरण के सिलसिले मे। नेताग्रो के भापण इत्यादि के दृश्य या तो जोडे गए है या लम्बे खीचे गए है। अन्त पर कुछ कुछ 'सकेत' के 'जस्मा ग्रोढन' के उस परिवर्तित अन्त की झलक है जिसके अ तगत राजा को ग्रोढा के आग हार मानते दिखाया गया है। जन समूह वाले दृश्यो के सयाजन और सवादा की अदायगी ने 'एक ग्रौर युद्ध' की याद ताजा की।

जो भी हो। यह तीसरे अक म जनता को कम मे प्रवत्त होने का आह्वान ग्रौर जनता के एक भोंडे प्रतीक द्वारा ही सही, सचमुच कमरत हा जाने की 'ग्रादश' परिणति ही नाटक की सबसे वडी कमजोरी बन गई है। यहा नाटक जान-बूझकर दुविधा के सीगो पर टग जाता है। एक ग्रोर तो उसका ग्राग्रह है ताबूत स वाहर निकलन का माग दिखाने ग्रप्प दीपा भव' के दशन की विजय दिखाने का। इससे जनित मजबूरी मे वह सिर की चाट से बिजली सुधरवाने तक पर उतर ग्राता है—माना बिजली सुधारने के लिए ग्रामतौर पर ही कनेक्शन जाँचने, फ्यूज बाधने इत्यादि की नही हथौडे के साथ ठोकापीटी की दरकार रहती हा। लेकिन दूसरी ग्रार वह इस प्रतीक को चरम स्थिति तक निवाहने मे भी अपने को विवश पाता है क्योकि यदि इस विकट प्रयोग के द्वारा ही सही, बिजली सच-मुच ग्रा जाती है तो प्रतीक का तिलस्म जा, प्रतीक ही की भाषा म ग्र धेर मे ही परवान चढा है, एक हास्यास्पद प्रकाश क एटी-क्लाइमेक्स मे घुल जाता है। इसी दुविधा म पडकर नाटक एक बार फिर, जो जरूरत से एक बार बहुत ज्यादा साबित हाता है, 'सूत्रधार शरण गच्छामि' की राह पकडता है।

'हम लोग' की समस्या उन तमाम नाटको की है जो रोने वाली वात का ठहाके वाले ग्रायोजन के साथ पेश करते हैं। दूसरे शब्दा मे, यह उन तमाम गभीर प्रह-सना या व्यग्य नाटका की समस्या है जिनकी विषयवस्तु मानव-स्थिति की हँसती हुई चीख है ग्रौर जो 'हम लोग' म ही ग्र धेर डिब्बे के एक यात्री के शब्दो मे, हँसे ना ता क्या करें, कितना ग्र धेरा है' वाले विद्रूप से मुखातिब होते हैं। ऐसे नाटक मे यदि हास्य पक्ष प्रबल हो जाए, यदि हास्य कचाटने का माध्यम नही, क्लारोफॉर्म हो जाए तो वह लाख लाकप्रिय सही, मात्र एक 'कामेडी' या हास्य रचना होने के नजदीक पहुँच जाता है जैसा पी० एल० देशपाण्डे के कस्तूरी मग' के साथ हुग्रा है। यदि मसखरापन स्वय अपने ग्रापम एक पूरा नाटक बन जाए ग्रौर नाटक की गभीर अन्तकथा से न जुड पाय तो नाटक का प्रहसन पक्ष प्रधान हा जाता है जैसा 'एक ग्रौर युद्ध' ग्रौर शुतुरमुग' म होते हम देख चुके हैं। इसके विपरीत यदि मजाक ग्रौर प्रतीक बहुत गभीर हो जाये जनता की ग्रहण शक्ति स ऊपर-ऊपर हाकर निकल जाएँ तो भी 'गिनीपिग' की तरह नाटककार जो चीख सुन पा रहा है, उसे दशको तक सम्प्रेपित नही कर पाता। ग्रादश स्थिति वह है जिसमे दशक हँसते हँसते ठिठककर साचने पर गरबान मे झाँकने के लिए मजबूर हो जाए ग्रौर

जिसमें सारे हँसने हँसाने और ताल के जल पर छाई काई की लेन्दे के अन्दर से, स्थिति के मर्म का शूल, वह हमीं की चीज़, एक लाल-लाल तपती शलाख की तरह हमारी चेतना का छेद देने पर उतारू उसके पास तक बढ़ी चली आए। तेंदुलकर के 'खामोश अदालत' में इन परस्पर विरोधी आवश्यकताओं का काफी सफल निर्वाह हुआ है अन्त के अतिनाटकीय एकालाप के बावजूद। ऐसी ही कुछ धारणा हाल में ब्रेख्त के 'सेटजुआन की भली औरत' को देखते हुए बनी थी।

इस कसौटी पर—और शायद यह बड़ी ही कठिन कसौटी है—कसने पर हम 'हम लोग' में एक कचाई पाते हैं। उसके हल्के फुल्केपन जिसका निर्वाह खूब बहुत खूब हुआ है और उसके सूत्रधार की भस्योमुखी, निराश उद्घोषणाओं के बीच सूत्र काफी खिचाव झेलता झेलता अन्त तक टूट जाता है। शायद यह न होता यदि प्रारम्भिक हल्केपन के बाद एक गम्भीर क्लाइमेक्स की ओर, हास्योद्रेक के समस्त प्रलोभनों को ठुकराते हुए, निश्चित रूप से बढ़ा जाता। मसलन युवक हताश लौटता है और पाता है कि शिशु हो भी चुका है और डिब्बे के अँधेरे के खिलाफ एक नन्ही बगावत करके लाट भी गया है और मुसाफिर हैं कि अपना-अपना सामान बटोरकर दूसरे, अँधेरे ही, डिब्बों में जा बैठे हैं क्योंकि पूरी ट्रेन अँधेरी है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रगतिवादी' अन्त के आकर्षण ने नाटक के अन्त को काफी हद तक प्रभावहीन बना दिया है और शायद तीसरा अंक न होता तो नाटक एक ज्यादा गहरा, अभीष्ट प्रभाव छोड़ता।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि अपने वर्तमान रूप में नाटक का कोई हासिल ही नहीं है। हमारे नाटकों पर अक्सर विदेशी माडलों को ज्यों का त्यों आयातित करने का आरोप लगता रहा है। कुछ दूसरे नाटक हैं जिनमें तथाकथित निम्न मध्य वर्ग पर दूसरे दूसरे वर्गों का अभिजात्य जो शायद स्वयं लेखक का है, हावी होता दीखता है। इस सबसे परे 'हम लोग' की आत्मा और परिवेश दोनों विशुद्ध भारतीय और प्रामाणिक रूप से निम्न मध्य वर्गीय हैं। दूसरे नाटक दर्शक को बाँधता है और, तीसरे अंक के अलावा, उसकी बनावट और पकड़ में कहीं ढील नहीं आती।

जहाँ तक प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध है जयपुर की उभरती हुई नाट्य प्रतिभाओं ने एक बार फिर से अपना लोहा मनवाकर छोड़ा है। अपने रोल में ऐसी निमग्नता ऐसा सम्मिलित उत्साह ऐसी नैसर्गिकता और तुरतबुद्धि किसी भी मजे मजाये व्यावसायिक दल के लिए स्पर्धा की चीज़ हो सकते हैं। महेन्द्र खन्ना का नारसिंह पर लट्टू युवक अजीज खाँ का सिगरेट विरोधी सम्भ्रान्त अजयराज का मरहम बेचने वाला, सक्सेना का फायरमैन पृथ्वी जुशी का धमगुरु और नेता, हनुमान शर्मा का ग्रामीण 'दाना' इत्यादि कुछ ऐसे 'करिश्मे' हैं जो अर्से तक याद रहेंगे। वीरेन्द्र कौशिक ने युवक की भूमिका में पर्याप्त श्रम किया है

लेकिन वे अपने मचीय व्यक्तित्व में अपेक्षित खुरदरापन और आत्मविस्मरण न ला पाए। नन्दलाल शर्मा ने एक बार फिर दिखा दिया कि अनुकूल भूमिकाओं में वे कितने ऊँचे उठ सकते हैं। ध्वनि प्रभाव, मंच-सज्जा, दृश्य सयोजन, मेकअप सभी अपनी जगह खूब थे। एच० पी० सक्सेना, भारतरत्न भार्गव और उनके सभी नौजवान साथियों को ढेर सी बधाई!

## कुछ नाटक कुछ नोट्स[1]

तारीख 14 जुलाई। रवीन्द्र मंच जयपुर। लिटिल थियेटर ग्रुप, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'का माता को पिता हमारे'। मूल मराठी सुरेश खरे हिंदी अनुवाद जीत शर्मा, निर्देशक बी० एम० शाह। दो बचपने की परिधि को लांघते बच्चे —देवी और प्रकाश। भटका हुआ पिता दीनदयाल प्रिया देसाई का प्रेमी, माँ प्रभा। माँ-बेटा-बेटी, सखाराम की मदद से एक मनोरंजक षड्यन्त्र करते हैं, दीनदयाल को सही रास्ते पर लाने का और सफल होते हैं। एक चुस्त मनोरंजक, कसावट वाला नाटक, पेशेवर कौशल व अनुभवजन्य सहजता के साथ प्रस्तुत। हर मिनिट में एक हँसी, 'हजार राता' तक दिखाए जाने के लिए उपयुक्त 'कस्तूरी-मृग' (पी० एल० देशपाण्डे) का जोड़ीदार भाई! अवास्तविक लेकिन मनोरंजक एक अच्छी बनाई हुई बम्बईया फिल्म जैसा।

निर्मिति' और अभिसारिका' द्वारा संयुक्त रूप से प्रस्तुत पांच थियेटर रातें। पाँच में से तीन नाटक— जलता है तो जले जहाँ' 'को माता को पिता हमारे और 'पैसा, पैसा, पैसा'—विशुद्ध मनोरंजनात्मक प्रहसन और आयोजन खूब सफल। आयोजन पर की गई मेहनत के अलावा क्या यह सफलता इस बात की भी सूचक है, कम-से-कम कुछ अंशों में, कि हम सब हल्के फुल्के मनोरंजन की तलाश में रहते हैं—मनोरंजन जो 'अदरक के पंजे' से लेकर कस्तूरी मृग' तक के दो ध्रुवों के बीच ही घूमता रहता है! वही विश्लेषण और समसामयिक सन्दर्भ के सूचक नाटक के ऊपर बहुमत के नाटक भरपेट भोजन के बाद भरपूर मनोरंजन वाले नाटक को तरजीह दिए जाने की बात। लोग अक्सर व्यावसायिक रंगमंच की आवश्यकता की बात करते हैं। लेकिन क्या व्यावसायिकता 'को माता को पिता' जैसे निरापद नाटकों के सम्मोहन से ऊपर उठ पाएगी?

1 'चतुरंग' राजस्थान पत्रिका, 19-9 73

वासुदेव का प्रस्तुतीकरण 'जलता है तो जले जहाँ' कई बार पेश हो चुका है। एक विशुद्ध सफलता। वासुदेव नयनी धनी विधवा के रोल में खूब जमे हैं लेकिन असली दोनों आयशा के रोल में पुष्पा व्यास बहुत कमउम्र लगती हैं। वासुदेव की नैसर्गिक प्रतिभा कामदी में ही खिलती है और उनके अभिनय के स्वाभाविक अललटप्प, टंग इन चीक' के दाज को ऐसी भूमिकाएँ बहुत रास आती हैं।

कामदी में जो वासुदेव की मदद करता है वही तत्त्व गम्भीर नाटकों में एक जिद्दी कमजोरी बन जाता है यह बात 'एवं इन्द्रजित' के बाद 'त्रिशंकु' के मामले में फिर स्पष्ट हो गई। वासुदेव, मुझे लगता है, गम्भीरता से ऊबने लगते हैं और देर या सबेर हर नाटकीय परिस्थिति को अधगम्भीर- विद्रूप के मोड़ पर ला खड़ा करते हैं। बी०एम० शाह का 'त्रिशंकु' इधर के हिन्दी नाटकों में बहुत गौरवपूर्ण स्थान रखता है। मैं उसे एक पूरे ट्रैण्ड के प्रतिनिधि के रूप में देखता हूँ और जिन्होंने आज से बारेक साल पहले 'दिशान्तर' के लिए स्वयं बी० एम० शाह द्वारा प्रस्तुत उसका रूप देखा है, वे मानेंगे कि भली तरह पेश किया जाए तो यह नाटक सम्भावनाओं से किस कदर भरपूर है। लेकिन वासुदेव के 'त्रिशंकु' ने बेहद निराश किया। उनका नाट्य निर्देशक (जगदीश अनेजा) सीधे-सीधे एक टटपूँजिया नौटंकी कम्पनी वाले स्तर पर उतर आता है जिसकी जबान पर स्टानिसलावस्की और नेशनल स्कूल आफ ड्रामा की चर्चा नितान्त अप्रासंगिक और अविश्वसनीय लगती है। उनके पात्र महज हँसाने की कोशिश में बड़बोल, सतही और असंगत हो जाते हैं और इस प्रकार नाटक की जो नहीं गहरे कचोटने वाली अन्तकथा है उसका झीना सूत्र झटके से टूट जाता है और नाटक उस पारम्परिक राजा-रानी वाली शुरुआत से भी, जिसको लेकर दर्शकों के इन्कार से ही नाटक शुरू होता है बदतर हो जाता है। वासुदेव और अनेजा क्षमा करेंगे—पूरे समय बी० एम० शाह और चमन बग्गा याद आते रहे।

कला विथिका के समसामयिक दृश्यकाव्य के बारे में लिखते हुए नाटक पर निर्देशक के प्रभुत्व को लेकर एक लेखक ने तीन खतरे गिनाये हैं। पहला है निर्देशक द्वारा दर्शकों को अपनी चतुराई दिखाने की कोशिश में भटका पाठकों का प्रयोग और इस सिलसिले में नाटककार के इरादों को व्याख्यायित करने की अपनी आधारभूत जिम्मेदारी का विस्मरण।

मारे राजनीति का ही अभिशाप नहीं है कि नाटक को भी भटका सकते हैं। ब्रेख्त की एक मशीनी तकनीक थी एलियनेशन की—दर्शकों को एहसास कराते रहना कि जो वे देख रहे हैं नाटक है, असली नहीं ताकि नाट्य घटनाक्रम का संघात और वस्तुस्थिति से उसका वैषम्य, सम्पूर्ण एकात्मकता और वास्तविक परिवेश का विस्मृति में कहीं खो न जाए। उदाहरण के लिए 'सेंटजुआन की भली औरत' में पानी बेचने वाला वांग दर्शकों से मुखातिब होता है और जो तीन देवता

सैटजुआन म आते है वे अधाश मे दवनाओ क कार्टून है और बकाया मे हमारे आपके जाने—देखे सहज मानव। ब्रैख्त का एक और सिद्धात था जिसके अनुसार अभिनता यह जाहिर कर देते है कि वे वह नही हैं जो वे अभिनीत कर रह है, कि वे तो केवल एक खास उद्देश्य स कुछ पात्रो को पेश भर करके दिखा रहे है, यानी अभिनेता का अपनी भूमिका से एकात्मीकरण का एकदम उलट।

लेकिन लगता है कि ये तथा ऐसे ही कुछ दूसरे सिद्धात अब बुरी तरह स पीटे जाने लगे हैं। अब हर तीसरे नाटक मे अभिनेता दशक से बातचीत करते हैं, यह लटका पुराने स्वगत का स्थान ले बैठा है। और मज की बात यह है कि ज्यादातर हालता म इसका उद्देश्य दशक को नाटक के भ्रमजगत स अलग रखने का नही बल्कि उसको खीच-खाचकर नाटक से बाध रखने की कोशिश है और इस रूप म यह नाटककार या निर्देशक म आत्मविश्वास की कमी दिखाने का जरिया बन जाता है। 'आधे-अधूरे' म काले सूट वाला अविश्वसनीय चरित्र एक बेहद बनावटी और पूर्णरूप से गैरजरूरी भाषण झाडता है। अमृतराय का 'हम लाग' बीच-बीच म तावत और हँसती हुई चीख वगैरह क उदघोष के बिना हम पेश नही कर पाते। 'देवयानी का कहना है' म साधन बार-बार बालकनी म आकर कभी इस साहब कभी उस साहब स जुडने की कोशिश करता है—बिना पर्याप्त कारण के और पूरे नाटक को कमजोर करते हुए।

इसी तरह की स्थिति पुरानी अभिनेता प्रधान नाटकीय अभिनय शैली की जगह लेने वाले नये लटको-झटकों को लेकर देखी जा सकती है। अब हर दूसरे नाटक म अभिनेता हाथ म हाथ लेकर घूमते नाचते, वले करते, लिख लिख या इसी तरह पर एक-मे एक जुड जाने वाले वाक्याश कहते, समूहा म जुडते और बिखरते दीखते हैं। यह नई नाटकीयता है, नया फैशन है जिसके उपयोग म पर्याप्त सावधानी न रखी गई तो वह पुराने फशनो जैसा ही अग्राह्य व उबाऊ हो जाएगा। 'त्रिशकु' ने इस सब का उपयोग किया है और खूब किया है। दूसरी ओर खामोश अदालत म ऐसा कोई 'आधुनिक' लटका नही है और उसको यह कमी एक महान कृति बनने से नही रोक सकी है।

ब्रैख्त के 'यह महज नाटक है' के सिद्धात का भी यह मतलब नही है कि हम नाटक को भूलकर ठिठोली और बचकानेपन पर उतर आएँ माना कहारो ने वधू की डोली को ना बीच सडक मे छोड दिया हो और सडक के किनारे पसरकर हँसी ठट्ठे मे लग गए हो। मुख्य उद्देश्य नाटक के सघात को तीव्र बनाना है। ब्रख्त शायद मनुष्य के आँसू म हँसी की किरण का झिलमिलाकर उसके दद की अनुभूति को गहरा करना चाहता था। 'सटजुआन की भली औरत' म सारी अटपटी विचित्रताओ, परिहासा और पात्रो की भीड के बीच मानव स्थिति मे अन्तर्निहित दद गूँजता है जबकि हम कभी-कभी उसे छिछलेपन के स्याहीसाख मे

गुम कर देने की हरकत कर बैठते हैं।

नई नाटकीयता, चतुराई और ओढ़ी हुई बौद्धिकता के नाटक का हश्र एक बार हमने 'दिल्ली चली पहनकर जूता' में देखा था। दुबारा बलराज पण्डित के 'पाँचवां सवार' (मंकेन, मानु भारती, रवीन्द्र मंच 7 जुलाई) में देखा। ये वो नाटक हैं जो 'अल्पमत' के नाटक को अल्पमत का ही बनाए रखने का काम करेंगे। जब ऐसे नाटक, नाटक को साधारण जन तक ले जाने के मंतव्य के साथ पेश किए जाते हैं तो एक विरोधाभास जन्म लेता है।

मेरा विरोध प्रयोगधर्मिता से नहीं, मुग्धता से है और इस नाटक में एक भोगे हुए यथार्थ को उकेरने की नहीं, एक सोचे हुए, मानसिक विलास में से अद्भुत कृत्रिम यथार्थ की छायाभ्रम को वास्तविक पात्रों के पल्ले बाँध देने, सीधी बात को टेढ़े, छद्म चमत्कारिक ढंग से कहने और कटु वस्तुस्थिति पर प्रभाव पैदा करने के लिए एक बनावटी स्वच्छिन्नता का आच्छादन करने की प्रवृत्तियाँ मुझे दीखीं। सिर की जगह पैर और हाथ की जगह ठोडी रख देने, तारतम्य का तोड़ने और नाटक को रेशा-रेशा धुनककर बखेर देने मात्र से न प्रयोग सधता है न प्रभाव पड़ता है। ऐसे सारे नाटक 'आधे अधूरे' की जारज सन्तानें हैं और मश्क के लिए उनका महत्त्व भले ही हो वे कभी भी कहीं भी दशकों के किसी बड़े वर्ग से जुड़ पायेंगे, इसमें मुझे सन्देह है। वैसे निर्देशन और अभिनय, खासतौर पर देवेन्द्र मल्होत्रा का, बहुत अच्छे थे। वीर सक्सेना के ध्वनि प्रभाव बहुत मौजू थे।

'पैसा पैसा-पैसा' निर्देशक के रूप में बेनीप्रसाद के लिए अच्छी शुरुआत थी लेकिन नाटक का अर्ध भारतीयकरण—ठाकुर की हवेली और बटलर और आया तथा वकीलों की वेशभूषा-खटकने वाला रहा। जयपुर के रंगकर्मियों द्वारा प्रस्तुत चारों नाटकों में जयपुर रंगमंच के नये-पुराने चेहरों ने अच्छा अभिनय किया। 'जलता है तो' में माखीजा, पैसा पैसा-पैसा' में जुत्शी 'त्रिशंकु' में नीरज गोस्वामी विशेष रूप से स्मरणीय रहेंगे।

## एक नाटक अच्छा-सा[1]

लगभग चार वर्षों के दौरान चार महत्त्वपूर्ण नाटक लिखना और स्टेज पर उतारना कोई मामली काम नहीं है। लेकिन 'उलझी आकृतियाँ', 'एक और युद्ध', 'समय सन्दर्भ' और 'दरिन्दे' के यशस्वी लेखक हमीदुल्ला ने यह कर दिखाया है।

1 राजस्थान पत्रिका, 3-2-1974

पहले वासुदेव और अब सरताज माथुर म इन नाटका का वाछित प्रतिभा वाले निर्देशक भी मिले हैं। लेखक और निर्देशक मिलकर अभिनेता-अभिनेत्रियो व अन्य सहयोगियो की एक बहुत अच्छी टीम भी जुडाते रहने म सफल रहे हैं। और इस सबके पीछे एक बहुत बडा घटक स्वय हमीदुल्ला के व्यक्तित्व व स्वभाव का रहा है व जितने समय लेखक है उतने ही निरभिमानी सौजन्यपूर्ण व परिश्रमी भी हैं। 'दरिन्दे' (रवीन्द्र मच, आकाशवाणी कलाकार सघ, 20 जनवरी) म नाटककार हमीदुल्ला ने एक महत्त्वपूर्ण व लम्बी मजिल तय की है।

'उलझी आकृतियाँ' एक बहुत अच्छा नाटक था। एक दफ्तर के माहौल और गिने चुने पात्रो को लेकर हमीदुल्ला ने एक ओर अपने पात्रो की निजी जिन्दगियो के स घर्ष व दूसरी ओर कार्यालयी कार्यप्रणालियो के विद्रूप को बखूबी उभारा था। लेकिन फिर भी 'उलझी आकृतियाँ' एक पारम्परिक यथार्थवादी नाटक था हालाकि उसम भी अति यथार्थ और साहस रग प्रयोगशीलता का आभास स्पष्ट था जैसे कि उस दृश्य मे जिसम दफ्तर के अधिकारी चाय की ट्रे को पीटते हुए बला के गिर्द चक्कर काटते है। हमीदुल्ला के चि तन और शिल्प की कुछेक विशिष्टताएँ जैसे झूठ और दिखावे से चिढ मार्मिक व्यग्य समकालीन परिवेश म जा बुराइयाँ हैं उनमे निबटने का आग्रह और सरप्राईज का वह तत्त्व जो ऐन वक्त पर नाटक के घटनाक्रम को और भी सशक्त और ग्राह्य बना देता है इस पहले नाटक मे भी थी और बाद के नाटका म भी रही हैं।

लेकिन जहाँ तक मूल तकनीक का सवाल है 'उलझी आकृतियाँ' के बाद के तीना नाटक एक सर्वथा नया भिन्न स्वरूप रखते है। एक पारम्परिक, सुसयोजित और क्रमबद्ध सरचना के स्थान पर अब हमे मिलता है प्रयोगधर्मिता अतियथार्थ तथा साकेतिकता की ओर अधिकाधिक रुझान। उदाहरण के लिए समय सन्दर्भ' म मशीनी मानव का प्रतीक उभारा गया है तो दरिन्दे मे जगली पशुओ का। लेकिन शिल्पगत यह परिवर्तन महज नई बोतल नही ? हमीदुल्ला के कथ्य म भी परिवर्तन स्पष्ट है। पहले व प्रमुखत व्यक्ति की बात कहते थे समाज की बात यदि आती थी तो व्यक्ति व उसके चरित्र निरूपण के ही माध्यम से। लेकिन अब वह मूलत समाज की बात कहते हैं परिस्थिति की बात कहते हैं। व्यक्ति और उनके चरित्र गौण हो गए हैं उनके सवाद भी स्वय उनके अपने उतने नहीं हैं जितने परिस्थिति सम्बन्धी वक्तव्य, जो अन्ततोगत्वा लेखक के अपने मन्तव्य को ही शब्दाकार देने का ज़रिया है। नाटक के बाद आपको पात्र कम परिस्थितियाँ ज़्यादा याद रहती है लगता है कि अपने को व्यक्त करने सम्बन्धी लेखक की छटपटाहट इतनी तीखी है कि वह परम्परा के निर्वाह यथार्थवाद और चरित्रों को गढने और उनका निबाहने के झझट म न पडकर जब जैसी जरूरत हो वैसे ही खण्ड दृश्यो का सयोजन करके पात्रा के मुख से अपनी बात कहलवा लेता है। इस

गुम कर देने की हरकत कर बैठने हैं।

नई नाटकीयता, चतुराई और ओढ़ी हुई बौद्धिकता के नाटक का हश्र एक बार हमने 'बिल्ली चली पहनकर जूता' में देखा था। दुबारा बलराज पण्डित के 'पाँचवा सवार (संकेत, मानु भारती, रवीन्द्र मंच 7 जुलाई) में देखा। ये वो नाटक है जो 'अल्पमत' के नाटक को अल्पमत का ही बनाए रखने का काम करेंगे। जब ऐसे नाटक, नाटक का साधारण जन तक ले जाने के मंतव्य के साथ पेश किए जाते हैं तो एक विरोधाभास जन्म लेता है।

मेरा विरोध प्रयोगधर्मिता से नहीं, मुगालते से है और इस नाटक में एक भोगे हुए यथार्थ को उकेरने की नहीं, एक सोचे हुए, मानसिक विलास में से अद्भुत कृत्रिम यथार्थ की छायाओं को वास्तविक पात्रों के पल्ले बाँध देने, सीधी बात को टेढ़े, छद्म चमत्कारिक ढंग से कहने और कटु वस्तुस्थिति पर प्रभाव पैदा करने के लिए एक बनावटी स्थिति-रचना का आविष्कार करने की प्रवृत्तियाँ मुझे दीखीं। सिर की जगह पैर और हाथ की जगह ठोडी रख देने, तारतम्य को तोड़ने और नाटक को रेशा-रेशा धुनक्कर बखेर देने मात्र से न प्रयोग सधता है न प्रभाव पड़ता है। ऐसे सारे नाटक 'आधे अधूरे' की जारज सन्तानें हैं और मश्क के लिए उनका महत्त्व भले ही हो वे कभी भी कहीं भी दर्शकों के किसी बड़े वर्ग से जुड़ पायेंगे, इसमें मुझे सन्देह है। वैसे निर्देशन और अभिनय, खासतौर पर देवेन्द्र मल्होत्रा का, बहुत अच्छे थे। वीर सक्सेना के ध्वनि प्रभाव बहुत मौजूं थे।

'पैसा पैसा पैसा' निर्देशक के रूप में वेनीप्रसाद के लिए अच्छी शुरुआत थी लेकिन नाटक का अध-भारतीयकरण—ठाकुर की हवेली और बटलर और आया तथा वकीलों की वेशभूषा-खटकने वाला रहा। जयपुर के रंगकर्मियों द्वारा प्रस्तुत चारों नाटकों में जयपुर रंगमंच के नये पुराने चेहरों ने अच्छा अभिनय किया। 'जलता है तो' में माखीजा, 'पैसा पैसा-पैसा' में जुत्शी 'त्रिशंकु' में नीरज गोस्वामी विशेष रूप से स्मरणीय रहेंगे।

## एक नाटक अच्छा-सा[1]

लगभग चार वर्षों के दौरान चार महत्त्वपूर्ण नाटक लिखना और स्टेज पर उतारना कोई मामूली काम नहीं है। लेकिन 'उलझी आकृतियाँ', 'एक और युद्ध', 'समय सन्दर्भ' और 'दरिन्दे' के यशस्वी लेखक हमीदुल्ला ने यह कर दिखाया है।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 3-2-1974

पहले वासुदेव और अब सरताज माथुर म इन नाटकों का वांछित प्रतिभा वाले निर्देशक भी मिले हैं। लेखक और निर्देशक मिलकर अभिनेता-अभिनेत्रियों व अन्य सहयोगियों की एक बहुत अच्छी टीम भी जुडाते रहने मे सफल रहे हैं। और इस सबके पीछे एक बहुत बडा घटक स्वय हमीदुल्ला के व्यक्तित्व व स्वभाव का रहा है वे जितने समर्थ लेखक है उतने ही निरभिमानी, सौजन्यपूर्ण व परिश्रमी भी हैं। 'दरिन्दे' (रवीन्द्र मच, आकाशवाणी कलाकार सघ, 20 जनवरी) मे नाटककार हमीदुल्ला ने एक महत्त्वपूर्ण व लम्बी मजिल तय की है।

'उलझी आकृतियाँ' एक बहुत अच्छा नाटक था। एक दफ्तर के माहौल और गिने-चुने पात्रों को लेकर हमीदुल्ला ने एक ओर अपने पात्रों की निजी जिन्दगियों के स त्रास व दूसरी ओर कार्यालयी कार्यप्रणालियों के विद्रूप को बखूबी उभारा था। लेकिन फिर भी 'उलझी आकृतियाँ' एक पारम्परिक यथार्थवादी नाटक था हालाकि उसमे भी अतियथार्थ और साहसपूर्ण प्रयोगशीलता का आभास स्पष्ट था जैसेकि उस दृश्य मे जिसमे दफ्तर के अधिकारी चाय की ट्रे को पीटते हुए मेजों के गिर्द चक्कर काटते हैं। हमीदुल्ला के चिंतन और शिल्प की कुछेक विशिष्टताएँ जैसे झूठ और दिखावे से चिढ, मार्मिक व्यग्य समकालीन परिवेश म जो बुराइयाँ हैं उनसे निबटने का आग्रह और 'सरप्राईज' का वह तत्त्व जो ऐन वक्त पर नाटक के घटनाक्रम को और भी सशक्त और ग्राह्य बना देता है इस पहले नाटक म भी थी और बाद के नाटकों मे भी रही है।

लेकिन जहाँ तक मूल तकनीक का सवाल है 'उलझी आकृतियाँ' के बाद के तीनों नाटक एक सर्वथा नया भिन्न स्वरूप रखते हैं। एक पारम्परिक, सुसयोजित और क्रमबद्ध सरचना के स्थान पर अब हम मिलता है प्रयोगधर्मिता, अतियथार्थ तथा साकेतिकता की ओर अधिकाधिक रुझान। उदाहरण के लिए 'समय सन्दर्भ' म मशीनी मानव का प्रतीक उभारा गया है तो 'दरिन्दे' मे जगली पशुओं का। लेकिन शिल्पगत यह परिवर्तन महज नई बोतल नहीं ? हमीदुल्ला के कथ्य म भी परिवर्तन स्पष्ट है। पहले वे प्रमुखत व्यक्ति की बात कहते थ समाज की बात यदि आती थी तो व्यक्ति व उसके चरित्र निरूपण के ही माध्यम से। लेकिन अब वह मूलत समाज की बात कहते है परिस्थिति की बात कहते हैं। व्यक्ति और उनके चरित्र गौण हो गए है उनके सवाद भी स्वय उनके अपने उतने नहीं हैं जितने परिस्थिति सम्बन्धी वक्तव्य, जो अन्ततोगत्वा लेखक के अपने मन्तव्य को ही शब्दाकार देने का जरिया है। नाटक के बाद आपको पात्र कम, परिस्थितियाँ ज्यादा याद रहती है लगता है कि अपने को व्यक्त करने सम्बन्धी लेखक की छटपटाहट इतनी तीखी है कि वह परम्परा के निर्वाह यथार्थवाद और चरित्रों का गढने और उनको निबाहने के झझट म न पडकर जब जैसी जरूरत हो वैसे ही खण्ड दृश्यों का सयोजन करके पात्रों के मुख से अपनी बात कहलवा लेता है। इस

गुम कर देने की हरकत कर बैठते हैं।

नई नाटकीयता, चतुराई और ओढ़ी हुई बौद्धिकता के नाटक का हश्र एक बार हमने 'बिल्ली चली पहनकर जूता' में देखा था। दुबारा बलराज पण्डित के 'पाँचवां सवार' (संकेत, मानु भारती, रवीन्द्र मंच 7 जुलाई) में देखा। ये वो नाटक हैं जो 'अल्पमत' के नाटक को अल्पमत का ही बनाए रखने का काम करेंगे। जब ऐसे नाटक, नाटक को साधारण जन तक ले जाने के मंतव्य के साथ पेश किए जाते हैं तो एक विरोधाभास जन्म लेता है।

मेरा विरोध प्रयोगधर्मिता से नहीं, मुद्दा मात्र यह है और इस नाटक में एक भोगे हुए यथार्थ को उकेरने की नहीं, एक सोचे हुए, मानसिक विलास में से अद्भुत कृत्रिम यथार्थ की छायाभा को वास्तविक पात्रों के पल्ले बाँध देने, सीधी बात को टेढ़े, छद्म चमत्कार के ढंग से कहने और वस्तुस्थिति पर प्रभाव पैदा करने के लिए, एक बनावटी दर्शन रचने का आडम्बर करने की प्रवृत्तियाँ मुझे दीखीं। सिर की जगह पैर और हाथ की जगह ठोडी रख देने, तारतम्य को तोड़ने और नाटक को रेशा-रेशा धुनकर उखेर देने मात्र से न प्रयोग सधता है न प्रभाव पड़ता है। ऐसे सारे नाटक 'आधे अधूरे' की जारज सन्तानें हैं और मञ्च के लिए उनका महत्व भले ही हो वे कभी भी कहीं भी दर्शकों के किसी बड़े वर्ग से जुड़ पायेंगे, इसमें मुझे सन्देह है। वैसे निर्देशन और अभिनय, खासतौर पर देवेन्द्र मल्होत्रा का, बहुत अच्छे थे। मीर सक्सेना के ध्वनि-प्रभाव बहुत मौजूं थे।

'पैसा पैसा पैसा' निर्देशक के रूप में बनीप्रसाद के लिए अच्छी शुरुआत थी लेकिन नाटक का अर्ध-भारतीयकरण—ठाकुर की हवेली और बटलर और मामा तथा वकीलों की वेशभूषा-खटकने वाला रहा। जयपुर के रंगकर्मियों द्वारा प्रस्तुत चारों नाटकों में जयपुर रंगमंच के नये-पुराने चेहरों ने अच्छा अभिनय किया। 'जलना है तो' में माखीजा 'पैसा-पैसा-पैसा' में जुत्शी, 'त्रिशंकु' में नीरज गोस्वामी विशेष रूप से स्मरणीय रहेंगे।

## एक नाटक अच्छा-सा[1]

लगभग चार वर्षों के दौरान चार महत्वपूर्ण नाटक लिखना और स्टेज पर उतारना कोई मामूली काम नहीं है। लेकिन 'उलझी आकृतियाँ', 'एक और युद्ध', 'समय सन्दर्भ' और 'दरिन्दे' के यशस्वी लेखक हमीदुल्ला ने यह कर दिखाया है।

1 राजस्थान पत्रिका, 3-2-1974

पहले वासुदेव और अब सरताज माथुर में इन नाटकों को वांछित प्रतिभा वाले निर्देशक भी मिले हैं। लेखक और निर्देशक मिलकर अभिनेता अभिनेत्रियों व अन्य सहयोगियों की एक बहुत अच्छी टीम भी जुटाते रहने में सफल रहे हैं। और इस सबके पीछे एक बहुत बड़ा घटक स्वयं हमीदुल्ला के व्यक्तित्व व स्वभाव का रहा है व जितने समर्थ लेखक हैं उतने ही *निरभिमानी सौजन्यपूर्ण व परिश्रमी भी* हैं। 'दरिन्दे' (रवीन्द्र मंच, आकाशवाणी कलाकार संघ, 20 जनवरी) में नाटककार हमीदुल्ला ने एक महत्त्वपूर्ण व लम्बी मंजिल तय की है।

'उलझी आकृतियाँ' एक बहुत अच्छा नाटक था। एक दफ्तर के माहौल और गिने चुने पात्रों को लेकर हमीदुल्ला ने एक ओर अपने पात्रों की निजी जिन्दगियों के संत्रास व दूसरी ओर कार्यालयी कार्यप्रणालियों के विद्रूप को खूबी उभारा था। लेकिन फिर भी 'उलझी आकृतियाँ' एक पारम्परिक यथार्थवादी नाटक था हालांकि उसमें भी प्रतिच्छाया और साहसपूर्ण प्रयोगशीलता का आभास स्पष्ट था जैसेकि उस दृश्य में जिसमें दफ्तर के अन्य कर्मचारी चाय की ट्रे आदि को पीटते हुए बेला के गिर्द चक्कर काटते हैं। हमीदुल्ला के चिन्तन और शिल्प की कुछेक विशिष्टताएँ जैसे झूठ और दिखावे से चिढ़, मार्मिक व्यंग्य समकालीन परिवेश में जो बुराइयाँ हैं उनसे निपटने का आग्रह और 'सरप्राईज़' का वह तत्त्व जो ऐन वक्त पर नाटक के घटनाक्रम को और भी सशक्त और ग्राह्य बना देता है इस पहले नाटक में भी थीं और बाद के नाटकों में भी रही हैं।

लेकिन जहाँ तक मूल तकनीक का सवाल है 'उलझी आकृतियाँ' के बाद के *तीनों नाटक एक सर्वथा नया भिन्न स्वरूप रखते हैं। एक पारम्परिक, सुसंयोजित* और क्रमबद्ध संरचना के स्थान पर अब हमें मिलता है प्रयोगधर्मिता, प्रतिच्छाया तथा सांकेतिकता की ओर अधिकाधिक रुझान। उदाहरण के लिए 'समय संदर्भ' में मशीनी मानव का प्रतीक उभारा गया है तो 'दरिन्दे' में जंगली पशुओं का। लेकिन शिल्पगत यह परिवर्तन महज नई बोतल नहीं ? हमीदुल्ला के कथ्य में भी परिवर्तन स्पष्ट है। पहले वे प्रमुखतः व्यक्ति की बात कहते थे समाज की बात यदि आती थी तो व्यक्ति व उसके चरित्र निरूपण के ही माध्यम से। लेकिन अब वह मूलतः समाज की बात कहते हैं, परिस्थिति की बात कहते हैं। व्यक्ति और उनके चरित्र गौण हो गए हैं उनके संवाद भी स्वयं उनके अपने उतने नहीं हैं जितने परिस्थिति सम्बन्धी वक्तव्य जो मन्तव्यतः लेखक के अपने मन्तव्य को ही मुखरित कर देने का जरिया है। नाटक के बाद आपको पात्र कम परिस्थितियाँ ज्यादा याद रहती हैं लगता है कि अपने या व्यक्त करने सम्बन्धी लेखक की छटपटाहट इतनी तीखी है कि वह परम्परा के निर्वाह यथार्थवाद और चरित्रों को गढ़ने और उनको निबाहने के झंझट में न पड़कर जब जैसी जरूरत हो वैसे ही खण्ड दृश्यों का संयोजन करके पात्रों के मुख से अपनी बात कहलवा लेता है। इस

सबका एक लक्षण या एक नतीजा यह भी है कि बाद के यह तीन नाटक पढ़ने से उतना नहीं जितना देखने से तअल्लुक रखते हैं। साथ ही वे अपने मंचन के लिए एक विशिष्ट, तत्पर और कसावपूर्ण प्रस्तुतीकरण चाहते हैं। उनका मंचन आसान काम नहीं है।

यह नया नाटक है जो पहले से चली आई तकनीक और रूढ़ियों से मुक्त है—कहीं भी कुछ भी किसी के भी द्वारा हो सकता है बशर्ते वह कथा को आगे बढ़ाता हो, संघात को तीव्र करता हो। वैसी ही स्वच्छंदता है जो लोकनाट्य की भी शक्ति रही आई है। यह वही खासियत है जो नई कविता और नई चित्रकारिता का मूल प्राण भी है, औचित्य भी।

शिल्प और कथ्य का यह नया मोड़ हमने हमीदुल्ला के नाटकों में पहली बार 'एक और युद्ध' में देखा। लेकिन कई खूबियों के बावजूद 'एक और युद्ध' अपेक्षाकृत कच्चा था। 'समय सन्दर्भ' में हमें अधिक परिपक्वता मिली और मिला अधिक कसाव और मंजापन। और अब 'दरिन्दे' में हमें हमीदुल्ला के नये शिल्प, नये कथ्य और उनकी टीम के प्रस्तुतीकरण-कौशल की चर्मोपलब्धि के दर्शन होते हैं। इसके आगे क्या आयेगा, खुद नये नाटक की कौन सी रूढ़ियाँ हैं जिनसे खबरदार रहना है, संक्षेप में, खुद नाटककार को अगला पाँव कहाँ रखना है, यह बात मैं थोड़ा रुककर करूँगा। यहाँ पहले मुझे 'दरिन्दे' को उसका ड्यू दे लेने दीजिए। क्योंकि 'आषाढ़ का एक दिन' और 'जस्मा ओडन' के बाद 'दरिन्दे' जयपुर के रंगमंच का अगला कीर्तिशिखर है। 'दरिन्दे' की तुलना आप किसी भी अच्छे-से अच्छे नाटक से कर सकते हैं। उसके आलेख में कमियाँ दिखाई जा सकती हैं लेकिन उस आलेख की बुनावट, उसका सटीकपन, उसकी स्थितियों की प्रचुर नाटकीयता, उसकी 'आयरनी' और उसका व्यंग्य लाजवाब है। नाटक की भाषा और मुहावरे पर हमीदुल्ला की पकड़ अपने आपमें एक उपलब्धि है। 'शुरू करो' 'तुम जैसे' दृश्यों में मामूली चीजों में नाटक बुनने के फन की पराकाष्ठा है। और जितनी बढ़िया स्क्रिप्ट है उतना ही अच्छा सरताज माथुर का निर्देशन है। इतना सुन्दर माइम, इतनी उद्देश्यपूर्ण प्रकाश व्यवस्था व इतना प्रभावोत्पादक दृश्य संयोजन विरले ही नाटकों में देखने को मिलता है। स्टेज का ऐसा सहज व सम्पूर्ण उपयोग मानो वह चरित्रों के अपने घर का आँगन हो नाटक में रुचि रखने वाले हर व्यक्ति के लिए कुछ सीखने वाली बात है। पात्रों का संचालन व फ्रीजिंग नाटक से भी आगे नृत्य के दायरे में जा पहुँचते हैं। मदन शर्मा का पार्श्व-संगीत व ध्वनिप्रभाव उनके इस दिशा में बरसों के अध्ययन और अनुभव के अतिरिक्त नाटक की स्थितियों सम्बन्धी उनकी गहरी पकड़ के परिचायक हैं। अभिनय के मामले में पृथ्वीनाथ जुत्शी, अलका राव, शशि शर्मा, सुमन महर्षि, वासुदेव भट्ट, ज्ञान शिवपुरी, हमीदुल्ला, अरुणा खट्टर और मोहनलाल शर्मा ने जहाँ व्यक्तिगत रूप से

अभिनय के नये आयामा को छुआ है, वही सम्मिलित रूप से यह भी दिखा दिया है कि अच्छे टीमवर्क और पर्याप्त मेहनत से क्या किया जा सकता है। परिणामस्वरूप एकाध अपवादा का छोडकर, पूरा नाटक इतना कसा हुआ है कि दशक पूरे समय नाटक मे डूबा रहता है।

'दरिन्दे' सौ दिनो तक खेले जाने योग्य नाटक है। यह शहर शहर मे और बार-बार खेले जाने योग्य नाटक है। 'दरिन्दे' देखने और सराहने योग्य नाटक है। राजस्थान के रगमच के इतिहास मे अमर होकर रहने वाला नाटक है 'दरिन्दे'।

ऊपर अपवादो की बात मैंने की। एक अपवाद है वह दृश्य जिसम अर्धविक्षिप्त दाशनिक शहर जाने को तत्पर होता है और जगल के जानवर 'हमारा सघर्ष जारी रहेगा' का उदघोष करते हैं। यहा समयपूर्व क्लाइमैक्स बनने का विपरीत असर अगले दृश्यो पर पडता है। इसी तरह पहले ही दृश्य मे एक तो कीतन का प्रसग कुछ ज्यादा लम्बा खिच गया लगता है और दूसरे, जो दार्शनिक 'भागो भागो' कहता आता है वही फिर बैठकर रो लेने या हँस लेने की सलाह देता है। यह पहला दृश्य इस बात का भी उदाहरण है कि नाटक के पात्र अपनी नही नाटककार की बात बोलते हैं परिस्थिति की माग को पूरा करते है और इस सिलसिले म अक्सर पात्रो के अपने चरित्र की ही नही सम्बन्धित दृश्य की भी आन्तरिक सगति को ठेस पहुँचती है, जब नाटककार एक ही स्थिति मे कई बातें कहने का मोह कर बैठता है। दाशनिक 'आदश', 'सभ्यता' इत्यादि की बात करते-करते एकाएक यह असबद्ध बात कहता मिलता है 'भारत कृषिप्रधान देश है' क्योकि नाटककार का यह कहलवाना है कि भारत कुर्सीप्रधान देश है'।

इसी बिन्दु पर मैं हमीदुल्ला के नाट्यशिल्प-सम्बन्धी दो बातो की ओर जो मुझे उन जसे समथ रचनाकार के लिए दूर की जा सकने वाली कमजोरियाँ लगती रही हैं इगित करना चाहूँगा। इनम से पहली बात है कुछ स्टॉक उक्तियों और पिटे हुए फिकरो का इस्तेमाल। यह 'त्रिशकु' और 'दरिन्द' वाला अर्धविक्षिप्त दाशनिक कहाँ मिलता है ? क्या स्थिति का वास्तविक विद्रूप यह नही है कि हमारे दाशनिक विक्षिप्त हो जाने की बजाय महज़ और ज्यादा दाशनिक होकर रह गए हैं ? 'कल्चर एग्रीकल्चर की तरह जरूरत पूरी नही करता', 'हर शाख पर अफसर बैठा है', 'फूड कमिश्नर के साले के दामाद के चाचा के' इत्यादि चालू वाक्य न नाटक की गरिमा बढाते हैं न उसके गभीर उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हैं। 'जब शहर की मौत आती है तो वह जगल की ओर भागता है' की उलटबाँसी सुनने मे बडी अच्छी और चमत्कारिक लगती है लेकिन इसका मतव्य क्या है ? यदि जगल काटने से अथ है तो, जहाँ इगित अस्पष्ट है वहीं, सगति अधूरी है, और यदि जगल म जाकर बसने से है मतव्य तो उसमे तो बुराई नहीं है और खुद

विक्षिप्त दार्शनिक वैसा करता मिलता है। और यह पति-पत्नी में हर रिश्ते में किसी परपुरुष या परस्त्री का आरोपण, शारीरिक सम्बन्धों की स्थिति तक बढ़ा हुआ, भी क्या एक नाटकीय रूढ़ि नहीं बन चुका है? 'दरिन्दे' में तीन जोड़ियाँ हैं और तीनों में ही यह स्थिति मिलती है। इसी तरह, सन्तान न होने की दशा में पिता में पुंसत्व के अभाव की एक से ज्यादा स्थितियाँ सम्भव हैं। फिर हम उन में से एक को ही क्यों पकड़ते हैं? क्योंकि वह ज्यादा मजेदार लगती है?

दूसरी बात है भावुकता की। अब, बिना भावुक, और संवेदनशील हुए यदि कुछ ललित लेखन असम्भव है तो बिना भावुकता से आगे बढ़े, बिना उसका 'ट्रान्सैण्ड' किए सर्वोच्च और सनातन साहित्य लिखना भी मुश्किल है। पशु अच्छे हैं मनुष्य बुरा है यह बात सही भी हो, तो भी, मानवीय परिस्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से कोई विशेष उपयोगिता नहीं रखती। यदि पशुओं में 'वल्डवार' नहीं हुई तो इसलिए क्योंकि उनका 'वल्ड' सीमित है। बाकी, पशु लड़ते तो हैं ही और खूब लड़ते हैं। नेचर इज रैड इन टूथ एण्डक्लौ किसी पशु विरोधी का दिया हुआ फतवा नहीं है। खुद नाटक में पिग, गिरगिट, बगुले, कुतिया इत्यादि का प्रयोग अप्रतिष्ठा के सन्दर्भों में किये बिना काम नहीं चल पाया है और 'एक और युद्ध' में भी ऐसा ही किया गया था। लोमड़ी का शील भंग होता है या नहीं यह तो नहीं मालूम लेकिन मनुष्य के अपेक्षाकृत नजदीक रहने वाले एक प्राणीवर्ग की मादा का एक विशेष ऋतु में जो हाल रहता है वह हम सब जानते हैं। कहने का अर्थ यह कि यह तर्क कि मनुष्य को वह नहीं करना चाहिए जो पशु नहीं करते की बजाय यह तर्क कि उसे वह नहीं करना चाहिए जो मनुष्योचित नहीं है, मुझे ज्यादा पायेदार लगता है।

और एक अंतिम बात प्रस्तुतीकरण को लेकर। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस तरह से यह नाटक पेश किया गया है वह अपने कौशल, लाघव व काँटी छूटी में अपनी मिसाल आप है। लेकिन क्या कोई दूसरा निर्देशक जिसे हमीदुल्ला का सान्निध्य प्राप्त नहीं हो या जो इस प्रस्तुतीकरण को न देख पाए, सिर्फ स्क्रिप्ट पढ़कर ऐसा प्रभाव ला पाएगा? दूसरे हमीदुल्ला ने यह तो हमें दिखा दिया कि यदि स्क्रिप्ट में जान हो, अभिनेता अच्छे हों तो प्राप्स की दरकार नहीं रहती। लेकिन क्या अब वे और सरताज माथुर यह भी कर दिखाएंगे कि बिना किसी विशिष्ट प्रकाश व्यवस्था और लगातार ध्वनिप्रभावों के भी ऐसा ड्रामा किया जा सकता है जो कभी भी, कहीं भी, किसी के द्वारा भी खेला जा सके?

मैं कहना चाहूँगा कि यह टिप्पणियाँ मैं सिर्फ इसलिए जोड़ रहा हूँ क्योंकि मैं 'दरिन्दे' से हद दर्जे तक प्रभावित हूँ और हमीदुल्ला में सम्भावनाओं का अटूट भण्डार देखता हूँ। मेरी कामना है कि वे नाटक के क्षेत्र में राजस्थान का नाम और उज्ज्वल करें, राकेश तेंदुलकर और सरकार की पंक्ति में बैठें।

# मनोरजन का 'बॉबी' युग[1]

कुछ दिना पहले मेरे एक नाट्यकर्मी मित्र के यह कहने पर कि अगले कुछ दिना तक तो जयपुर म नाटको की बडी चर्चा रहने वाली है, मैंने कहा था—भई ये खुशफहमी क्यो ? हल्ला तो यहाँ सिफ एक चीज का होगा और वह है 'बॉबी'।

'बॉबी' का पूरा शीर्षक यू होना चाहिए—बाबी उफ 'बचकर कहाँ जाएगा'? उसमे एक लखपति (जिसे काम करने की जरूरत नही है फिर भी करता है) की लडकी का प्रेम एक करोडपति के लडके से है। यह हो गया दिलवाले 'गरीब' बनाम दिखावे वाले अमीर का ऐंगिल। (आखिर कहानी पहुचे हुए प्रगतिवादी ख्वाजा अहमद अब्बास की है जिन्हने एक बार दिलीप कुमार से पूछा था कि वो बकवास फिल्म क्यो बनाते हैं!) सैक्स की कुण्ठा मे जकडे दशक के लिए भी उसमे कुछ दशनीय सामग्री है जिसमे अधस्नाता नारी की देहयष्टि और विरह से कातर नायिका के वस्त्रो की सुनियोजित बेतरतीबी शामिल है। याद है न आपको, 'मेरा नाम जोकर' मे पद्मिनी के सचमुच पद्मिनी होने का राज कितने 'ओरिजनल' ढग से खोला गया था! और भी बहुत कुछ है जो राजकपूर की पुरानी फिल्मो के दृश्यो की याद दिलाता है—नायिका का नायक की बाँह से झूलना (बरसात) 'झूठ बोले कउआ काटे' ('रमय्या वस्ता वय्या') 'हम तुम एक कमरे मे' ( मैं का करूँ राम मुझे बुड्ढा मिल गया') और 'सगम' के कुछ अन्य दृश्य वगैरा-वगैरा।

इस सबके अलावा 'बॉबी' मे कश्मीर है, गोआ है। बढिया फोटोग्राफी है, भडकीले नाच हैं, जबान पर चढ जाने वाले गाने हैं, मारा मारी है, सब तरह की घुडदौड़ें है, हृदय-परिवतन है, अन्त भला तो सब भला का खटका है प्रेमनाथ, दुर्गाखोटे, अरुणा ईरानी, डिंपल और ऋषि की बढिया अदाकारी है, और है रूमानियत की गाढी तीन तार की चाशनी।

अब भला बताइए, इस सबसे बचकर दशक कहाँ जाएगा, कैसे जाएगा, क्या जाएगा ?

लेकिन यह सारी मुलम्मेबाजी इस तथ्य को नही ढक पाती कि मूलत 'बाबी' महज एक महँगी और भव्य फार्मूला फिल्म है जिसको शशधर मुखर्जी, नासिर हुसन, रामानन्द सागर जैसे अनेको निर्माता थोडी बहुत उलट-फेर के साथ और अलग अलग किस्म की चाशनिया (जिनमे देशप्रेम एक है) म पाग कर आने कितनी बार बना चुके है। हमारे कुछ रईसो को तोते, कुत्ते, बिल्ली वगैरह की महँगी शादियाँ रचाने का शौक रहा है 'बाबी' भी बन्दरिया का ब्याह है, बहुत महँगा, बहुत भव्य, और हम सब बराती हैं। साहिर ने ताजमहल के लिए कहा

1 'चतुरग' राजस्थान पत्रिका, 10-3-1974

विक्षिप्त दार्शनिक वैसा करता मिलता है। और यह पति-पत्नी के दूर रिश्ते में किसी परपुरुष या परस्त्री का आरोपण, शारीरिक सम्बन्धों की स्थिति तक बढ़ा हुआ, भी क्या एक नाटकीय रूढ़ि नहीं बन चुका है? 'दरिंदे' में तीन जोड़ियाँ हैं और तीनों में ही यह स्थिति मिलती है। इसी तरह, सन्तान न होने की दशा में पिता में पुंसत्व के अभाव की एक से ज्यादा स्थितियाँ सम्भव हैं। फिर हम उन में से एक को ही क्यों पकड़ते हैं? क्योंकि वह ज्यादा मजेदार लगती है?

दूसरी बात है भावुकता की। अब, बिना भावुक और सवेदनशील हुए यदि कुल ललित लेखन असम्भव है तो बिना भावुकता से आगे बढ़े, बिना उसको 'ट्रांसैण्ड' किए सर्वोच्च और सनातन साहित्य लिखना भी मुश्किल है। पशु अच्छे हैं मनुष्य बुरा है यह बात सही भी हो, तो भी, मानवीय परिस्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से कोई विशेष उपयोगिता नहीं रखती। यदि पशुओं में 'वल्डवार' नहीं हुई तो इसलिए क्योंकि उनका 'वल्ड' सीमित है। बाकी, पशु लड़ते तो हैं ही और खूब लड़ते हैं। 'नेचर इज़ रैड इन टूथ एण्डक्लौ', किसी पशु विरोधी का दिया हुआ फतवा नहीं है। खुद नाटक में पिग, गिरगिट, बगुले, कुतिया इत्यादि का प्रयोग अप्रतिष्ठा के सन्दर्भों में किये बिना काम नहीं चल पाया है और 'एक और युद्ध' में भी ऐसा ही किया गया था। लोमडी का शील भंग होता है या नहीं यह तो नहीं मालूम लेकिन मनुष्य के अपेक्षाकृत नजदीक रहने वाले एक प्राणीवर्ग की मादा का एक विशेष ऋतु में जो हाल रहता है वह हम सब जानते हैं। कहने का अर्थ यह कि यह तर्क कि मनुष्य को वह नहीं करना चाहिए जो पशु नहीं करते की बजाय यह तर्क कि उसे वह नहीं करना चाहिए जो मनुष्योचित नहीं है, मुझे ज्यादा पायेदार लगता है।

और एक अंतिम बात प्रस्तुतीकरण को लेकर। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस तरह से यह नाटक पेश किया गया है वह अपने कौशल, लाघव व कटी ब्यूटी में अपनी मिसाल आप है। लेकिन क्या कोई दूसरा निर्देशक जिसे हमीदुल्ला का सान्निध्य प्राप्त नहीं हो या जो इस प्रस्तुतीकरण को न देख पाए, सिर्फ स्क्रिप्ट पढ़कर ऐसा प्रभाव ला पाएगा? दूसरे, हमीदुल्ला ने यह तो हमें दिखा दिया कि यदि स्क्रिप्ट में जान हो, अभिनेता अच्छे हो तो 'प्रौप्स' की दरकार नहीं रहती। लेकिन क्या अब वे और सरताज माथुर यह भी कर दिखाएंगे कि बिना किसी विशिष्ट प्रकाश-व्यवस्था और लगातार ध्वनिप्रभावों के भी ऐसा ड्रामा किया जा सकता है जो कभी भी, कहीं भी, किसी के द्वारा भी खेला जा सके?

मैं कहना चाहूँगा कि यह टिप्पणियाँ मैं सिर्फ इसलिए जोड़ रहा हूँ क्योंकि मैं 'दरिंदे' से हद दर्जे तक प्रभावित हूँ और हमीदुल्ला में सम्भावनाओं का अटूट भण्डार देखता हूँ। मेरी कामना है कि वे नाटक के क्षेत्र में राजस्थान का नाम और उज्ज्वल करें, राकेश, तेंदुलकर और सरकार की पंक्ति में बैठें।

# मनोरजन का 'बॉबी' युग[1]

कुछ दिनो पहले मेरे एक नाटयकर्मी मित्र के यह कहने पर कि अगले कुछ दिनो तक तो जयपुर मे नाटको की बडी चर्चा रहने वाली है, मैंने कहा था—भई ये खुशफहमी क्या ? हल्ला तो यहाँ सिफ एक चीज का होगा और वह है 'बॉबी'।

'बॉबी' का पूरा शीषक यू होना चाहिए—बॉबी उर्फ 'बचकर कहाँ जाएगा'? उसमे एक लखपति (जिसे काम करने की जरूरत नही है फिर भी करता है) की लडकी का प्रेम एक करोडपति के लडके से है। यह हो गया दिलवाले 'गरीब' बनाम दिखावे वाले अमीर का ऐंगिल। (आखिर कहानी पहुचे हुए प्रगतिवादी ख्वाजा अहमद अब्बास की है जिन्होने एक बार दिलीप कुमार से पूछा था कि वो बकवास फिल्मे क्यो बनाते हैं!) सैक्स की कुण्ठा मे जकडे दशक के लिए भी उसमे कुछ दशनीय सामग्री है जिसमे अधस्नाता नारी की देहयष्टि और विरह से कातर नायिका के वस्त्रो की सुनियोजित बेतरतीबी शामिल है। याद है न आपको, 'मेरा नाम जाकर' मे पद्मिनी के सचमुच पद्मिनी होन का राज कितने 'ओरिजनल' ढग से खाला गया था! और भी बहुत कुछ है जो राजकपूर की पुरानी फिल्मो के दश्यो की याद दिलाता है—नायिका का नायक की बाँह से झूलना (बरसात) 'झूठ बोले कउआ काटे' ('रमय्या वस्ता वय्या') 'हम तुम एक कमरे मे' ('मैं का करूँ राम मुझे बुढडा मिल गया') और 'सगम' के कुछ अन्य दश्य वगैरा-वगैरा।

इस सबके अलावा 'बॉबी' मे कश्मीर है, गोआ है। बढिया फोटोग्राफी है, भडकीले नाच हैं, जबान पर चढ जाने वाले गाने हैं, मारा मारी है, सब तरह की घुडदौडें है हृदय-परिवतन है, अन्त भला तो सब भला का खटका है, प्रेमनाथ, दुर्गाखोटे अरुणा ईरानी, डिंपल और ऋषि की बढिया अदाकारी है, और है रूमानियत की गाढी तीन तार की चाशनी।

अब भला बताइए, इस सबसे बचकर दशक कहा जाएगा, कैसे जाएगा, क्या जाएगा ?

लेकिन यह सारी मुलम्मेबाजो इस तथ्य को नही ढक पाती कि मूलत 'बॉबी' महज एक महँगी और भव्य फार्मूला फिल्म है जिसको शशधर मुखर्जी, नासिर हुसैन, रामानन्द सागर जैसे अनेको निर्माता थोडी बहुत उलट-फेर के साथ और अलग अलग किस्म की चाशनियो (जिनमे देशप्रेम एक है) मे पाग कर जाने कितनी बार बना चुके हैं। हमारे कुछ रईसा को तोते, कुत्ते, बिल्ली वगैरह की महँगी शादियाँ रचाने का शौक रहा है 'बॉबी' भी बन्दरिया का ब्याह है, बहुत महँगा, बहुत भव्य, और हम सब बराती हैं। साहिर ने ताजमहल के लिए कहा

1 'चतुरग' राजस्थान पत्रिका, 10-3-1974

था—एक दौलतमंद ने दौलत का सहारा लेकर हम गरीबों की मोहब्बत का उड़ाया है मज़ाक। 'बॉबी' में राजकपूर ने इस देश की पूरी-की पूरी ईमानदार और संघर्षशील रचनात्मक अभिव्यक्ति का मज़ाक उड़ाया है।

दूसरी ओर, यह पहला मौका नहीं है जब जनरुचि और समालोचना की राहें एकदम भिन्न रही हैं। 'बॉबी' यह साबित करती है कि फॉर्मूला का जादू आज भी सिर चढ़कर बोलता है—एक हिस्सा आदर्श लीजिए उसमें नौ हिस्सा ग्लैमर मिलाइए और बाक्स आफिस की मरम्मत के लिए बढ़इयों का इन्तज़ाम कर लीजिए। दस पीछे नौ हिंदुस्तानी आज भी मनोरंजन के नाम पर एक 'सेफ' और हल्की फुल्की नवरसी चाट पसन्द करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य और 'निर्मिति' द्वारा हाल में आयोजित (रवीन्द्र मंच, 16-19 फरवरी) 'मोहन राकेश स्मृति नाट्य समारोह' के सन्दर्भ में आइये प्रयोगशील और गम्भीर नाटक के दर्शक-वर्ग के बारे में चन्द बातें कर लें।

अब नाटक भी तरह-तरह के होते हैं। पहली सीढ़ी पर 'अदरक के पंजे' और 'शाबाश अनारकली' जैसी विशुद्ध भर्ती हैं जिनका कोई महत्त्व नहीं है लेकिन जो फिर भी सफल रहती हैं। फिर आती हैं 'पैसा-पैसा पैसा' 'को माता को पिता हमारे' 'जलता है तो जले जहाँ', जैसी विशुद्ध कामर्शियल जो कुछ बेहतर नाट्य शिल्प की उदाहरण हैं और सफल भी रहती हैं। अगली सीढ़ी पर हैं 'कस्तूरीमृग' जैसे नाटक जो गम्भीर कथ्य को भी सरल और ग्राह्य बनाकर पेश करते हैं। यहीं हमें मिलते हैं उत्पलदत्त के नाटक जो अपने 'सन्देश' को किंचित सरलीकरण व अच्छे प्रस्तुतीकरण द्वारा आम दर्शक के नज़दीक तक ले जाते हैं। और इन तीनों श्रेणियों के परे हैं वे अर्थपूर्ण और गम्भीर नाट्य प्रयोग जो पूरे-के-पूरे नाट्यान्दोलन के हरावल दस्ते के रूप में नये-नये रास्ते तलाशते-बनाते हैं और मील के पत्थर बनते हैं।

ऐसा ही एक मील का पत्थर है मैक्सिम गोर्की का अमर नाटक 'तलछट' ('लोअर डैप्थ्स') जिसे 17 फरवरी को एम० एल० रैना के निर्देशन में यात्रिक (दिल्ली) ने पूरी ईमानदारी और कौशल के साथ प्रस्तुत किया। 'तलछट' में समाज के उस सर्वहारा वर्ग का मार्मिक विवरण है जो हमारे स्वयं के चारों ओर फुटपाथों पर बिखरा पड़ा है। 1903 में लिखा गया यह नाटक बर्लिन में लगातार तीन साल तक चला था। किसी भी दृष्टि से देखिये तलछट की गिनती संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में करनी होगी। लेकिन 17 फरवरी को रवीन्द्र मंच पर उपस्थित दर्शक-समूह में से एक बड़े वर्ग को जैसे इस सबसे कोई मतलब नहीं था। नाटक के एक करुण प्रसंग में रुग्ण अन्ना की मृत्यु पर टु मिनिटस साईलेंस का फिकरा कसने वाले अद्भुत सैंस आफ ह्यूमर' के धनी, एक सज्जन भी वहाँ उपस्थित थे।

और बहुत कुछ की तरह हमारा दर्शक-वर्ग भी आज गड्डमड्ड हो गया है।

पहले स्टेट, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक फिल्मो, नौटकिया, नाटको इत्यादि के दशको मे लगभग वैसा ही विभेद था जैसा मनोरजन के इन साधना प्रकारो मे। अब यह भेद इन दोनो ही स्तरा पर मिटता जा रहा है। तथाकथित पढा-लिखा दशक-वग भी अब 'क्लासिक्स' से या तो अजान है या उसकी आस्था इस कदर झटके खा चुकी है कि अब उसके लिए कुछ भी पूजनीय या माननीय नही रहा है, फिर भले ही वह उसके स्वय के परिवेश का ईमानदार चित्रण क्यो न हो। इसी अप्रबुद्ध, अतार्किक अगम्भीर और वणसकर विस्तार मे से उभरती हैं बॉबी' जैसी 'सफल,' फिल्मे जबकि अथपूण फिल्मे और नाटक या तो कुछ जाने-पहचाने चेहरो मे घिरे रह जाते हैं या फिर दशको की तलाश के नासद-सुखद अनिश्चय मे झूलते रहते हैं।

यहा थोडी चर्चा सैक्स की भी करलें। नये वणसकर मनोरजन म सैक्स का चातुयपूण उपयोग भी सफलता के कई आजमूदा नुस्खो मे से एक है। लेकिन समस्या तब खडी होती है जब गम्भीर फिल्म या सैक्स के सोद्देश्य चित्रण को 'वही वहानवी' की किताब का रूपान्तर मानकर कुछ जिज्ञासु दशक वहाँ आ फँसते हैं या आ धमकते हैं। फिल्म चेतना' म ऐसा होते मैंन देखा है। रमेश बख्शी के नाटक 'देवयानी का कहना है' म भी ऐसा कुछ हुआ था हालाकि दुर्भाग्यवश अभी तक किसी को इस नाटक पर रोक लगाने की प्रेरणा नही हुई है। ऐसी रोक का पूरा फायदा मिला विजय तेंदुलकर के 'सखाराम बाइण्डर' (अभिसारिका 19 फरवरी) को। यह नाटक वस्तुत कैसा है यह कहना कठिन है क्योकि वासुदेव का यह प्रस्तुतीकरण निहायत जल्दबाजी मे पेश किया गया, कल्पनाशूय और सपाट था। ज्ञानशिवपुरी स्टेजकाँशस रहे। मधु कालिया और पथ्वीनाथ जुत्शी अपनी भूमिकाओ के साथ याय कर सके। चम्पा की कठिन भूमिका मे रत्ना त्ता का अभिनय बहुत अच्छा था।

## तीन नाटक, कई सवाल[1]

पिछले दिना दो महत्त्वपूण नाटक दखने को मिले—एक, अजय कार्तिक के निर्देशन म प्रस्तुत सेमुअल बैंके के विख्यात नाटक वेटिंग फार गाडा का कल्कि का इन्तजार' नाम से वासुदेव द्वारा किया गया रूपान्तर (15 दिसम्बर, 1975) दा

1 1976 के प्रारम्भ में लिखित।

कचरा बताया और कहा कि उसकी तकनीक प्रपंची है, वह दर्शक से जुड़ता नहीं बल्कि उसके एकरस कथोपकथन (दर्शक का) जानबूझकर अपमान करते प्रतीत होते हैं।

और यह वैषम्य सिर्फ 'गोडो' को लेकर ही हो ऐसा भी नहीं। 1963 में पेरिस में जब बैके का 'ओह दि ब्यूटिफुल डेज़' प्रदर्शित हुआ तो एक समालोचक ने उसको जीवन मात्र के प्रति निंदात्मक माना जबकि दूसरे ने उसे एक यादगार ड्रामाई उपलब्धि बताया।

तो बैके कन्ट्रोवर्शल रहे हैं और रहेंगे। उनके नाटक एक विशिष्ट सांस्कृतिक मोड़ पर एक विशिष्ट सोच के ढंग के ईमानदार और हिला देने वाले नतीजे हैं। उनको अभिनीत करना ड्रामा में ट्रेनिंग का जरूरी हिस्सा है और ड्रामा में गम्भीर रुचि रखने वालों के लिए व अनुभव का विशिष्ट आयाम बनाते हैं। जहाँ तक नाटक के प्रस्तुतीकरण पक्ष का सवाल है, वह इस पूरी युवा टीम (निर्देशन अजय कार्तिक, मंच अजय राज, अशोक नरेन्द्र गुप्ता, धनपत श्रीचन्द माखीजा, नक्की राजेन्द्र सिंह, लड़की रेखा सक्सेना, संगीत घनश्याम आचार्य, प्रकाश-व्यवस्था, अजय प्रकाश) के लिए एक बड़ी सफलता थी। लेकिन कुल मिलाकर नाटक मुझ पर कोई टिकने वाला प्रभाव नहीं छोड़ सका उसकी अजनबी व असंपृक्त मुद्रा ने शुरू में तो बाँधा लेकिन एक-सी ही बातों के अंतहीन दोहराव ने पहले उबाया और फिर थकाकर छोड़ दिया। नाटक के इस असंचारी बेगानेपन का एक कारण तो उसका अधूरा भारतीयकरण था। नाम बदलने मात्र से अपने मूल परिवेश के लिए भी अजनबी ऐसे जटिल नाटक को भारतीय नहीं बनाया जा सकता और बेहतर होता कि उसे उसके मूलरूप में ही खेला जाता जैसा कि गोर्की के *'लोअर डैप्थ्स' के मामले में किया गया था। भारत में टैम्प्स नहीं होते,* अजय और अशोक के संस्करणों में दोनों ट्रैम्प्स पगलाये हुए हिप्पी लगते रहे। गोडो से बैके की क्या मुराद है हम नहीं जानते लेकिन भगवान के कल्कि रूप में अवतरित होने से भारतीय परिवेश में जो निश्चित संगति बनती है उससे नाटक के व्यापार *का तारतम्य नहीं बैठता।*

लेकिन क्या यह बेगानेपन की अनुभूति कहीं हमारे लिये ऐसे नाटकों की प्रासंगिकता के मूल प्रश्न से भी जुड़ती है? ऊलजलूल नाटक ऊलजलूल स्थितियों पर ऊलजलूल टिप्पणी है। वह मुंह चिढ़ाती हुई मानव परिस्थिति का जवाब मुंह चिढ़ाकर देते हैं—जमे-जमाये कथोपकथनों और नोक पलक से चुस्त दुरुस्त अच्छे बने (वैलमेड) नाटक की जरूरतों से बेगाने, पारंपरिक चरित्र चित्रण और तकनीक से बेज़ार प्रेक्षकों से निरपेक्ष, रास्ते की खोज से उदासीन। जैसा एक टिप्पणीकार ने बैके के नाटकों के बारे में कहा है—ऐसे नाटकों का पूरा आनन्द लेने के लिये शायद जीवन से घृणा और भाषा से प्यार करना पड़ता है। बादल सरकार के

अनुसार मनुष्य एक ऊलजलूल संसार में, बौराये लोगों के बीच रह रहा है। इस विक्षिप्त माहौल में विवेक खोजता हुआ नाट्यकार लाज़िमी तौर पर पागलपन में गहरे पैठता है, रोल के मुकाम पर हंसता है।

इस स्थिति पर टीप के रूप में यदि नेमीचन्द्र जैन कहते हैं कि कुल मिलाकर हमारे देश में योरोपीय ढंग का विसंगतिवादी लेखन अप्रासंगिक ही है और यह कि आज के भारतीय नाटक के सारे सक्षम स्वर आज की ज़िन्दगी के अन्तर्विरोधों को प्रतिबद्धता के साथ उधेड़ते हैं हताशा और अनिवार्य विसंगति की चेतना से नहीं तो बादल सरकार दावा करते हैं कि 'मनुष्य का संकट केवल पश्चिम तक सीमित नहीं।' और यहीं सवाल उठ आता है भारतीय नाटक के दबावों व प्रभाव का खाली-खाली कुर्सियों का—और परिणाम में ऐसे नाटकों की मांग का जो आम आदमी के लिए हों।

लेकिन आज हमें कैसा नाटक चाहिए इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश से पहले शेष दो नाटकों की भी चर्चा कर लें।

यदि 'गोडो' की मुख्य समस्या अधूरा या अनावश्यक भारतीयकरण और चतु-मुखी अर्थहीनता की थी तो 'मृच्छकटिकम्' के मामले में नौसिखिये अभिनय और नाटकीय दृश्यावली और उसकी तकनीक-स्वगत वेवक्त व लम्बे वार्तालापों के पुराने और नकली लगने की बात अवरोधक तत्त्व बन गई हालांकि भानु भारती ने उस पर ख़ासी मेहनत की थी और मैत्रेय के रूप में जतनी प्रशंसनीय थे। इस बात के अलावा कि इन नाटकों का स्कूली प्रस्तुतीकरण केवल नाटक के स्थूल स्पष्टैविल को उभारता है अन्तर्निहित सार्वजनीनता और सार्वयुगीनता को नहीं, क्या इस बात में भी कुछ सन्देह है कि इन नाटकों के ऐतिहासिक तथ्य के साथ हम आधुनिक टिप्पणी या दृष्टि जोड़ें जबकि यह उल्लेखनीय है कि इस दृष्टि से किये गये नाटक 'स्कूल फ़ॉर' ड्रामा के प्रस्तुतीकरण के बारे में यह कहा गया था कि 'नाटक को समकालीन सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों से जोड़ने का भरसक प्रयास किया गया था लेकिन इससे नाटक की मूल संवेदना को क्षति पहुंची।' या फिर स्थिति यह है कि मराठी रंगमंच म्यूज़ियम में सजाई वस्तु है जिसे कभी-कभी [illegible] के लिए [illegible] जा सकता है लेकिन जो वस्तुतः हमारी रंगचेतना का कोई अंतरंग और अभिन्न भाग नहीं बन सकती और अगर उसे आज के लिए ग्राह्य बनाना है तो या तो उसे हबीब तनवीर—की भांति [illegible] से [illegible] किया जाए या आज के लिए फिर से लिखा जाए [illegible] तक सीधा ही क्या आये—क्या किसी डॉक्टर ने कहा है कि [illegible] [illegible]

इन सवालों का सिर से ही छूते हुए चर्चा '[illegible]' की। एक [illegible] सीधा-सीधा नाटक लेकिन [illegible]

सीधी सच्ची प्रस्तुति के चलते और नाचशैनी के सर्वश्रेष्ठ का अपने म समाहित करत हुए दशक से जुडने और अपनी आतरिक सरचना में एक बेहद सफल नाटक। तो क्या रास्ता इधर है ?

ऊपर तीन तरह के तीन नाटको का आधार बनाकर कई सवाल उठाये गये है। जाहिर है कि इन सबके कोई सवसम्मत उत्तर नही दिये जा सकते। फिर भी अपनी बात कहता हूँ। सस्कृत रगमच पिछले सैकडा सालो से मृत रहा है। (मूल सस्कृत म आज जब नाटक होता है तो वह कैसे मात्र 'विभाग की जीवन्तता' का परिचायक बनकर रह जाता है, यह हम 'विवेकानन्द विजयम' म देख चुके हैं) फिर भी 'शकुन्तला' और 'मृच्छकटिकम्' यूरोप और मास्को मे खेले जाते हैं और जब मोहन राकेश एक पुराने युग का 'आषाढ का एक दिन' मे उकेरते हैं तो अच्छा नाटक बनता है।

क्लैसिक्स का महत्त्व—चाहे वे भारतीय हो या विदेश के—असदिग्ध है। निश्चय ही उनके प्रस्तुतीकरण म निर्देशक की अपनी दृष्टि का निश्चयात्मक योगदान होगा। लारेंस आलिवियर का 'आयेलो' शेक्सपीयर का पात्र होते हुए भी एक विशिष्ट रग रखता है। लेकिन यह रग क्या होगा यह निर्देशक की अपनी सूझबूझ पर निभर है। अभीष्ट यही है कि नाटक अपना मूल ऐतिहासिक स्वरूप बरकरार रखते हुए, मानवीय अनुभव और अभिव्यक्ति के धरातल पर हमसे आकर जुड सकें। और कुछ न बन पडे तो उनको अपने मूल रूप से ही रखिये, व्यथ की तोड मरोड मत कीजिये और जनता को तय करने दीजिये कि यह अब खेले जाने योग्य है, या नही।

सस्कृत-रगमच के पराभव के बाद अपभ्रश के रूप मे लोक शैलियाँ उभरी जिनका एक छोर कल के पारसी रगमच और आज के सिनेमा मे भी मिलता है। लोकशैलियो की अकृत्रिम जीवन्तता, सीधे सम्बोधन, ब्रेख्तियन 'एलियेनेशन' और तुरन्त स्फुरण—ने बहुतो को चमत्कृत तो कुछ को भ्रमित भी किया है और ये कुछ लोग लोकशैली को कुछ-कुछ उसी प्रकार का सम्पूर्ण निदान बनाकर पेश करते हैं जसे लहसुन या हीग या पोदीने या अदरक सम्बन्धी लेखो मे इन चीजो को किया जाता है। लोकमच से जहाँ और जितना अच्छा हो और उपयोगी हो हम लें लेकिन हर कही नट, सूत्रधार और नौटकी को लटके रूप में घुसा देने मात्र से कुछ भी नही होने वाला बल्कि यह खतरा रहता है कि हमारा उत्पादन वैसा ही स्थूल, भोडा और सीमित हो जाये जैसा प्रचलित लोकरूपो मे वह अवसर मिलता है।

जो बात क्लसिक्स के बारे मे ऊपर कही गई है वही पश्चिम के आधुनिक नाट्य प्रयोगो के बारे मे कही जा सकती है। यह हिन्दी नाटक के विकास का काल है, उसकी सीमा और क्षमता और दर्शकवग के विस्तार का काल है, वजनात्मक हदबदियो और आग्रहमूलक बहसो का नही। स्तानिस्लावस्की से

लेकर पीटरब्रुक तक के अनुभव और विचार हमारे लिये उपयोगी हैं, एक होते ससार की साझी सास्कृतिक विरासत हैं उनसे अपने को काट लेना कूपमडूकता है। आज रूस मे दुनिया भर के और हर युग के नाटक खेले जाते हैं। पश्चिम मे अपक्षाकृत निम्न वग भी बेकेट को देखता है।

यही सवाल उठ आता है आम आदमी का, प्रतिबद्धता का, सोद्देश्यता और समसामयिकता का। कुछ लोग अपने कत्तव्य का आदि और अन्त रगकर्मियो और दशकों को कोसकर और उन्हे प्रेक्षागृहो से बाहर निकालकर नुक्कड और मिलगेट पर चले जाने का उदबोधन देकर ही समझ लेते है। पर भाई प्रेक्षागृह हैं कहाँ जिनसे लोगो को निकाल रहे हो ? और क्यो निकाल रहे हो ? क्या प्रेक्षागृह मे नाटक करना जुर्म है ? 'शालें बनना और चलते जाना जुर्म नही है, जैसे तैसे करके दो तीन शामो तक कुछ नाटक देख लेना दिखा देना जुर्म है ?

मास्को मे क्या थियेटर नही हैं ? पशेवर, शाकिया, चल और अचल नाटयदल क्या साथ-साथ नही रह सकते हैं ?

मूल बात यह है कि हिंदी-रगमच न चल न अचल, अभी एक सामाजिक आदत बन ही नही पाया है। गरीब और अनपढ व्यक्ति की रेंज या नौटकी तक है या नौटकीनुमा फिल्म तक। शहरी पढे-लिखे लाग भी हल्का फुल्का मनोरजन चाहते हैं। प्रश्न नाटक के लोकविमुख होने का नही लागो म नाटक मात्र के लिए रुचि जमाने और फिर अच्छे नाटक के लिए आग्रह बनाने का है। विश्वास न हो तो एक नुक्कड पर अपना सबसे 'ज़ोरदार' नाटक कर लीजिये और दूसरी तरफ 'जय सन्तोषी मा' पिक्चर या 'अदरक के पजे' या 'चढी जवानी बूढे नू' चालू करवा दीजिये और फिर देखिये कि मिल गेट से निकला आदमी किधर जाता है। हाँ स्वय उत्पलदत्त आ जायें तो बात दूसरी है। लेकिन नुक्कड पर तापस सेन वाली प्रकाश व्यवस्था हो भी सकेगी ?

हमारा रगमच समृद्ध और विस्तत हो, छदम आभिजात्य से मुक्त हो, यह एक जायज चाहना है। लेकिन हर नाटक हरएक के लिए हो यह एक वाहियात माग और असभव आकाक्षा है। इसी तरह विचारो और विश्लेषण के नाटक को मात्र मनोरजन के फार्मूला नाटक पर तरजीह देना जायज है लेकिन मनोरजन मात्र को हेय मानना उचित नहीं है। हम सौ प्रयोगा का सच्चा नाटक चाहिये, सौ नारो की नाटकीयता नही।

समसामयिकता की बात भी भ्रम से पूरी तरह बरी नही है। और विधाओ की तरह रगमच पर भी बहुत कुछ स्थायी दीखने वाला क्षणजीवी होता है। कल तक एक चतुर्मुखी आक्रामक, आक्रोशी और मजाक बनाती, फतवे देती मुद्रा निहायत प्रचलित और सामयिक चीज़ थी। और आज ?

तो, भारतीय रगदृष्टि की खोज, निषेध, वजना और नारा के बीच म नही

हा सकेगी। हम एक समग्र, स्वस्थ और प्रमाणात्मक दृष्टिकोण रखना होगा और सस्कृत, लोक और पाश्चात्य इन तीनो स्रोतो से अच्छी बातो को लेकर आत्मसात् करना होगा। गुड की डली के भी टुकडे करने का वक्त अभी कहाँ आया है?

## बुरी फिल्मो का उत्तरदायित्व किस पर ?[1]

यह सही है कि काफी हद तक दशक वही फिल्म पाते हैं जिनके कि व योग्य हात हैं और इस प्रकार काफी अशा मे बुरी भारतीय फिल्मा का उत्तरदायित्व भारतीय दशका की अपरिपक्व व भेडचाल रुचि पर है। परन्तु इतना कहना काफी नही है, अन्य अनक तथ्य ऐसे हैं जिन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

सबस पहली बात तो यह है कि यह मानकर चलना कि अच्छी फिल्मे भारत म सफल नही हा पाती ठीक नही होगा। मैं समझता हूँ कि असफल अच्छी फ़िल्मों की तुलना मे उन फिल्मा की सख्या कही अधिक है जा अच्छी भी थी और सफल भी हुईं। हाँ, यह दूसरी बात है कि अच्छाई साबित हान के लिए हम असफलता को आवश्यक मानकर चलें और उन्ही फिल्मा का याद रख जा अच्छी होत हुए भी असफल रही। वरना क्या, डा० कोटनिस, महल', 'सावन आया रे', 'परिणीता', 'पतिता,' दो बीघा जमीन, प्यासा, और 'दिल अपना प्रीत परायी' कुछ कम अच्छी फिल्म थी या वे सफल नही हुईं? 'बन्दिश' मे सुन्दर स्वस्थ हास्य था और मैं नही समझता कि वह असफल रही। 'मेम दीदी' एक ताजा उदाहरण है।

एक मूलभूत प्रश्न यह है कि हम अच्छी फिल्म किस कहते हैं और वे कौन से गुण हैं जिनके हान स कोई फिल्म अच्छी कही जा सकती है व उसकी सफलता वाछनीय समझी जा सकती है। यहाँ हम भली प्रकार समझ लें कि एक आम दशक फिल्म देखता है अपने मनोरजन के लिए न कि उपदश पाने के लिए या अपना सुधार करने के लिए हालाँकि धार्मिक फिल्म अक्सर गम्भीरता के कारण भी दखी जाती हैं। मनोरजन प्राप्त करने की इस इच्छा म कही भी, कुछ भी, गलत नही है। जैसा एक अग्रेजी साप्ताहिक द्वारा फिलमो पर आयोजित एक परिचर्चा मे भाग लेते हुए अपने एक पत्र म श्री राजगोपालाचारी ने लिखा था "(फिल्म कम्पनिया द्वारा बनाई जाने वाली) फिलमा का मनोरजन प्रदान

1 1962 मे लिखित।

ना चाहिए। हा, वे शिक्षा प्रदान करने के विपरीत काय भी न करें ।"
निकट फिल्म की अच्छाई या बुराई का प्रश्न उसकी मनोरजन क्षमता से पूण-
मे सश्लिष्ट है। हाँ, मनोरजन स्वस्थ भी हा सकता है अस्वस्थ भी और
न कोटि का भी और एक अच्छी फिल्म स्वस्थ मनोरजन प्रदान करती है।
इसके साथ साथ वह कुछ शिक्षा भी दती है या समाज की किसी समस्या
समाधान प्रस्तुत करती है तो ये उसकी अतिरिक्त खूबियाँ हैं। परन्तु फिल्म
त शिक्षाप्रद हो, लाख गन्दगी से मुक्त हा, यदि वह उबाने वाली है, यदि
के सवाद, फोटोग्राफी सगीत राचक और कलापूण नही हैं तो उस फिल्म की
नी ही इज्जत हो सकेगी जितनी एक अपठनीय, दुर्बोध परन्तु उपदशो से लदी
साहित्यिक रचना की। तब केवल अच्छी कहानी से कुछ नही बनता। अच्छा
शिक मामूली घिसी पिटी कहानी से भी अच्छा चित्र तैयार कर लेता है
कि अच्छे ट्रीटमेण्ट के अभाव मे श्रेष्ठ कथानको की भी लुटिया डूब जाती है।
ाग्यवश, ऐसा कम ही हुआ है कि 'चित्रलेखा' के समान अच्छी कहानी व
छा निर्देशन एकमाथ आन मिले हा और ऐसा होते हुए यदि 'हीरा मोती'
दे के साथ दशक अन्याय कर जाये तो उन्हें बहुत अधिक दोषी नही ठहराया
सकता। उसने कहा था' मैंने अभी देखी नही परन्तु एकाध समीक्षाओ के
ार पर शायद यह कहा जा सकता है कि गुलेरी जी का नाम सुनकर फिल्म
ने जाने वालो के हाथ शायद अधिक कुछ नही आने वाला है। इसके विपरीत,
मुखराम शर्मा से अब दशक उम्मीद रखन लगे हैं और ऐसा भी नही है कि
ही रास्ता तलाक इत्यादि को असफल बताया जा सके।

एक समालोचक ने सत्यजित राय की फिल्मा के हिन्दी म डब न किये जाने का
उठाया है। पाथेर पाचाली' मैंने देखी ह और मेरी समझ मे एक गरीब या
यवर्गीय परिवार उसे देखन जाये ही जाये ऐसा उसमे कुछ नही है। यह चक्की
ाटो मे पिसती निस्सहाय परिवार की कहानी हमारे दश के करोडो लोगा की
ानी है और उसे देखने के लिए ऐसे ही परिवार पैसा और समय व्यय करें और
और अश्रु बहा आयें ऐसा समझने के लिए हमारे पास क्या आधार हैं ? चित्र
खूबिया उनके लिए हैं जो स्वय इन प्रताडणाओ के शिकार नही हैं। सत्यजित
की ददभरी फिल्म चित्रनिर्माण-कला की सवश्रेष्ठ उपलब्धियाँ हैं परन्तु
ारण दशक यदि उन्हे बाक्स आफिस पर सफल न बनाये ता क्या हम उन्हें
देंगे ?

एक और उदाहरण लीजिए। आज हम सब 'जागते रहा' की प्रशसा करते
ौर दशको की उस रुचि का दोष देते हैं जिसके कारण फ़िल्म आर्थिक सफलता
त न कर सकी। परन्तु सच बात यह है कि कई साल पहले इलाहाबाद में
फिल्म पहले-पहल दिखायी गयी ता उसके कुछ ही दिन बाद चल जाने पर

किसी को आश्चय नही हुआ था। कारण स्पष्ट है। अपनी कई खूबियो के बावजूद फिल्म लम्बी और लचर थी और कई स्थानो पर ऐसा लगता था कि प्रोजेक्टर मे फिल्म न आगे बढना बन्द कर दिया है परन्तु वही फिल्म जब एडिट की जाकर विदेशो मे दिखाई गई तो उसको सफल माना गया। इसके विपरीत मैं उदाहरण देना चाहूँगा 'दिल अपना प्रीत पराई' का जिसमे अच्छी कहानी, पटु सवाद-लेखन मनोहारी अभिनय, कुशल निर्देशन व सुन्दर सगीत का समन्वय था और जो शायद दशको के सभी वर्गों द्वारा पसन्द की गई।

हम भारत के लाखो सिनेमा दशको की आर्थिक स्थिति और मानसिक आवश्यकताओ का ख्याल रखना ही पडेगा। यदि य दशक सिनेमा से भरपूर मनोरजन चाहते हैं तो हम उन्हे दोष नही दे सकते। दूसरी ओर यह सोचना भी गलत है कि ये दशक अस्वस्थ मनोरजन ही चाहते हैं। यदि ऐसा होता तो बीसियो की सख्या मे रद्दी फिल्मे असफल न होती और 'दो आखें बारह हाथ' और 'तूफान और दिया' जैसी फिल्मे कभी भी सफल न होती। यह सही है कि हमारा दशक फिल्मी पर्दे पर भानमती का पिटारा खुलने की अपेक्षा रखता है परन्तु यह पिटारा सुरुचिपूर्ण ढग से भी खोला जा सकता है और जब जब ऐसा हुआ है फिल्म साधारणतया सफल रही है। ज्यो ज्यो भारतीय दशक प्रबुद्ध होते जायेंगे 'मुन्ना और कानन' जैसी फिल्मो के लिए भी स्थान बनता जायगा। परन्तु इस बीच मे हमारे दशक फिल्मों से पूर्ण, बहुअगी और स्वस्थ मनोरजन चाहते हैं और उनकी इस इच्छा से हमे शिकायत नही होनी चाहिए।

एक बात और है और वह विज्ञापन से सम्बन्ध रखती है। चूकि पत्रो मे फिल्मो की समीक्षायें कम होती हैं और जब होती हैं तो गलत ढग से और चूकि दशकों का एक बहुत छोटा भाग ऐसी समीक्षायें पढकर फिल्म देखने या न देखने का इरादा बनाता है, विज्ञापनो का महत्व बहुत अधिक है और अक्सर अच्छी फिल्मे विज्ञापन के मामले मे घटिया फिल्मो के मुकाबले मे पिछड जाती हैं। यह भी होता है कि प्रबुद्ध दशको का मत जो अन्तत किसी फिल्म को अच्छा या बुरा करार देता है समय रहते घोषित नही हो पाता और जब फिल्म प्रोजेक्टरो से उतरकर डब्बो मे बन्द हो चुकती है तब सुनाई देता है कि अमुक फिल्म अच्छी है।

तब अच्छी फिल्म की अपनी परिभाषा को ध्यान मे रखते हुए हमे कहना होगा कि अच्छी फिल्मे असफल ही होती हो यह बात नही है, हाँ अपूर्ण और अमनोरजक या ठीक प्रकार से प्रचारित न की गई फिल्मे अक्सर असफल होती हैं।

रहा यह सवाल कि अच्छी फिल्मे कम क्या बनती हैं तो उसका उत्तर है निर्माताओ मे प्रयोग बुद्धि का अभाव और अच्छे निर्देशको की आर्थिक परतन्त्रता। एक तो अच्छे निर्देशको का वैसे ही अभाव है दूसरे उनके काम पर निर्माता, फाइनेंसर, वितरक इत्यादि न जाने कितनो के अकुश लगे रहते हैं। इसलिये

देना जा सकता है कि जब अच्छे निर्देशक या अच्छे निर्माता मिलते हैं तो आमतौर पर अच्छी फिल्म बनती हैं। इस प्रकार हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि बुरी फिल्मो का उत्तरदायित्व केवल दर्शकों पर ही सा नहीं बल्कि वह निर्माताओं निर्देशकों, पत्र-पत्रिकाओं और दर्शकों के बीच म बटा हुआ है।

## फिल्म सगीत सिंहावलोकन—1[1]

1931 म प्रदर्शित आर्देशेर ईरानी की आलमआरा भारत की पहली सवाक् फिल्म थी। उसका सगीत उसकी विशेषता थी। इससे पहले भी मूक फिल्मो के साथ पर्दे के पीछे बैठे साजिन्दो द्वारा पार्श्व सगीत देने की प्रथा थी—नौशाद गुलाम मोहम्मद, सलिल चौधरी—य तीनो भी यह करते रहे थे—किन्तु निश्चय ही इसे फिल्म सगीत की सज्ञा नहीं दी जा सकती। आलमआरा के तुरन्त बाद 'शीरी फरहाद' आई जिसम 17 गाने थे। बाईस गानो के साथ 'लैला मजनू' व इन्द्रसभा तालीम के साथ 'शकुन्तला' आई। फिल्म सगीत का युग प्रारम्भ हो चुका था।

इसी के आसपास न्यू थियेटर्स की 'मुहब्बत के आँसू' के माध्यम स सहगल का प्रवेश हुआ और अगले 15 वर्षों के दौरान, 1947 म 46 वष की आयु मे अपने असामयिक निधन तक, वे फिल्म सगीत के आकाश पर छाये रहे। न्यू थियेटर्स के पूरन भक्त (1932, जाओ जाओ ए मेरे साधु के० सी० डे) और यहूदी की लडकी (1933, नुक्ताची है गमेदिल सहगल) अपने सगीत के लिए आज भी याद किये जाते हैं।

लेकिन प्रारम्भ की इन सवाक् फिल्मो के साथ एक कठिनाई प्लेबैक पद्धति का न होना थी जिसके फलस्वरूप अभिनेता अभिनेत्रियो को अपने गीत खुद गाने होते थे और गानो को भी फिल्म की शूटिंग के साथ गाना फिल्माना होता था। जैसा अनिल विश्वास ने बताया है अलग-अलग सैटो पर एक ही गाने को निभा ले जाना मुश्किल काम था खासकर बाहर के वातावरण म शूटिंग के समय लय और आवाज के पिच को बरकरार रखते हुए गाना प्रस्तुत करना तो बहुत ही कठिन होता था (श्याम परमार के लेख से)। नौशाद ने इस पद्धति से शूटिंग-रिकार्डिंग का एक मजेदार बयान किया है एक ट्राली पर कैमरा रखा हुआ है, दूसरी पर साजिदे बैठे हुए हैं, जिस कलाकार पर शाट लिया जा रहा था वह गा

1 'इतवारी पत्रिका' म 1976 मे प्रकाशित।

रहा था। कैमरे के साथ साजिंदों वाली ट्राली भी आगे बढ़ती और उसके साथ-साथ संगीत निर्देशक अनिल विश्वास भी कड़कड करते-करते आगे बढ़ते—(हरीश तिवारी के लेख 'सुरयागी नौशाद' से)। जरा तुलना कीजिए इन परिस्थितियों की आज के आधुनिक, वातानुकूलित स्टूडियोज की कार्यप्रणाली और सुविधाओं से। यदि इसके बावजूद *बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय* (सहगल, स्ट्रीट सिंगर 1938, आर० सी० बोराल) जैसे अमर गीत रचे जा सके तो यह सर्वविदित कलाकारों और तकनीशियनों दोनों के लिए बाईसेतारीफ बात है।

बाम्बे टाकीज़ की 'जवानी की हवा' (1935) और न्यूथियेटस की धूपछाव (1935) के साथ प्लेबैक पद्धति प्रारम्भ हुई। फिर भी, काफी बाद तक, शूटिंग के साथ ही गाना रिकार्ड करने और स्वयं अभिनेता अभिनेत्रियों को ही गवाने का क्रम जारी रहा हालांकि इनमें सहगल, के० सी० डे, पंकज मल्लिक, पहाड़ी सान्याल, कानन देवी, सुरेन्द्र, उमा शशि, बिन्दो जैसे समर्थ गायक भी थे। उस समय के फिल्म संगीत में साज़ों के तामझाम का सर्वथा अभाव था। 1936 में अनिल विश्वास द्वारा 12 साजिंदों का प्रयोग एक आश्चर्यजनक बात समझी गई थी। धुनें सीधी-सादी और शास्त्रीय रागों तथा नाट्य संगीत की छाया लिये हुए होती थीं। लेकिन अभिव्यक्ति की सादगी, धुन की मधुरता और बोलों की कशिश के कारण ये गीत उस पीढ़ी का कण्ठहार बने रहते थे। *कुछ उल्लेखनीय गीत इस* प्रकार हैं बालम आय बसो मोरे मन में—(सहगल, देवदास 1935), तड़पत बीते दिन रैन तथा प्रेमनगर में बसाऊंगी घर मैं तजके सब संसार (चंडीदास 1934) बाबा मन की आँखें खोल (के०सी० डे, धूपछांव) मैं बन की चिड़िया बनके बन बन डोलूं रे (अशोक कुमार-देविका रानी, अछूत कन्या, 1936) तुम्ही ने मुझको प्रेम सिखाया (सुरेन्द्र बिब्बो, मनमोहन 1936) इक बंगला बने न्यारा (सहगल, प्रेजीडेण्ट, 1937) *मोरे अँगना में आये आली मैं चाल चलूं मतवाली, पनघट पे* कन्हैया आता है (कानन देवी डे विद्यापति 1937) शराबी सोच न कर मतवाले कौन देश है जाना बाबू (पंकज मल्लिक मुक्ति 1937) पिया मिलन को जाना (पंकज कपाल कुण्डला 1939) कहूं क्या आस निराश भई (सहगल, दुश्मन, 1938) *सोजा राजकुमारी सोजा* (सहगल *जिन्दगी* 1940) चल चल रे नौजवान और चलो सग चलें हम (अशोक कुमार, लीला चिटनिस, बन्धन, 1940) तेरे पूजन को भगवान बना मन मंदिर आलीशान (भारत की बेटी, *1936*) जिन्दगी का साज भी क्या साज है (नसीम पुकार 1936) न जाने किधर आज मेरी नाव चली रे मैं तो दिल्ली से दुल्हन लाया रे, (अशोक कुमार-लीला चिटनिस झूला, 1941) जिन्दगी है प्यार से, प्यार से बिताये जा हो सावन के दिन आये रे जरा बाज बंसुरिया (सिकन्दर, 1941) सूनी पड़ी रे सितार मीरा के जीवन की (लीला चिटनिस कंगन 1939) इत्यादि।

संगीत-निर्देशन की दृष्टि से यह युग सरस्वती देवी (मिस खुर्शीद होमजी) आर० सी० बोराल, तिमिर-बरन, पंकज मल्लिक, अनिल बिश्वास आदि का था। इनके साथ ही उस्ताद झंडे खां (चित्रलेखा, 1940) केशवराव भोले (सन्त तुकाराम 1936 संत ज्ञानेश्वर, 1940) और ज्ञानदत्त (संत तुलसीदास 1939) का भी उल्लेख करना होगा। ज्ञानदत्त ने बाद में भक्त सूरदास (1942 सहगल खुर्शीद राजकुमारी कब से कदम की छैयां, मधुकर श्याम हमारे चोर कदम चल आगे मन पाछे भागे) की अमर स्वर रचना भी की। इसी के आसपास शंकरराव जी के संगीत से सजी रामराज्य आई—भीमपलासी में बीना मधुर मधुर कुछ बोल कच्छी काफी पर आधारित भारत की एक सन्नारी की हम कथा सुनाते हैं (जिस के दो गायकों में से एक राम मराठे थे) और मन्नाडे का पहला फिल्म गीत—चल तू दूर नगरिया तेरी। संत तुकाराम, संत तुलसीदास और बाद में भक्तराज में अमर मन गायक, विष्णु पंत पगनीस भी सुनाई दिए। मुझे राम से कोई मिलाद तू रामभजन कर प्राणी आदि गीत आज भी कानों में गूंजते हैं। भक्तराज में उन के साथ वासन्ती भी थी जिनका किसी और फिल्म में गाया 'मां प्यारी मां गोद में तेरी खेला बचपन मेरा मां की गरिमा का समर्पित आज तक के गीतों में मुझे सर्वश्रेष्ठ लगता है। कहा जाता है कि चित्रलेखा के सभी गीत भैरवी पर आधारित थे। दो गीत नील कमल मुस्काये रे भंवरा झूठी कसम खाये और जाओ जाओ बड़े भगवान बने, इन्सान बना तो जानें (जिसके भाव को बाद की, काली घटिया, चित्रलेखा में, रोशन के संगीत में, संसार से भागे फिरते हो, भगवान को तुम क्या पाओगे—इन शब्दों में ढाला गया) आज भी याद आते हैं।

मैंने ऊपर इस काल के फिल्मी गीतों के बोलों की अर्थवत्ता और कशिश की चर्चा की थी। उदाहरणस्वरूप 'धरती माता' (1937) में सहगल का गाया यह गीत देखिए—

> अब मैं काह करूँ कित जाऊं
> छूट गया सब साथ सहारा
> अपने भी कर गए किनारा
> इस दुनिया में ही सब कुछ हारा
> आशा हारी हिम्मत हारी
> अब क्या दाव लगाऊं
> जो पौधा सींचा मुर्झाया
> टूट गया जो महल बनाया
> बुझ गया जो भी दिया जलाया
> मन अँधियारा जग अँधियारा
> जोत कहाँ से लाऊं

कितनी साफ, सीधी और हृदयग्राही अभिव्यक्ति ! एक और उदाहरण (नया ससार 1941) जिसमे उस कठिन काल म फिल्मी गीत, के जरिये देशहित साधने की बानगी भी मिलती है

एक नया ससार बसाले एक नया ससार !
आज हम गायें नय तराने
आजादी की प्रीत के गाने
आज वसन्त बहार
ऐसा इक ससार हो जिसम
धरती हो आजाद कि जिसमे, जीवन हो आजाद
कि जिसम भारत हो आजाद,
जनता का हो राज जगत मे, जनता की सरकार
जगे देश की गली गली मे, नवयुग का त्योहार
आज मन्दिर की दीवारें डोल उठी
आज मस्जिदो की मीनारें बोल उठी
कहती बारम्बार पुकार पुकार
बन्द करो मजहब के झगडे
आपस की तकरार।

और जब ऐसे गीतो को सोने मे सुहाग की भाँति उपयुक्त और नय स्वर-सयोजन मिल जाता था तो उन अमर गीतो की रचना होती थी जिनम से कुछ की चर्चा हमने की और जो आज 35 वर्ष बाद भी हम सम्मोहित करते हैं।

1940-41 के बाद एक ओर तो ऊपर वर्णित सगीत निर्देशको मे से कई ने अपना योगदान जारी रखा —बल्कि अनिल विश्वास का सर्वोत्तम तो आना शेष ही था—तथा, दूसरी ओर अनेक नय प्रतिभाशाली निर्देशको का पदार्पण सिने-जगत मे हुआ। लेकिन वह खास कारण जिसकी वजह से 1940 को हिन्दी फिल्म सगीत के इतिहास मे एक विभाजन रेखा के रूप मे लिया जा सकता है फिल्म सगीत का एक ओर तो लोक सगीत और दूसरी ओर पाश्चात्य सगीत और आरकेस्ट्रेशन से प्रभावित सपक्त होने का है। 1941 मे पजाब से पचोली की खजान्ची आई। सगीत निर्देशक थे—मास्टर गुलाम हैदर। वचन श्रीवास्तव के शब्दो मे— 'गुलाम हैदर न खजान्ची मे नया प्रयोग किया। उन्होंने ऐसी स्वर-योजनाएँ दी जिनमे गति थी, पजाब की लोकधुनो का मिश्रण था। खजान्ची के सगीत ने फिल्म सगीत को एक नई दिशा दी जिस पर आधुनिक फिल्म सगीत का विकास हुआ।' इसी क्रम मे 1942 मे पचोली का खानदान आया। खजान्ची का सावन के नजारे हैं अहा अहा और खानदान के तू कौन-सी बदली म मेरे चाँद है आजा और मेरे लिए जहान मे चैन है न करार है अपने जमाने मे तो लोक-

प्रिय हुए ही लेकिन उन्होने वह राह भी खोली जिसे नौशाद, गुलाम मोहम्मद व हुस्नलाल भगतराम ने प्रशस्त किया। नौशाद के सगीत निर्देशन वाली—शारदा (1942) से मटका, रतन (1944) से ढोलक और सन्यासी (1945) से डफ की लोकप्रियता हुई और वे फिल्मी आरकेस्ट्रा के महत्त्वपूर्ण अग बन गए।

भारतीय फिल्म सगीत को पाश्चात्य सगीत का प्रथम सस्पर्श देने का श्रेय पकज मल्लिक को जाता है। उनके स्वय के जब चाँद मेरा निकला जिसे मेरी याद न आए, प्राण चाहे नैनन चाहे, आई बहार आज' इत्यादि मे रिदम और साजो के प्रयोग का एक नया रग था जो भारतीय रहते हुए भी, उदाहरण के लिए बोराल और सरस्वती देवी की परम्परा से बिल्कुल अलग और प्रयोगात्मक था। इनमे से कई गीतो म एफ केसानोवा के आरकेस्ट्रा का योगदान भी स्पष्ट है। यह पाश्चात्य प्रभाव बाद मे सी रामचन्द्र के हाथो गुजरता हुआ उन अनक छोटे-बडे आधुनिक कारीगरो तक पहुँचा जिनका धन्धा चुराई गई कारो का रगरोगन बदलकर बचने वाला के फन से काफी मिलता है।

ऊपर वर्णित परिवतनो के साथ ही अनेक नई गायन-प्रतिभाओ का आगमन भी लक्ष्य करने योग्य है। नूरजहाँ जोहराबाई अम्बालेवाली सुरेन्द्रकौर अमीर बाई कर्नाटकी राजकुमारी, उमादेवी (टुनटुन), शान्ता आप्टे, ललिता देवुलकर, मोहनतारा अजरिया, शमशाद बेगम, खुर्शीद, जी एम दुर्रानी, खान मस्ताना श्याम कुमार, गीताराय, सुरैया, लता मगेशकर, रफी तलत, मुकेश, हमन्त कुमार मन्नाडे आदि का उदय हुआ और वे पुरानी प्रतिभाओ मे जुडते गए या उनका स्थान लेते गए। इनके अतिरिक्त मास्टर कृष्णराव, बेगम अख्तर, जद्दन बाई, सरस्वती राणे जैसी प्रतिष्ठित गैर फिल्मी हस्तियो का भी योगदान रहा। गायक-निर्देशकों की परम्परा का अनिल विश्वास, सी० रामचन्द्र, सचिन देव बर्मन और हेमन्त ने आगे बढाया।

हिन्दी फिल्म सगीत का स्वर्ण युग प्रारम्भ हो चुका था और वह लगभग 1960 तक चला।

## फिल्म सगीत सिंहावलोकन–2

प्रसगवश यहा यह उल्लेखनीय है कि तब आज जैसे स्टीरियो प्लेअर नही थे। सुईयाँ बदलकर, चाबी दे देकर, साढे तीन साढे चार मिनट वाले रिकार्डों के जखीरो को उलेथा पलेथा जाता था।

उन दिनों आज की तरह हर घर में, बल्कि हर हाथ में, रेडियो भी नहीं था। हम लोग बड़े चाव से रेडियो वाले किसी 'भागवान' के घर इकट्ठे होते और बी० एन० मित्तल की जादुई आवाज़ को फर्माइशी प्रोग्राम और फिल्मों की गीतों भरी कहानियाँ पेश करते सुनते। प्रसंगवश यह दू कि अमीन सयानी से पहले, मित्तल जैसा और कोई उदघोषक नहीं हुआ। वैसे भी, वो अपनापा, श्रोता से सीधे सम्पर्क बनाने का माद्दा वो तकल्लुफी अब आकाशवाणी के उदघोषकों में नहीं है। अब तो ज्यादातर, मशीन मशीन पर मशीन बजाती है।

मास्टर गुलाम हैदर को वतन की राह में वतन के नौनिहाल शहीद हो के ज़रिये शायद आज की पीढ़ी भी जानती हो। लता की प्रतिभा का पहचानने वाल वे पहले पारखियों में से थे और मजबूर में उन्होंने लता से गवाया। गुलाम हैदर की सफलता से अनिल विश्वास ने कुछ कुछ उसी तरह सीख ली जिस प्रकार बाद में नौशाद के रतन की सफलता से सचिनदेव बर्मन लेने वाले थे। फलस्वरूप अलीबाबा में अनिल ने पंजाबी लोक संगीत के वातावरण को अपनाया। इस प्रयोगशीलता और थीम व वातावरण के अनुसार संगीत रचने की उनकी क्षमता का लोहा नौशाद ने भी माना। लगभग 20 वर्ष (1936 1957) तक भारतीय सिने संगीत को गौरवान्वित करने के बाद अनिल विश्वास ने उसे छोड़कर रेडियो की नौकरी कर ली। अच्छा किया, वरना यह बेमुरव्वत माहौल उनके साथ भी वही करता जो उसने हुस्नलाल भगतराम, सज्जाद आदि के साथ किया। लेकिन अनिल विश्वास का कृतित्व अमर है। धीरे धीरे आ रे बादल (अमीर बाई, किस्मत 1943), तुम्हारे बुलाने को जी चाहता है (लता, लाडली), आ मुहब्बत की बस्ती बसायेंगे हम (किशोर-लता फरेब), ज़माने का दस्तूर है ये पुराना (लता मुकेश लाजवाब) दिल जलता है तो जलने दे (मुकेश पहली नजर), ऊपर है बादरिया कारी मौजा में है नाव हमारी (सहगान मिलन) और ऐसे बीसियों अन्य गीतों को कैसे भुलाया जा सकता है। हमदर्द (1953) के रुत आये—रुत जाये सखीरी में सारंग मल्हार, बसन्त और जोगिया के इस्तेमाल की तारीफ किन शब्दों में की जाये!

अनिल विश्वास जैसी ही मदिर—मधुर धुनों के एक और विशिष्ट सर्जक थे—श्याम सुन्दर। साजन की गलियां छोड़ चले—बाजार के इस गीत की टक्कर की रचनाएं गिनती की ही होंगी। इन्हीं श्यामसुन्दर ने गाँव की गोरी में नूरजहाँ से किस तरह भूलेगा दिल उनका खयाल आया हुआ, जा नहीं सकता कभी शीशे में बाल आया हुआ और बैठी हूँ तेरी याद का लेकर के सहारा जैसे गीत गवाये।

अनिल विश्वास के समकालीनों में केवल एक हस्ती उनके जोड़ की ठहरती है—और वे हैं नौशाद। 1919 में जन्मे नौशाद, 1940 में प्रेमनगर और 1942 में

स्टेशन मास्टर से ऐसे शुरु हुए कि उनकी सगीत एक्सप्रेस आज भी शान से चल रही है। गौर कीजिये—चोटी पर 36 साल और वह तब जबकि उन्होने कोई समझौता कबूल नही किया। 1945 म डी० एन० मधोक के गीतो और नौशाद के सगीत वाले रतन (जब तुम्ही चले परदेस, रिमझिम बरसे बादरवा, सावन के बादलो) ने झडे गाड दिये। इससे पहले 1942 मे शारदा के जरिये वे सुरैया (पछी जा, पीछे रहा है बचपन मेरा, उसको जाके ला) को सामने लाए। और फिर लाजवाब सगीत से सजी फिल्मो की एक पूरी कतार—अनमोल घडी(1946 क्या याद आ रहे हैं), दद (1947, अफसाना लिख रही हूँ) मेला (1948, धरती को आकाश पुकारे, ये जिन्दगी के मेले) अनोखी अदा (अब याद न कर भूल भी जा कभी दिल दिल से टकराता तो होगा) अन्दाज (1949) दुलारी (1949 सुहानी रात ढल चुकी) दिल्लगी (1949, तू मेरा चाँद मैं तेरी चाँदनी) दास्तान (1950 आन (1952) बैजू बावरा (1952) शबाब(1954) । बीच मे लीडर, दिल दिया दद लिया साज और आवाज मे वे थके हुए से भी लगे लेकिन ओ मेरे जीवनसाथी (साथी 1968) की लचक बताती है कि वे चुके नही हैं। आज के सगीत निर्देशक पृष्ठभूमि सगीत को नजर अन्दाज करते है लेकिन नौशाद की फिल्मे उनके बैक-ग्राउण्ड स्कोर के लिए ही भी देखी जा सकती है और इसकी साक्षी है पाकीज़ा।

पाकीजा से यादें जुडी है स्वर्गीय गुलाम मोहम्मद की। राजस्थान (नाल, बीकानेर) के इस सपूत को, जब नौशाद को 40 रु० माहवार मिलते थ, 60 रु० माहवार पर रखा गया था। बाद मे उन्होने अधिकतर नौशाद के सहायक के रूप मे काम किया लेकिन शमा, मिर्जा गालिब, पाकीजा आदि मे उनकी प्रतिभा स्वतन्त्र रूप से भी चमकी। जिन्दगी देने वाले सुन (तलत, दिले नादान) य दुनिया है यहाँ दिल का लगाना किसको आता है (मुकेश-लता, शायर) इत्यादि गीत कभी पुराने न होगे।

1940 मे 1950 के दशक का फिल्म-सगीत कितना समृद्ध था—इसका समझने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि, जिन नामो का जिक्र अब तक हुआ, उनके अलावा, यह राजस्थान के एक और सपूत खेमचन्द्र प्रकाश (सुडी, जिला चुरू) का भी वक्त था। तानसेन (1944) सगीत प्रधान फिल्मो की सिरमौर थी। यदि अपने सगीत के लिए यादगार हिन्दी सिनेमा के पूरे इतिहास मे से किसी एक ही फिल्म का चुनाव करना हो तो मैं निस्सन्देह 'महल' (1949) का चुनाव करूँगा और यदि सवश्रेष्ठ गीत रचना के चुनाव की बात हो तो वह रचना होगी—आयेगा आनेवाला (लता)—गीत, धुन आरकेस्ट्रा, गायन सौन्दय का ऐसा लाजवाब मेल कि भूतो न भविष्यति' कहने का मन करे।

1944 मे चाँद से प्रारम्भ करके, शायद 1952 मे बनी अपमाना तक हुस्न लाल भगतराम हिन्दी फिल्मजगत् के बेताज बादशाह रहे। उन्होने पजाबी रिद्म

का मधुरता से कुछ ऐसा सम्मिलन कराया कि उनके गीतों में युवा हृदयों की धड़कनें प्रतिध्वनित होने लगीं। सुन मेरे साजना, चुप चुप खड़े हो, इक दिल के टुकड़े हजार हुए, हाय तेरे नयना ने चोरी किया, जो दिल में खुशी बनके आये, चले जाना नहीं ओ दूर जानेवाले, वो पास रहें या दूर रहें आदि गीत एक विशेष ट्रेण्ड और दौर के सीमा-स्तम्भ हैं। राजेन्द्र कृष्ण के शब्दों का बापू की अमर कहानी में उन्होंने ही ढाला था। इन दोनों बन्धुओं के साथ ही, उनके अग्रज, प० अमरनाथ (दासी, मिर्जा साहिबा, गम कोट) का जिक्र भी किया जा सकता है। इसी दौर और शैली के एक और नामी सर्जक, हुसनलाल बहन (हाय चन्दा गए परदेश, चकोरी रो रो मरे नैन द्वार से मन में वो आ के, हाय जिया रोये) का पदार्पण भी 1944 में 'पुजारी' के साथ हुआ था।

1940 50 के दशक को विशिष्ट बनाने वाला में ही सी० रामचन्द्र भी थे। चितलकर, जो एक बढ़िया गायक भी रहे, का महत्त्व यह है कि जहाँ एक ओर उन्होंने धीरे-से आजा री अखियन में (अलबेला), मोहब्बत ही न जो समझे, कटते हैं दुःख में ये दिन (परछाई) वो पास आ रहे हैं हम दूर जा रहे हैं, (समाधी), जब दिल को सताये गम (सरगम), जाग दर्दे इश्क जाग (अनारकली), तुम क्या जानो तुम्हारी याद में (शिन शिनाकी बबूला बू) ए प्यार तेरी दुनिया से हम (झांझर) जैसे मैलोडी और भावनाप्रधान गीतों की रचना की, वहीं दूसरी ओर आना मेरी जान सण्डे के सण्डे (शहनाई) गोरे-गोरे ओ बाँके छोरे (समाधी), शिन शिनाकी बूबला बू, मेरा नाम है अलादीन आदि के साथ सारी परम्पराओं को तोड़ने का साहस भी किया और फिल्म संगीत की एकरसता को भंग किया। रामचन्द्र ने विदेशी प्रभाव, अपनी अलग पहचान बनाने के लिए और अपनी सर्जनात्मक बेचैनी और प्रयोगशीलता के अन्तर्गत लिया था। उन्होंने अनिल विश्वास के साथ काफी काम किया था। नई तरह की रचनाओं के बारे में जब अनिल विश्वास ने उनसे प्रश्न किया तो चितलकर का जवाब था—यदि मैं आपकी तरह के ही गीत रचता रहूँ तो इसमें मेरा अपना योगदान क्या होगा? लेकिन बाद में रोशन और सलिल चौधरी जैसे अपवादों को छोड़कर शेष संगीतकारों ने ज्यादातर उसे एक रूढ़ि फैशन और सुविधा के रूप में लिया। 'अनारकली' चितलकर की जीनियस की अमिट निशानी है। लेकिन नवरंग (1956) के बाद वे वक्त की दौड़ में पिछड़ गए।

1946 में शिकारी से शुरू करके भी अगर कोई एक संगीत-सर्जक मृत्युपर्यन्त कभी नहीं पिछड़ा तो वह थे दादा सचिन देव बर्मन। और इस चिरनवीनता का राज यह था कि वे सदैव प्रयोगशील रहे और साथ ही यह भी कि लोक और शास्त्रीय दोनों में ही उनकी गहरी जड़ें थीं। अपनी तीसरी फिल्म दो भाई के मेरा सुन्दर सपना बीत गया और मुझे छोड़ पिया किस देश गये जैसे सदाबहार गीतों

से शुरू करके, एक बार आज फिर जीन की तमन्ना है और मेरे सपना की रानी जस जवाँ थिरकत गीत तो दूसरी ओर वचाल मुझे बाबू, मैं जानू री जैसे शोख, नटखट गीत ता तीसरी ओर भन-झन झन पायल बाजे पवन दीवानी मेघा छाये आधी रात और पूछो न कैसे मैंने जसे शास्त्रीय रगत वाले गाने तो चौथी ओर जिन्हे हिन्द पर नाज है' (प्यासा) और बिछुड़े सभी बारी-बारी' (कागज के फूल) जैसे गम्भीर गीत, ता पाँचवीं ओर सुनो मेरे बन्धु रे,' कितना है साना दूर गगन पर' और 'अभी न जा मेरे साथी जस लाजवाब मे रगे गीत ना छठी ओर आनेवाले कल स भी आधुनिक 'रूप तेरा मस्ताना' जस गीत—सचिनदेव की बहुमुखी प्रतिभा का कोई सानी नहीं है। जसे फिल्म-सगीत, स्वय सजा फिल्म के उनके स्वर सयोजन का सहारा लेकर उनसे पूछ रहा है—'तुम न जाने किस जहाँ म खो गए।

## फिल्म सगीत सिंहावलोकन–3

1949 म जबकि महल साने के गीत दशक का समापन घोषित कर रहा था, उसी वष आई बरसात से, सोने के न सही, चादी जैसे अगले 10 वर्षों का आगाज हुआ। गुजरात के जयकिशन और आध्र के शकर का समागम अगले 15 वर्षों मे—सगम' 1964 तक—खूब रग लाया। बाद म भले ही य दोनों व्यावसायिकता के दलदल मे फस गए हो, नगीना (1950) आवारा (1951), दाग (1952) पतिता (1954) (मिट्टी से खेलते हो बार-बार किस लिए) बूट पालिश (1954) सीमा, श्री 420 (1955) चोरी चोरी बसत बहार (1956) छोटी बहन, अनाडी (1959) दिल अपना और प्रीत पराई (1960) की सज्ञक यह जोडी फिर भी सिने सगीत के 5 महानों—बोराल, अनिल विश्वास, नौशाद, सचिन देव शकर-जयकिशन मे गिनी जाएगी। आस का पछी, जगली, प्रोफेसर, जब प्यार किसी से होता है, आई मिलन की वेला, स लव इन टोकियो तक आधुनिकीकरण और मलोडी का एक तवाजुन फिर भी उनके सगीत मे रहा। लकिन बाद मे वे वही करने लगे जिसका मजाक व उडा चुके थे—यानी टीन कनस्तर पीट-पीटकर गला फाडकर चिल्लाना 1966 मे आई तीसरी कसम' क बाद से इन दोनो ने कोई महत्व का काय किया हो तो मुझे उसका इल्म नही है।

लेकिन स्वणयुग के अवसान की बात करने स पहले जरूरी है कि हम कुछ उन सगीतकारों की चर्चा भी कर ल जो छा जाने की स्थिति म अले ही न रहे हो

लेकिन जिनका छोटा बडा योगदान अविस्मरणीय है। 1942 मे आए वसत देसाई का कृतित्व भारतीय सगीत की पवित्रता का एक अध्य था। दो आँखें झनक-झनक स लेकर आशीर्वाद स लेकर गुडडा तक सिन सगीत के इस महकते गजरे की सुगध फैलती रही। दुर्भाग्य इस प्रतिभाशाली सगीतकार का पीछा करता रहा है—य शब्द लता ने सज्जाद के बारे म कहे थे। काश, सगदिल' (य हवा य रात य चादनी) रुस्तम सोहराब (फिर तुम्हारी याद आई ए सनम) इत्यादि क सजन के साथ याय हो सकता। भ्रष्ट होती जनरुचि और गलाकाट व्यावसायिकता के शिकार खय्याम और जयदेव भी हुए। वो सुबह कभी तो आएगी, फिर न कीजेगा मरी गुस्ताख निगाही का गिला जीत ही लेंग बाजी हम तुम जान क्या ढूढती रहती है बहारा मरा जीवन भी सँवारा के खय्याम और अभी न जाओ छोडकर अल्ला तेरो नाम मांग म भर ल रग मखोरी तू बादल म बीजुरी, (लता, रशमा और शेरा माड पीलू और दश) के जयदव गुण म किसी से उन्नीस नही है—गुण न हिरानो, गुणग्राहक हिरानो है।

व्यवसायिकता की आँधी म भी जो अपनी निष्ठा के दिए जलाए रह सके उनम स्वर्गीय रोशन और स्वर्गीय मदनमोहन प्रमुख है। आम श्रोताओ म रोशन अपनी कव्वालियो के लिए जान गए लेकिन बावरे नैन (1948) नौ बहार (एरी मैं तो प्रेम दीवानी) हीरा-मोती बरसात की रात ताजमहल ममता अनोखी रात (1967) इत्यादि मे अपने काम के लिए उन्होन पारखियो की प्रशसा भी प्राप्त की। मदनमोहन म रोशनवाली विविधता नही थी लेकिन अपने क्षेत्र और विशेषकर गजलो के मामल म वे बादशाह थे। मदहोश देख कबीरा रोया आशियाना, गेट वे आफ इण्डिया आपकी परछाइया, वो कौन थी अनपढ, अदालत, आखिरी दाव के मदनमोहन को भूलना मुश्किल है। बहाना का जारे बदरा बरी जा शास्त्रीय रग वाले हमारे फिल्मी गीतो म अपना अलग रग रखता है। 'मौसम म दिल ढूढता है फिर वही का आर्केस्ट्रेशन एक बमिसाल हाई वाटर माक है।

1951 मे आसमान से शुरू हुए ओकारनाथ प्रसाद नैयर की मौलिकता किसी भी बनी-बनाई श्रेणी म बधने से इकार करती है। ठेठ सडक छाप और नितात विशिष्ट का प्रयोगशील नयर ने ऐसा सम्मिश्रण किया कि उनके सगीत ने तांगे वाल स लेकर शास्त्रीयता के ग्राहक तक सभी को मोहा। मेरी जान तुमपे सदके, गाने का उदाहरण लीजिए बासुरी पर एक चालू टुकडा बजता है उसके एकदम बाद सितारा पर शास्त्रीय जमजमा और फिर सारगी पर एक टुकडे के साथ हम गीत पर लौटत हैं। आओ हुजूर तुमको य है रेशमी जुल्फो का अधेरा जाइय आप कहाँ जाएँग, आदि गाने सुनिये और सिर धुनिय।

जब मौलिकता की बात चले तो सलिल चौधरी का जिक्र न हो यह असम्भव है। 1953 मे दो बीघा जमीन स हरियाल सावन की तरह झूम कर छानेवाला

यह अनूठा कलाकार नौकरी, मधुमती, उसने कहा था छाया, आनन्द और रजनीगन्धा स गुजरता हुआ छोटी सी बात तक पहुचा है। श्रेष्ठ फिल्मी गीतो की छोटी से-छोटी फेहरिस्त मे भी श्रो सजना, बरखा बहार आई (परख 1960) को शामिल करना ही होगा।

कम ही लोग यह जानते होगे कि एन० एन० त्रिपाठी 1935 म लखनऊ से सरस्वती देवी के सहायक के रूप मे साथ आए थे और पिछल 41 वर्षो स विभिन्न रूपा म फिल्मी जगत की सेवा करत आए है। जनम-जनम के फेरे (जरा सामने ता आओ छलिये) रानी रूपमती, लालकिला, सगीत सम्राट तानसेन इत्यादि म उनका सगीत उल्लेखनीय था। एन० दत्ता का लाल-लाल गाल कभी खूब बजा था। यदि मै गलती पर नही हूँ तो ग्यारह हजार लडकिया (दिल की तमन्ना थी मस्ती मे) भी उनकी फिल्म थी। चित्रगुप्त ने 1946 म त्रिपाठी क सहायक के रूप मे काम शुरू करके भाभी ऊजक (तेरी दुनिया से दूर चले होके मजबूर) आपेरा हाउस, बरखा (नडपाओगे, तडपालो) आकाशदीप (दिल का दिया जला क गया) मे प्रसिद्धि प्राप्त की। पण्डित रविशकर (धरती के लाल, अनुराधा और गोदान के लिए तो अली अकबर आधियाँ (है कही पर शादमानी) के लिए याद किए जाते रहेगे। दायरा (देवता तुम हो मेरा सहारा) और शोखियाँ (दिल का चमन मिटा दिया इस दिल बेकरार ने) के लिए जमाल सेन आए (जि दा हू इस तरह न आँखो म आँसू) के राम गागुली और सरदार (बरखा की रात म हे हो हा) के लिए जगमोहन की भी चर्चा होगी।

थोडा और पीछे लौटें तो कमल दास गुप्ता—जवाब बलाय लू मैं उस दिल की य दुनिया तूफान मेल, मेघदूत ओ बरखा के पहले बादल और बूला-सी रानी—भतहरि च दा देश पिया के जा मोरा धीरे स घूघट हटाय पिया (अमीर बाई कर्नाटकी) दे द री मय्या पिगला (सुरेन्द्र अमीर बाई), जोगन—क दशन हान है। फिल्मो मे जैसे भजन जोगन और मीराबाई—नरश भट्टाचार्य क सगीत निर्देशन मे सुब्बालक्ष्मी—मे आए वैसे फिर नही आए। सरदार मलिक का भी एक जमाना था—ठोकर का ए गमदिल क्या करूँ, बहुत दिल क्या करूँ और सारगा का सारगा तरी याद म उनकी कला के नमून हैं।

जनरुचि की पक्की पकड के सहारे एक समय टाप पर पहुचन वाला म हमन्त कुमार का गिनना जरूरी है। बीन पता नही नागपर क्या असर डालती है। नागिन (1954) के तन डोले मन डोल ने दशको को जरूर मुग्ध कर दिया था लकिन पिछल दस वर्षो से चल रही आँधी ने बीस साल बाद (के बावजूद) उनके भी पाँव उखाड दिए। घूघट गुमराह दो बदन काजल, जैसी सफलताओ के बावजूद यही हाल रवि का हुआ।

और यह आपाधापी, यह आँधी यह चलती का नाम गाडी ही पिछले दस

पद्रह वर्षों से हमारे हिन्दी फिल्म-सगीत का पर्याय हैं। लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल, कल्याणजी आनन्दजी, सोनिक ओमी या राहुल देव बम्मन मे योग्यता की कमी नही है। मिलन दा रास्त अमर प्रेम आँधी का सगीत किसी से कम नही है। दिल ने फिर याद किया नक-सी लहराई है, ये जीवन है इस जीवन का यही है रगरूप, दम मारो दम, ये शाम मस्तानी आदि गाने फिल्म सगीत के किसी भी दौर की शोभा बन सकते थे। लेकिन एक पछी से घना नही बसता। सवाल ट्रेण्ड का है, अपवादो का नही और ट्रेण्ड यह है कि जाहिल फिनेशर और वितरक और सगीत का क ख ग न जानने वाले हीरो-हीरोइन और उनके चमचे यह डिक्टेट करते हैं कि कौन-सा गाना, कौन सा सगीत निर्देशक, कौन सा गायक चलेगा और इस माहौल मे जिसने भी (सपन-जगमोहन बेगाना फिर वो भूली-सी याद आई है, तेरी तलाश मे तेरी तलाश मे खो दिए सनम, पिछले कई जनम गुस्ताखी माफ चेतना) कुछ मौलिक करने देने की कोशिश की वह पिछड गया और जिसने तिकडम नकल, चोरी, बेशर्मी, बेगैरती, और चादी के जूते से काम लिया वह छा गया। न नये गायक आ पा रहे हैं न नये सगीत निर्देशक। एक एक सगीत निर्देशक 40-40 50-50 फिल्मो मे एक समय मे सगीत देने का दम भर रहा है।

नौशाद जसा गुणी आदमी चाहकर भी तलत को नही गवा सकता। जगजीत सिंह राजेन्द्र मेहता जैसी आवाजो के लिए गुजाइश नही है। चार घण्टो मे ही रिहर्सल रिकार्डिंग सब निबटाना होता है। नामधारी सगीत-निर्देशक धुनो की दलाली करता व अरेजर सगीत निर्देशन। पाश्व सगीत के लिए किसी को फुसत नही है। कभी कभी जसा अपवाद कम कभी कभी ही आता है। सगीत सट्टा है, रकेट हैं, शोर है, श्रोता अनक्रिटिकल है, असहाय है।

तात्पय यह नही है कि हम पुराने की ही जुगाली करते रहे। ऊपर के सर्वेक्षण मे आपने देखा कि फिल्म सगीत के स्वणयुग के दौरान हर मोड पर नये प्रयोग किए गए थे। हम नया माग नया सराहे लेकिन स्तर और मौलिकता के साथ। बीच-बीच मे राजेश रोशन (जूली) जैसी प्रतिभाएँ अब भी आती है लेकिन फिल्म-जगत की भेड-चाल और श्रोताओ मे अच्छे बुरे की तमीज का अभाव उन्हे भी शीघ्र ही अपनी गिरफ्त मे लेकर हल्ले-गुल्ले के सौदागर बना देते हैं।

हर पीढी को वह सगीत मिलता है जिसकी वह अधिकारी होती है। मेरी पीढी के हिस्से मे स्वणयुग आया था। क्या आज की पीढी भी अपना दाय मागेगी ?

□□□